पुस्तक-प्रकाशन

[सर स्टैनले अनविनके "ट्रुथ अबाउट पब्लिशिंग" का संक्षिप्त अनुवाद]

अनुवादक

मुनीश सक्सेना

बनारस

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्य ६)

प्रथम सस्करण सवत् २०१४

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस)

मुद्रक—ओम्‌प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ५०१९-१३

पुस्तकके सम्बन्धमें

प्रस्तुत पुस्तक सर स्टैनले अनविन लिखित अंग्रेजी पुस्तक "ट्रुथ अबाउट पब्लिशिंग"का हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद करनेमें बिलकुल स्वतन्त्रतासे काम लिया गया है। मूल ग्रन्थके ऐसे प्रकरण छोड़ दिये गये हैं जो हिन्दी पुस्तक-प्रकाशकोंके लिए अनावश्यक है। कई जगह संक्षेप भी किया गया है। इस पुस्तकका अनुवाद प्रकाशित करनेका मुख्य उद्देश्य यह है कि हिन्दी प्रकाशकोंको समुन्नत विदेशी प्रकाशको-की प्रकाशन-पद्धतिका ज्ञान हो जाय, वे अपनी त्रुटियाँ समझें, पुस्तक-प्रकाशनका व्यवसाय सुन्दर ढंगसे चलानेका अनुभव प्राप्त करके उसमें सफलता प्राप्त करें और अपने व्यवसायको भी विदेशोंकी भाँति समुन्नत बनानेमें समर्थ हो सके। हमारा विच्छृंखलित प्रकाशन-व्यवसाय किस प्रकार समुत्थित हो सकेगा, इसका पूर्ण आलोक इस ग्रन्थसे भासित होगा। इस पुस्तकमें हम यह देखेंगे कि विदेशी प्रकाशकोंकी पहले कितनी दयनीय दशा थी, उन्हें किन-किन कठिनाइयों-का सामना करना पड़ा था और किन-किन उपायोंका अवलम्बन करके वे अपनेको संघटित और सुदृढ़ बनाकर आज इस प्रकार ठोस स्थितिमें होकर संसारमें यशस्वी हो रहे हैं। आशा है, हिन्दी प्रकाशक इसे चावसे पढ़ेंगे और पूरा लाभ उठाकर हमारे प्रयत्नको सफल करेंगे।

—प्रकाशक

विषय-सूची

लेखकोंके प्रति

प्रकाशक न तो सबके सब निःस्वार्थ परोपकारी होते है और न पक्के धूर्त्त। इसी प्रकार वे बहुधा न तो करोडपति सेठ होते हैं, न कंगाल भिखारी ही। उनकी दशा समझनेके लिए आप यह समझ लीजिये कि वे साधारण मनुष्योकी ही तरह होते हैं जो एक असाधारण रूपसे कठिन व्यापार द्वारा अपनी जीविका कमानेका प्रयत्न करते हैं। प्रकाशक बन जाना तो आसान है परन्तु अधिक समयतक प्रकाशक बने रहना बहुत कठिन है; दूसरे उद्योगो और पेशोंकी अपेक्षा इस व्यापारमे शिशुकालमे मृत्यु कही ज्यादा होती है।

याद रखिये कि प्रकाशकको जबतक आपकी रचनासे दिलचस्पी नही होगी तबतक उसे आपमे भी कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती—चंचल और सुन्दर स्त्रियोकी बात छोड़ दीजिये, लेकिन ऐसी स्त्रियोंको शायद ही कभी सर्वोत्तम रचनाका श्रेय प्राप्त होता हो। इसलिए आप अपनी पाण्डुलिपिको अपना दूत समझिये और प्रकाशकसे मिलनेका अनावश्यक दुराग्रह करके अपनी पाण्डुलिपिका महत्त्व कम न कीजिये। यदि प्रकाशकको आपकी रचना रुचिकर प्रतीत होगी तो वह आपको शीघ्र ही बुलवा भेजेगा।

आपकी पाण्डुलिपि निःसन्देह एक सर्वोत्कृष्ट रचना है परन्तु आप यह बात प्रकाशकसे स्वयं कभी न कहिये, क्योंकि उसके पास जो बुरीसे बुरी पाण्डुलिपियाँ भी आयी हैं उनके बारेमें भी उनके लेखकोंने शायद यही बात कही होगी। अपूर्व प्रतिभाशाली रचनाओका बहुधा ढिंढोरा नहीं पीटा जाता और प्रकाशक ऐसी ही रचनाओंकी प्रतीक्षामें रहता है।

आपकी पाण्डुलिपि आपके बच्चेके समान है, कदाचित् वह आपकी एकमात्र सन्तान हो। परन्तु किसी बडे और प्रसिद्ध प्रकाशकको प्रायः प्रतिदिन प्रातःकाल अपने द्वारपर इस प्रकारके लगभग एक दर्जन बच्चोंको देखनेका अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त कई हजार इनसे बड़े

बच्चे उसके गोदाममें और उसके सारे दफ्तर और प्रेसमें भरे पड़े हैं और उनमेंसे हर एक यह चाहता है कि प्रकाशक अपना सारा ध्यान उसीकी ओर दे।

इसलिए प्रकाशक लाख चाहनेपर भी आपकी पाण्डुलिपिकी ओर केवल सीमित ध्यान ही दे सकता है। प्रकाशकका जितना भी समय आप अनावश्यक मुलाकातमे या टेलीफोनपर झुंझला देनेवाली बात-चीतमे व्यर्थ खर्च करते हैं उतना ही कम समय वह आपकी रचना-पर विचार करनेमे लगाता है, जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

यदि आप चाहते हैं कि प्रकाशकपर आपकी रचनाका अच्छा प्रभाव पडे तो उसकी पाण्डुलिपि तैयार करनेकी ओर अधिक ध्यान दीजिये और प्रकाशकको उसे छोटे-छोटे अंशोमे देखनेके लिए न दीजिये। उसके वाहरी रूपका इतना महत्त्व नहीं है परन्तु लापरवाहीसे लिखी हुई पाण्डु-लिपिका और असंगतियोंका प्रभाव अवश्य ही पडता है। प्रकाशकको इस बातसे इतनी परेशानी नहीं होती कि पृष्ठोंके कोने मुडे हुए हों जितनी इस वातसे होती है कि एक ही नाम लगातार एक ही ढंगसे न लिखा गया हो; या जैसे अंग्रेजीकी पाण्डुलिपिमे वही शब्द एक पृष्ठपर तो कैपिटल अक्षरसे आरम्भ किया गया हो और दूसरे पृष्ठपर न किया गया हो; या पहले और तीसरे अध्यायोंके तो शीर्षक हों पर दूसरे अध्यायका शीर्षक न हो; या उद्धरण गलत दिये गये हों; मतलब यह कि लेखकने अपना काम यदि लापरवाहीसे टाल दिया हो तो इसका प्रकाशक और प्रकाशकके प्रूफ-रीडरपर बहुत ही बुरा प्रभाव पडता है। प्रकाशकसे लम्बीसे लम्बी मुलाकात या अच्छेसे अच्छे परिचय-पत्रकी अपेक्षा पाण्डुलिपिको तैयार करनेमें थोडा-सा समय अधिक लगाना लेखकके हितमें कहीं ज्यादा उपयोगी है।

यह बात ध्यानमें रखिये कि दूसरे मनुष्योंकी तरह प्रकाशक भी गलती कर सकते हैं। मेरे विचारमें, वे सब चाहते है कि वे गलतियोंसे मुक्त हों, परन्तु वे सब जानते हैं (और यह बात स्वीकार करते हैं)

कि वे गलतियोंसे मुक्त नहीं है। प्रकाशकके हिसाब-किताबमें "प्रकाशनका गलत अनुमान" इतना महँगा पडता है कि वह इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। यदि कोई प्रकाशक आपकी पाण्डुलिपि वापस कर दे तो यह समझ लीजिये कि यह एक मनुष्यका निर्णय है, गलत भी हो सकता है; और दूसरे प्रकाशकको आजमाइये। पहले प्रकाशकको डरा-धमका कर यह बतानेपर विवश न कीजिये कि उसने आपकी पाण्डुलिपि क्यों वापस कर दी। (अधिकतर उदाहरणोंमें) कोई मूर्ख प्रकाशक ही होगा जो आपको इसका कारण बता दे, क्योंकि यद्यपि हर लेखक पूरा जोर देकर आश्वासन देता है कि मै अपनी आलोचना सुननेको भी तैयार हूँ परन्तु शायद सौमे एक लेखक ऐसा होता हो जो अपनी रचनाके सम्बन्धमें प्रशंसाके अतिरिक्त और कुछ सुनना चाहता हो।

यदि प्रकाशक आपकी पाण्डुलिपि स्वीकार कर ले तव भी याद रखिये कि लेखकके पुरस्कारका निर्णय अन्तिम रूपसे पाठकगण ही करते हैं, यह भी याद रखिये कि जनताका कोई ठीक नहीं रहता और यदि वह गंदी कहानियाँ लिखनेवाले लेखकको मुँहमाँगा पुरस्कार दे और विद्वत्तापूर्ण इतिहासज्ञ या दार्शनिकको कुछ न दे तो इसमें प्रकाशकका कोई दोष नहीं है। यदि जनता आपकी पुस्तक नहीं खरीदती तो प्रकाशक न आपके लिए लाभ कमा सकता है और न अपने लिए। इतनी सीधी-सी बात दोहरानेपर विवश होना कुछ विचित्र तो जरूर है परन्तु पुस्तकको छापकर तैयार करनेकी लागत और प्रकाशकको पुस्तक-विक्रेताओंसे जो कुछ मिलता है उसका अन्तर ही लाभ होता है। यदि पुस्तकको उसकी लागतपर बेच दिया जाय तो लाभ नहीं हो सकता। लेकिन आश्चर्यकी बात है कि अनेक लेखक समझते हैं कि ऐसा करनेसे भी लाभ हो सकता हैं। वास्तवमें वे मान बैठते हैं कि अंकगणितके नियम प्रकाशकोंपर लागू नहीं होते।

हर चमकनेवाली चीज सोना नहीं होती। बहुधा सबसे अधिक

प्रभावकारी विज्ञापन वह नहीं होता जो सबसे भडकीला होता है, जैसे बहुधा सबसे कुशल डाक्टर वह नही होता जिसका साइन-बोर्ड सबसे बडा होता है। किसी पुस्तकको दुनियाके कोने-कोनेमे विस्तृत रूपसे वितरित करनेका आदि और अन्त दो समाचारपत्रोंके साप्ताहिक विशेषांकोमे विज्ञापन दे देनेसे नही हो जाता। यह काम एक पूरी शृंखलाके समान है जिसे एक-एक कडी करके पूरा करना पडता है। किसी पुस्तकको दस या बारह सप्ताहतक बेच लेना तो आसान बात है पर किसी पुस्तकको दस या बारह वर्पतक बेचते रहना बिल्कुल ही दूसरी बात है। अपना प्रकाशक चुनते समय आपको ये बाते ध्यानमे रखनी चाहिये परन्तु इनके अतिरिक्त और भी बाते है। क्या वह **सचमुच** अपने कामको समझता है? यदि वह समझता है तो आप पूरे विश्वासके साथ उसे काम सौंप सकते है; यदि वह नही समझता तो उसके पास मत जाइये। क्या उसकी आर्थिक दशा अच्छी है?—इस विपयमे किसी प्रकारका संदेह बाकी न रहना चाहिये। यदि उसकी आर्थिक दशा अच्छी है तो उसकी कडीसे कडी शर्तोंको भी स्वीकार करना आपके लिए एक दिवालिया कम्पनीकी आकर्षकसे आकर्षक शर्तोंको स्वीकार करनेकी अपेक्षा अधिक लाभदायी हो सकता है। १० प्रतिशत रायल्टी जो हमेशा निश्चित समयपर मिल जाय उस २० प्रतिशत रायल्टीसे अच्छी है जो कभी वसूल ही न हो।

सबसे अधिक स्थायी प्रकाशक बहुधा वे होते हैं जो बहुत-सी पुस्तके प्रकाशित कर चुके हो और लगातार फायदेपर किताबे बेचते रहे हो। ऐसे प्रकाशकोको अपना व्यापार जमानेके लिए जुआ खेलनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

अपना प्रकाशक चुन लेनेके बाद, उसके साथ पूरा सहयोग कीजिये, परन्तु उसे यह सिखानेका प्रयत्न न कीजिये कि उसका काम क्या है। जो काम आप एक पोस्ट कार्ड या पत्र लिखकर उतनी ही अच्छी तरह या शायद अधिक प्रभावशाली ढंगपर कर सकते हैं उसके लिए प्रका-

शकको टेलीफोन करना उसके साथ सहयोग करना नहीं बल्कि उसके काममें निश्चय ही बाधा डालना है। जो काम नीचेके विभागोंका है उसके लिए संस्थाके प्रधान व्यवस्थापकको परेशान न कीजिये। बहुधा प्रकाशक न तो अच्छे शार्टहैंड-टाइपिस्ट ही होते हैं, न टेलीफोन आपरेटर, परन्तु शायद ही कोई दिन ऐसा जाता हो जब लेखक उससे यह काम लेनेका (और बिल्कुल व्यर्थ ही) प्रयत्न न करते हों। यदि टेलीफोनपर लम्बे आदेश देना आवश्यक हो जाय (बादमें इन आदेशोंको पत्र द्वारा भी भेज देना चाहिये), तो यह अधिक बुद्धिसंगत होगा कि किसी शार्टहैण्ड-टाइपिस्टसे उन्हें लिख लेनेको कहिये, बजाय इसके कि आप यह आशा करें कि संस्थाका प्रधान व्यवस्थापक अपना सर खपाकर उनको लिखे। संस्थाके प्रधान व्यवस्थापकसे ही बात करनेका आग्रह करने और उससे ही यह कहनेके बजाय कि वह टेलीफोन करके अपने किसी विशेष विभागसे आपके लिए कोई इच्छित सूचना प्राप्त कर दे, आप सीधे उस विभागसे वह सूचना ज्यादा जल्दी प्राप्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार आप घोड़ेको पानीतक ले तो जा सकते है पर उसे पानी पिला नही सकते, उसी प्रकार प्रकाशक नयी पुस्तकको पुस्तक-विक्रेताके पास ले तो जा सकता है पर उसे खरीदनेपर बाध्य नहीं कर सकता। प्रतिवर्ष तो हजारों नयी पुस्तकें प्रकाशित होती हैं और पुस्तक-विक्रेता अपने आवश्यकतानुसार केवल कुछ ही पुस्तकें अपने पास रख सकते है। यदि आपके मित्र इस बातपर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि आपकी पुस्तक उनके स्थानीय पुस्तक-विक्रेताके यहाँ प्राप्य नही है तो कोई कारण नही है कि आप भी आश्चर्य प्रकट करें।

यदि कोई अति-प्रचलित पुस्तक या किसी पुस्तकका सस्ता संस्करण रेलवे स्टेशनोंकी बुकस्टालोंपर प्राप्य है तो यह कोई कारण नहीं है कि आपकी पुस्तक भी वहाँ प्राप्य हो। केवल किसी बुकस्टालपर रख देनेसे ही कोई पुस्तक अति-प्रचलित पुस्तक नहीं हो जाती; अधिक सम्भावना इस बातकी है कि वह कुछ दिनोंतक गर्द-धूल खानेके बाद रद्दी किताबोंके

स्टाकमें पहुँच जाय। रेलवे बुकस्टालोंके मालिक सभी नयी पुस्तकोंको देखते हैं और वे ही यह बात सबसे अच्छी तरह समझ सकते हैं कि वे कौन-सी पुस्तक बेच सकते हैं और कौन-सी नहीं और यदि वे आपकी पुस्तक स्वीकार करनेसे इन्कार कर दें तो ९९ प्रतिशत उदाहरणोंमें समझ लेना चाहिये कि उनका निर्णय ठीक ही है।

इंग्लैण्डमें बड़े प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की जानेवाली सभी नयी पुस्तकें प्रकाशनसे पहले लन्दनके पुस्तक-विक्रेताओंको दिखायी जाती हैं और प्रकाशनसे पहले या प्रकाशनके शीघ्र बाद दूसरे प्रान्तोंके प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओंको भी दिखायी जाती हैं। यदि किसी खास पुस्तक-विक्रेताके कर्मचारीसे बात करनेपर आपको यह मालूम हो कि उसने कभी आपकी पुस्तकके बारेमें सुना भी नहीं, तो यह आपके प्रकाशककी लापरवाहीका प्रमाण नहीं है। बल्कि इसके विपरीत, इसका एक मतलब तो यह हो सकता है कि जब आपकी पुस्तक "ग्राहकोंके पास भेजी गयी थी" तो उस पुस्तक-विक्रेताने उसे अस्वीकार कर दिया था, या इसका दूसरा मतलब यह भी हो सकता है कि वह कर्मचारी पुस्तक-व्यापारसे सम्बन्ध रखनेवाली पत्रिकाओंमें नयी पुस्तकोंकी सूचीको उतने ध्यानसे नहीं देखता रहा है जितना कि उसे चाहिये।

परन्तु यह अवश्य सम्भव होना चाहिये कि कोई भी पुस्तक-विक्रेता या बुकस्टाल आर्डर देनेपर आपकी पुस्तक फौरन मँगवा सके और यदि इसमें कोई कठिनाई हो तो आपको अपने प्रकाशकको फौरन सूचना देनी चाहिये।

इस तथ्यके विपरीत आम धारणा कुछ भी हो, परन्तु नयी पुस्तकें बेचना प्रायः कभी भी लाभदायी व्यापार नहीं होता, बहुत ही थोड़े लोग नयी किताबें खरीदते हैं। शायद आपने इस बातपर ध्यान दिया होगा कि आपके ही कितने मित्र और परिचित लोग निःसंकोच आपकी पुस्तकें मुफ्त ही "हथिया लेनेकी कोशिशमें रहते हैं।"

अपने स्वाभिमानको (या अपनी तिरस्कारकी भावनाको!) एक

क्षणके लिए भूलकर आपको उनसे साफ-साफ कह देना चाहिये कि यदि वे पुस्तकको इतना महत्त्व नहीं देते कि उसे खरीदकर पढ़े तो अच्छा होगा कि वे उसे पढ़ें ही नहीं।

यह पुस्तक लिखनेमें मेरा प्रयत्न यह रहा है कि विवादग्रस्त समस्याओंपर जहाँतक सम्भव हो सके, निष्पक्ष रूपसे प्रकाश डालूँ और हमेशा मेरा लक्ष्य विरोधी तथ्योंके बजाय उन बातोंका पता लगाना रहा है जिनपर विरोध न हो।

साहित्यका बढ़ता हुआ व्यवसायीकरण—जो कदाचित् अनिवार्य है—लेखकों और प्रकाशकोंके बीच अधिक सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेमें सहायक नहीं हो रहा है, इसका आधार यह गलत धारणा है कि पाण्डुलिपियाँ और पुस्तकें केवल क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ हैं ; वे जीवित नहीं, मृत वस्तुएँ हैं। इस धारणामें लेखक और उसकी रचनाके विचित्र और वास्तवमें पिता-पुत्रकेसे सम्बन्धपर उचित ध्यान नहीं दिया गया है, और इसी सत्यका ज्ञान होना प्रकाशकमें बुद्धिमत्ताका पहला चिह्न है।

मुझे आशा है कि प्रकाशकोंकी कठिनाइयाँ बतानेके उत्साहमें मैंने लेखकोंके प्रति असहानुभूतिका प्रदर्शन नहीं किया है। मैं सचाईके साथ यह बात कह सकता हूँ कि यदि मैं लेखकोंके दृष्टिकोणको इतनी स्पष्टतासे न देखता होता तो शायद यह पुस्तक लिखना बहुत ही आसान हो जाता।

मुख्यतः अनुभवहीन लेखकोंको प्रकाशनके गूढ़ रहस्य समझनेमें सहायता देने और इस प्रकार उनके कार्यको सरल बना देनेकी आशामें ही कई नये लेखकोंके कहनेपर मैंने पुस्तक-प्रकाशनका यह संक्षिप्त विवरण लिखनेका काम स्वीकार किया।

यदि मुझे अपने इस प्रयासके द्वारा नये लेखकोंका मार्ग सरल बनानेमें किंचिन्मात्र भी सफलता प्राप्त हुई और यदि इस पुस्तकके द्वारा लेखकों और प्रकाशकोंके बीच अधिक रुचिकर और अधिक समझदारीके सम्बन्ध स्थापित करनेमें सहायता मिली तो मैं अपने आपको कृतार्थ समझूँगा।

स्टाकमें पहुँच जाय। रेलवे बुकस्टालोके मालिक सभी नयी पुस्तकोको देखते है और वे ही यह बात सबसे अच्छी तरह समझ सकते है कि वे कौन-सी पुस्तक बेच सकते है और कौन-सी नही और यदि वे आपकी पुस्तक स्वीकार करनेसे इन्कार कर दे तो ९९ प्रतिशत उदाहरणोमे समझ लेना चाहिये कि उनका निर्णय ठीक ही है।

इंग्लैण्डमे बड़े प्रकाशको द्वारा प्रकाशित की जानेवाली सभी नयी पुस्तके प्रकाशनसे पहले लन्दनके पुस्तक-विक्रेताओको दिखायी जाती है और प्रकाशनसे पहले या प्रकाशनके शीघ्र बाद दूसरे प्रान्तोके प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओको भी दिखायी जाती है। यदि किसी खास पुस्तक-विक्रेताके कर्मचारीसे बात करनेपर आपको यह मालूम हो कि उसने कभी आपकी पुस्तकके बारेमें सुना भी नही, तो यह आपके प्रकाशककी लापरवाहीका प्रमाण नही है। बल्कि इसके विपरीत, इसका एक मतलब तो यह हो सकता है कि जब आपकी पुस्तक "ग्राहकोके पास भेजी गयी थी" तो उस पुस्तक-विक्रेताने उसे अस्वीकार कर दिया था, या इसका दूसरा मतलब यह भी हो सकता है कि वह कर्मचारी पुस्तक-व्यापारसे सम्बन्ध रखनेवाली पत्रिकाओमे नयी पुस्तकोकी सूचीको उतने ध्यानसे नही देखता रहा है जितना कि उसे चाहिये।

परन्तु यह अवश्य सम्भव होना चाहिये कि कोई भी पुस्तक-विक्रेता या बुकस्टाल आर्डर देनेपर आपकी पुस्तक फौरन मँगवा सके और यदि इसमे कोई कठिनाई हो तो आपको अपने प्रकाशकको फौरन सूचना देनी चाहिये।

इस तथ्यके विपरीत आम धारणा कुछ भी हो, परन्तु नयी पुस्तकें बेचना प्राय. कभी भी लाभदायी व्यापार नही होता; बहुत ही थोडे लोग नयी किताबे खरीदते है। शायद आपने इस बातपर ध्यान दिया होगा कि आपके ही कितने मित्र और परिचित लोग निःसंकोच आपकी पुस्तकें मुफ्त ही "हथिया लेनेकी कोशिशमें रहते है।"

अपने स्वाभिमानको (या अपनी तिरस्कारकी भावनाको!) एक

क्षणके लिए भूलकर आपको उनसे साफ-साफ कह देना चाहिये कि यदि वे पुस्तकको इतना महत्त्व नहीं देते कि उसे खरीदकर पढ़ें तो अच्छा होगा कि वे उसे पढ़ें ही नहीं।

यह पुस्तक लिखनेमें मेरा प्रयत्न यह रहा है कि विवादग्रस्त समस्याओंपर जहाँतक सम्भव हो सके, निष्पक्ष रूपसे प्रकाश डालूँ, और हमेशा मेरा लक्ष्य विरोधी तथ्योंके बजाय उन बातोंका पता लगाना रहा है जिनपर विरोध न हो।

साहित्यका बढ़ता हुआ व्यवसायीकरण—जो कदाचित् अनिवार्य है—लेखकों और प्रकाशकोंके बीच अधिक सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेमें सहायक नहीं हो रहा है. इसका आधार यह गलत धारणा है कि पाण्डुलिपियाँ और पुस्तकें केवल क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ हैं ; वे जीवित नहीं, मृत वस्तुएँ हैं। इस धारणामें लेखक और उसकी रचनाके विचित्र और वास्तवमें पिता-पुत्रकेसे सम्बन्धपर उचित ध्यान नहीं दिया गया है, और इसी सत्यका ज्ञान होना प्रकाशकमें बुद्धिमत्ताका पहला चिह्न है।

मुझे आशा है कि प्रकाशकोंकी कठिनाइयाँ बतानेके उत्साहमें मैंने लेखकोंके प्रति असहानुभूतिका प्रदर्शन नहीं किया है। मैं सचाईके साथ यह बात कह सकता हूँ कि यदि मैं लेखकोंके दृष्टिकोणको इतनी स्पष्टतासे न देखता होता तो शायद यह पुस्तक लिखना बहुत ही आसान हो जाता।

मुख्यतः अनुभवहीन लेखकोंको प्रकाशनके गूढ़ रहस्य समझनेमें सहायता देने और इस प्रकार उनके कार्यको सरल बना देनेकी आशासे ही कई नये लेखकोंके कहनेपर मैंने पुस्तक-प्रकाशनका यह संक्षिप्त विवरण लिखनेका काम स्वीकार किया।

यदि मुझे अपने इस प्रयासके द्वारा नये लेखकोंका मार्ग सरल बनानेमें किंचित्मात्र भी सफलता प्राप्त हुई और यदि इस पुस्तकके द्वारा लेखकों और प्रकाशकोंके बीच अधिक रुचिकर और अधिक सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करनेमें सहायता मिली तो मैं अपने आपको कृतार्थ समझूँगा।

दो बातें और। यदि किसी प्रकाशकको आपपर इतना विश्वास रहा हो कि वह आपकी आरम्भकी और कदाचित् अपरिपक्व रचनाओंके प्रकाशनमें अपना धन खोता रहा है तो यह आपके लिए उचित न होगा कि आप अपनी पहली सफल रचना, जो आसानीसे बिक सकती हो, उस प्रकाशकको दिखाये बिना ही किसी दूसरेको दे दें या यह आशा करें कि वह दूसरे प्रकाशकोंके साथ होड़ लगाकर आपकी उस रचनाके लिए बोली लगाये, जब कि उन दूसरे प्रकाशकोंने आपकी ख्याति स्थापित करनेमें एक कौड़ी भी खर्च नहीं की। यह बात और भी अनुचित है कि आप किसी साहित्यिक प्रतिनिधि (लिटरेरी एजेण्ट) की सहायतासे उसी थालीमें छेद करें जिसमें आप खाते रहे हैं।

अन्तमें, अपना समझौता (काण्ट्रैक्ट) ध्यानसे पढ़िये और याद रखिये कि प्रकाशकको भी आपसे अपने वचनपर दृढ़ रहनेकी आशा करनेका उतना ही अधिकार है जितना अधिकार आपको उससे अपने वादेको पूरा करनेकी माँग करनेका है।

पुस्तकोंके द्वारा मनुष्यके विचार आपसमें बातचीत करते हैं, पुस्तकोंके द्वारा ही संसारकी बुद्धिका विकास होता है, पुस्तकें ज्ञान-वृक्ष हैं जो बढ़कर जीवनका वृक्ष बन गयी हैं और उनकी शाखाएँ जीवनके वृक्षकी शाखाओंसे लिपट गयी हैं। मनुष्य उन दोनोंके फलोंको खाकर देवताओंके समान बन जाता है और भले-बुरेकी पहचान करने लगता है।

—सी० केगन पॉल

भूमिका

प्रकाशन, या शायद मुझे यह कहना चाहिये कि पुस्तक-प्रकाशन उससे बिलकुल भिन्न है जो अधिकांश लोग उसे स्पष्टतः समझते हैं। विश्वविद्यालयोंसे नये-नये निकले हुए नौजवानोंकी यह धारणा गलत है कि प्रकाशन ऐसे लोगोंके लिए एक हल्का-फुल्का शौकिया उद्योग है जो यह नहीं जानते कि वे क्या करना चाहते हैं लेकिन पुस्तकोंसे प्रेम करते हैं। यदि प्रकाशन एक पेशा या वृत्ति नहीं है तो वह, जैसा कि श्री रेमण्ड मार्टीमरने बहुत ही ठीक कहा था, "एक कला भी है, एक कौशल भी है और साथ ही एक व्यापार भी है," जिसके लिए कई विचित्र और अनोखी योग्यताओंका सम्मिश्रण आवश्यक है।

साहित्यिक पृष्ठभूमि तो आवश्यक है ही। प्रकाशक जिस विषयकी पुस्तकोंसे सम्बन्ध रखता है उसके साहित्यका ज्ञान बहुत महत्वपूर्ण है और उतना ही महत्वपूर्ण यह जानना है कि यह ज्ञान कहाँसे प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु इस ज्ञानसे भी अधिक महत्वपूर्ण एक चीज आवश्यक है और वह है प्रकाशनके लिए पाण्डुलिपियाँ चुननेके समय अच्छे-बुरेकी परख करनेकी क्षमता और वह गुण जिसे कोई अधिक उचित शब्द न मिलनेके कारण हम केवल स्वाभाविक अनुभूति कह सकते हैं।

फिर इसके बाद कागज, छपाई, जिल्दसाजी, ब्लाक आदिकी विस्तृत जानकारी है जिसका सम्बन्ध पुस्तकको वस्तुतः तैयार करनेसे है—यह ऐसी जानकारी है जिसका सम्बन्ध अच्छी पसन्दसे होना आवश्यक है।

परन्तु यदि प्रकाशक अपनी पसन्द की हुई और प्रकाशित पुस्तकोंके साथ न्याय करना चाहता है तो उसे अन्तमें उन्हें केवल अपने देशमें ही नहीं बल्कि सारी दुनियामें बेचनेमें सफल होना चाहिये। जिस प्रकाशकको पुस्तक-व्यापारके संगठनका ज्ञान नहीं होता उसमें एक बहुत बड़ी कमी रह जाती है। इसके अतिरिक्त, किसी छापेखानेमें कुछ समय

व्यतीत किये बिना छपाईके बारेमें उपयुक्त जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, उसी प्रकार विदेशी बाजारोंका वास्तविक ज्ञान उस समयतक नहीं हो सकता जबतक उन्हें स्वयं जाकर न देखा जाय।

इसके अतिरिक्त कुछ न्याय-सम्बन्धी जानकारी है जो प्रायः अनिवार्य है—जैसे समझौते या अनुबन्ध-पत्रका विषय तैयार करना—कापीराइटके कानूनकी कुछ जानकारी जिसका ज्ञान, यद्यपि यह बात बडी विचित्र प्रतीत होती है, बहुत ही कम वकीलोंको होता है, और मानहानि-सम्बन्धी कानूनकी थोडी-सी जानकारी (नहीं तो आपको बहुत नुकसान उठाना पडेगा)।

सारांश यह कि प्रकाशकका काम कोई सीधा-सादा काम नहीं है। पुस्तक-प्रकाशनकी सम्पूर्ण क्रिया आज उसकी अपेक्षा कहीं ज्यादा जटिल हो गयी है जितनी कि आजसे एक पीढी ही पहले थी। आज इस उद्योगमें पहलेसे कहीं अधिक परिश्रम और विस्तृत पैमानेपर विशिष्ट जानकारी तथा कार्य-कुशलताके एक उच्चतर स्तरकी आवश्यकता है।

मेरा विचार है कि यदि मैं पुस्तक-प्रकाशनकी पूरी क्रिया आदिसे अन्ततक जितने भी सरल ढंगसे सम्भव हो सके लिख दूं, जैसा कि मैंने आगेके पृष्ठोंमें करनेका प्रयत्न किया है, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। मेरा उद्देश्य प्रकाशनकी शिक्षा देना नहीं है (यह इतनी आसानीसे नहीं सीखा जा सकता!), बल्कि उन लोगोंको जानकारी प्राप्त कराना है जो इस व्यापारके बाहर हैं और विशेषरूपसे उन लोगोंको जो लेखक या पाठकके रूपमें साहित्यमें प्रेम रखते हैं।

पाण्डुलिपिका आगमन

आइये, बिलकुल आरम्भसे ही शुरू करें : पाण्डुलिपियोंके आगमनसे—प्रतीक्षित भी और अप्रतीक्षित भी—जो सफल और पुराने प्रकाशकोंके यहाँ प्रतिदिन आती रहती है, कभी-कभी तो इतनी संख्यामें कि उनका निपटारा करना असम्भव हो जाता है। यहींसे वास्तवमें काम प्रारम्भ होता है और मैं भावी लेखकोंसे यह बात बताते हुए कभी नहीं थकता। प्रकाशकके साथ लेखककी मुलाकातसे—जो कभी-कभी बड़ी लम्बी भी हो जाती है—जिसमें लेखक अपनी रचनाके गुण बखान करता है, कामका आरम्भ नहीं होता, यद्यपि आम धारणा इसी प्रकारकी है। इस प्रकारकी मुलाकातोंमें प्रायः हमेशा समय ही बर्बाद होता है। मुलाकात उस समयतकके लिए स्थगित रखना चाहिये जबतक कि प्रकाशक पाण्डुलिपिका अध्ययन न कर ले। वह अज्ञात लेखक जो पहले किसी प्रकाशन-संस्थाके मुख्य व्यवस्थापकसे मुलाकात करनेका हठ करता है अपने हितको लाभ पहुँचानेके बजाय नुकसान पहुँचाता है। पुस्तक-प्रकाशकके लिए जो सिफारिश सबसे अधिक महत्त्व रखती है वह है ऐसी पाण्डुलिपि जिसे छापकर आसानीसे बेचा जा सके और यदि आसानीसे बिकनेवाली पुस्तक न हो तो मौलिक गुणोंसे पूर्ण रचना अवश्य हो। यदि पाण्डुलिपिके विषयमें कुछ बातें समझाना आवश्यक हो तो पाण्डुलिपिके साथ ही एक पत्रमें वे बातें, जितने संक्षेपमें सम्भव हो, लिखकर भेज देनी चाहिये। यह पत्र पाण्डुलिपिके साथ उस व्यक्तिको दे दिया जायेगा या भेज दिया जायेगा जो पाण्डुलिपिको पढ़कर अपनी राय देता है और बादमें उसकी रिपोर्टके साथ लगा दिया जायेगा। इस पत्रमें ऐसे संगत तथ्योंको सारांशमें बयान करदेने की सम्भावना मिलती है जिनका प्रकाशकके निर्णयपर प्रभाव पड़ सकता है। इस बातमें कोई लाभ नहीं होगा कि लेखकका आगेका विचार है कि वह भविष्यमें एक

अपूर्व प्रतिभाशाली लेखक होगा, परन्तु यह सूचना लाभदायक हो सकती है कि लेखककी चाची उस पुस्तकको कई स्कूलों और कालेजोंमें पाठ्य-पुस्तकके रूपमें स्वीकृत करा देनेकी जिम्मेदारी लेती है।

पाण्डुलिपि भेजते समय यह बतानेसे शायद कोई लाभ नहीं कि (यदि पुस्तक प्रकाशित हुई तो!) श्री स्मिथने दैनिक अमुकमें पुस्तककी समालोचना छापनेका वादा किया है, क्योंकि दैनिक अमुकमें प्रकाशककी अधिकतर पुस्तकोंकी समालोचना यदि श्री स्मिथ द्वारा नहीं तो श्री जोन्स द्वारा छपती ही है इसलिए उसपर इस वादेका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह सूचना बहुत महत्त्वकी हो सकती है कि भारतमें लेखकके व्यापक सम्बन्ध होनेके कारण उसकी पहली पुस्तककी २,४५७ प्रतियाँ प्रकाशित होनेके छ मासके भीतर ही वहाँ बिक गयी थीं।

अब स्वयं पाण्डुलिपिको ले लीजिये। पहली और सबसे जरूरी बात तो यह है कि उसपर लेखकका नाम और पता स्पष्ट रूपसे लिखा होना चाहिये, अच्छा हो कि पता आरम्भमें और अन्तमें दोनों ही स्थानपर लिखा हो। यदि पाण्डुलिपिपर कोई आवरण-पृष्ठ चढ़ा हुआ है या किसी डिब्बेमें रखी हुई है तो उसपर भी पाण्डुलिपिका नाम और लेखकका नाम लिखा होना चाहिये। यह बात यों तो बहुत सीधी-सी मालूम होती है जिसे सब लोग जानते हैं, लेकिन प्रकाशकोंके पास जो पाण्डुलिपियाँ आती हैं उनमेंसे आधीसे ज्यादा ऐसी होती है जिनपर लेखकका पता नहीं लिखा होता और अनेकपर तो लेखकका नाम भी नहीं होता; इससे भी आश्चर्यकी बात तो यह है कि कुछमें तो पुस्तकका नाम या मुखपृष्ठ (टाइटिल) तक नहीं होता। ४ अगस्त, १९१४को जब मेरी संस्था जार्ज अलेन एण्ड अनविन लिमिटेडने जार्ज अलेन एण्ड कम्पनीकी भूतपूर्व संस्थाका व्यापार अपने हाथमें लिया तो सबसे पहले मुझे आधे दर्जनसे अधिक पाण्डुलिपियाँ ऐसी मिलीं जिनके लेखकका पता लगाना असम्भव था और जिनका कोई दावेदार भी न था।

मैं कह चुका हूँ कि लेखककी पाण्डुलिपि ही उसका सर्वोत्तम परिचय है, लेकिन यह कहते समय यह मान लिया गया है कि पाण्डुलिपिकी दशाकी ओर थोडा-सा ध्यान दिया गया है। मेरा विचार है कि कोई लेखक यह तो आवश्यक न समझेगा कि वह प्रकाशकके पास नया रेशमी हैट और नवीनतम फैशनका कोट पहनकर जाये, परन्तु अधिकांश लेखक, कमसे कम, गन्दे वस्त्रों और अस्त-व्यस्त दशामें प्रकाशकके पास जाना अनुचित अवश्य समझेंगे। प्रकाशकके पास गन्दी और उल्टी-सीधी पाण्डुलिपि भेजना, जिसकी लिखावट बुरी हो या जिसमें इतनी काट-पीट और इतने सुधार हों कि उसे पढना ही असम्भव हो जाय, गन्दे वस्त्रों और अस्त-व्यस्त दशामें जानेके ही बराबर है। कोई भी पाण्डुलिपि जो कई हाथोंसे होकर गुजरती है, गन्दी हो ही जाती है लेकिन यदि पहला और अन्तिम पृष्ठ कभी-कभी दुबारा टाइप कर दिया जाय—सभी पाण्डुलिपियोंको टाइप करवाकर भेजना चाहिये और उनकी एक कार्बन प्रति रख लेना चाहिये—तो पढनेवाला पाण्डुलिपिके प्रति पहलेसे ही कोई बुरा मत स्थापित न कर लेगा। सिद्धान्तमें तो यह सत्य है कि पुस्तकके विषय-वस्तुके अतिरिक्त पाठकको और किसी बातकी परवाह नहीं होती; परन्तु यदि पाण्डुलिपि पढनेमें कठिनाई हो तो शायद ही ऐसा कोई मनुष्य होगा, जिसपर, अनजानेमें ही सही, इस बातका कोई प्रभाव न पडे। पाण्डुलिपियोंके लिए मापदण्ड मैं बिल्कुल उपयोगिताकी दृष्टिसे निश्चित करता हूँ, अर्थात् वे जिस कामके लिए होती हैं उन्हें उसके योग्य होना चाहिये। यदि पाण्डुलिपिके [illegible] पृष्ठ सब अलग-अलग हों या वह किसी बेतुके आकारके कागजपर लिखी हो तो वह चाहे कितनी ही स्वच्छ क्यों न हो और टाइप की हुई ही क्यों न हो, उसे प्रयोग करनेवालेको [illegible] जाती है। साधारण क्वार्टो आकारका कागज साधारणतया सर्वमान्य होता है और अधिकांश उदाहरणोंमें किसी दूसरे आकारका कागज प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता न होनी चाहिये। पतले, चिकने या बहुत हल्के कागजके प्रयोगसे बचना चाहिये और हर दशामें कागजके एक ही तरफ, टाइप-

नीचेकी लकीरोंके बीचमें काफी जगह छोडकर टाइप करना चाहिये। पृष्ठोंकी संख्या १ से आरम्भ करके अन्ततक क्रमवत् डालना चाहिये परन्तु एक एक अध्यायको अलग-अलग बाँधना या नत्थी करना अधिक बुद्धि-संगत है; पूरी पाण्डुलिपिको एक ही सख्त जिल्दमें न बाँधना चाहिये क्योंकि इससे पुस्तकको पढनेमें कठिनाई होती है और पृष्ठोंको उलटनेमें उलझन होती है। यदि पूरी पाण्डुलिपिको एकमें ही सीकर उसपर चमडेकी जिल्द चढा दी जाये तो उससे मुझे उतनी ही अरुचि होगी जितनी एक भडकीले वस्त्रोंमें आभूषित छैला आदमीको देखकर होती है। मुझे पूरा विश्वास हो जायेगा कि पाण्डुलिपि उसी रूपमें सुरक्षित रखनेके लिए तैयार की गयी है।

अनेक प्रकाशन-संस्थाओंमें पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करने और उन्हे विभिन्न पाठकोंके पास भेजनेका हिसाब रखनेके कामके लिए एक कर्म-चारी अलग होता है, क्योंकि इस उत्तरदायित्वको कई आदमियोंमें विभाजित कर देनेका परिणाम अत्यन्त हानिकारक हो सकता है। इस कर्मचारीका यह काम होता है कि—

१. वह एक फार्मपर पाण्डुलिपिकी प्राप्तिकी स्वीकृति भेज दे और उसपर लिख दे कि यद्यपि पाण्डुलिपियोंके साथ हर प्रकारकी सावधानी रखी जाती है परन्तु यदि दुर्भाग्यवश वह खो जाय तो प्रकाशक उसके लिए उत्तरदायी नही है, आदि;

२. वह भेजनेवालेका नाम और पता और प्राप्तिकी तारीख लिख ले;

३. यदि पाण्डुलिपिकी वापसीके विषयमें कोई विशेष आदेश हो तो उन्हे लिख दे, जैसे रजिस्ट्रीके खर्च भरके टिकट पेशगी भेजे गये हैं कि नहीं;

४. जिस पाठकके पास वह भेजी जाय उसका नाम लिख ले,

५. जिस तारीखको पाण्डुलिपि पाठकके पास भेजी गयी और जिस तारीखको वापस आयी वह लिख ले,

६. वह अन्य विवरण भी लिख ले जैसे, एक या अधिक पाठकोंकी रिपोर्ट आ जानेके बाद संस्थाका कौन-सा भागीदार या डायरेक्टर उस पाण्डुलिपिको देखेगा; क्या पाठकका पारिश्रमिक दे दिया गया है; यदि पाण्डुलिपि पृष्ठ-संख्याका अनुमान लगानेके लिए छापेखाने भेज दी गयी है तो छापेखानेका नाम आदि ;
७. यदि पाण्डुलिपिके साथ कोई चित्र हों तो उनको कहीं अलग लिख ले क्योंकि उन्हें पाण्डुलिपि से अलग ही रखना बुद्धिमानी है।

इस ब्यौरेका ठीक होना और पूरा रहना इतना महत्वपूर्ण है कि बहुतसे प्रकाशक उस समयतक पाण्डुलिपिको हाथ भी नहीं लगाते जबतक उसके बारेमें यह सब बातें लिख न ली गयी हों। जब कोई व्यक्ति मेरे पास कोई पाण्डुलिपि छोड़ जाता है तो उसके जानेके बाद मैं पहला काम यह करता हूं कि मैं पाण्डुलिपिको सम्बन्धित विभागमें भेज देता हूं ताकि वह अपनी यात्रा ठीक स्थानसे आरम्भ कर सके; यदि मैं शामको पाण्डुलिपि अपने साथ घर ले जाना चाहता हूं तब भी मैं यही करता हूं। अत्यधिक सावधानी रखनेपर भी पाण्डुलिपियाँ इधर-उधर हो जाती हैं। एक बड़े प्रकाशकके दफ्तरमें प्रतिदिन आने-जानेवाली पाण्डुलिपियोंकी संख्याको देखते हुए, आश्चर्यकी बात यह नहीं है कि कुछ पाण्डुलिपियाँ कुछ समयके लिए इधर-उधर हो जाती हैं, बल्कि आश्चर्यकी बात तो यह है कि सुव्यवस्थित संस्थामें शायद ही कभी ऐसा होता हो कि कोई पाण्डुलिपि हमेशाके लिए खो जाय।

परेशानीका कारण अधिकतम उदाहरणोंमें यह होता है कि किसी विभागमें दो पाण्डुलिपियाँ एक ही समय ली जाती हैं—जल्दीमें कामकी अधिकताके समय ऐसा हो जानेकी सम्भावना रहती है जब दो छोटी-मोटी एक-जैसी पाण्डुलिपियाँ एक साथ बाँध दी जाती हैं। कितनी ही बार ऐसा हुआ है कि मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि पाण्डुलिपि खो गयी है और दोनों बार यही हुआ था। दोनों बार खोई हुई पाण्डु-

लिपिको खोजनेमे तीन महीनेसे अधिक समय लगा और सौसे अधिक पत्र लिखने पडे। जिस किसीके भी पास गल्तीसे पाण्डुलिपि चले जानेकी सम्भावना थी उसे पत्र लिखा गया। एक बार तो जिन सज्जनके पास पाण्डुलिपि चली गयी थी वे विदेश गये हुए थे और हमारा पार्सल और पत्र उनके वापस आनेतक बन्द ही पडे रहे। परन्तु दूसरी बार, आप विश्वास न करेंगे, जिन लेखक महोदयके पास पाण्डुलिपि भूलसे चली गयी थी उन्होने उसे जानबूझकर रख लिया और चुप होकर बैठ गये; बादमे उन्होने गर्वके साथ यह कहा कि उन्होने यह इसलिए किया था कि देखे हमें कितने दिन बाद पता चलता है!

विधिवत् उसका विवरण लिख लेनेके बाद पाण्डुलिपिको पढना होता है। इसकी विधि प्रकाशकके संघटन और पाण्डुलिपिके स्वरूपके अनुसार भिन्न होती है। कुछ प्रकाशक अपने यहाँ एक या अनेक पाठक इसी कामके लिए रखते हैं। दूसरे प्रकाशक बाहरके लोगोसे पढ़वाते है। कुछ पाण्डुलिपियोके लिए नियमानुसार "पढने"की आवश्यकता ही नही होती। यदि प्रोफेसर आइन्सटाईन "रिलेटिविटी" (Relativity) के विषयपर नयी पुस्तक लिखे तो उनके प्रकाशकको यह पता लगानेकी कि क्या इस विषयपर उनकी पुस्तक अधिकारपूर्ण होगी या उस रचनाके वैज्ञानिक गुणोके विषयमे सलाह लेने की आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार प्रकाशन-संस्थाके पुराने माने हुए लेखकों-की पाण्डुलिपियोंकी या विशेष रूपसे प्राप्त की हुई पाण्डुलिपियोकी "छानबीन करने"की आवश्यकता नहीं होती। वे बहुधा बिना किसी झंझटके स्वीकार कर ली जाती है और साधारणतया संस्थाका कोई एक मुख्य व्यवस्थापक उन्हे फौरन देख डालता है।

जिन प्रकाशकोंके यहाँ पाठक नियुक्त होता है, वहाँ पाण्डुलिपियोंको छाँटनेका भार उसीपर होता है—जो पाण्डुलिपियाँ विशेष विषयों-पर होती है वे विशेषज्ञ पाठकोंके पास भेजी जाती हैं—जैसे दर्शन-शास्त्रसे सम्बन्धित पुस्तके दर्शन-शास्त्रके किसी ऐसे बड़े प्रोफेसरके पास

भेज दी जायँगी जिसके निर्णयपर प्रकाशकने अपने अनुभवसे विश्वास करना सीख लिया है।

मेरी अपनी संस्थामें जितनी भी पाण्डुलिपियाँ आती हैं उन्हें या तो मैं स्वयं देखता हूँ या मेरा भतीजा। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी पाण्डुलिपियोंके बारेमें कमसे कम बाहरके एक स्वतन्त्र पाठककी लिखित रिपोर्ट होती है। विवादग्रस्त पाण्डुलिपियोंके बारेमें तीन या चार लिखित सम्मतियाँ प्राप्त की जाती हैं। इन रिपोर्टोंको सम्बन्धित पत्र-व्यवहारके साथ ही फाइल कर दिया जाता है ताकि यदि आवश्यकता पड़े तो वर्षों बाद भी वे आसानीसे मिल सकें।

अच्छे प्रकाशक नये लिखनेवालोंकी रचनाओंकी ओर विशेष ध्यान देते हैं। यदि लेखकके होनहार होनेका प्रमाण मिलता है परन्तु वह विशेष पाण्डुलिपि इस स्तरकी नहीं होती कि उसे प्रकाशित किया जाय तो प्रकाशक उसे जो सबसे उत्तम सलाह दे सकता है वह यह है कि लेखक अपनी पाण्डुलिपिको छ मासतक अलग रख दे और उसके बाद उसे फिर एक बार पढ़े। सम्भव है तीन ही माह काफी हों। परन्तु इस प्रकारकी सलाह लोग मानते बहुत कम हैं। कलाकार यह आशा नहीं करते कि उनका पहला अपरिपक्व चित्र ही किसी चित्रशाला द्वारा स्थायी प्रदर्शनके लिए स्वीकार कर लिया जाय, परन्तु आश्चर्यकी बात है कि असंख्य भावी लेखक यह आशा करने लगते हैं कि उनकी प्रथम अध-पकी रचना ही अमरकृति हो जाय और कितने थोड़े लेखक ऐसे होंगे जिनमें राबर्ट लुई स्टीवेन्सनका-सा धैर्य हो। यदि उनको किसी प्रकार यह समझाया जा सकता तो बड़ा अच्छा होता कि किसी छोटे-मोटे प्रकाशकको पैसे देकर अपनी रचनाओं को जल्दी प्रकाशित करा लेनेके बजाय वे उस समयतक प्रतीक्षा करें जबतक कि उनकी रचनाएँ ऐसी न हो जायँ कि कोई प्रतिष्ठित प्रकाशक उन्हें स्वीकार कर ले, तो उन्हींको लाभ होगा और इस दिशामें काफी सुधार होगा।

बिना बताये ही आनेवाली पाण्डुलिपियोंके गुण कैसे परखे जायँ

होते। निराशाजनक और साधारण रचनाओंकी मात्रा इतनी अधिक होती है कि यदि किसीमें जरा-सा भी गुण होता है तो वह दूसरोंकी तुलनामें चमक उठती है। मौजूदा परिस्थितिमें यह असम्भव है कि यदि किसी पाण्डुलिपिमें सचमुच जरा भी अच्छाई हो तो उसके लिए थोड़े दिनोंमें कोई प्रकाशक न मिल जाय, क्योंकि विलक्षण प्रतिभाकी एक झलकमात्र ढूँढ निकालनेकी होड़ बहुत तेज हो गई है।

यह विचार कि प्रकाशक बिना पढ़े ही पाण्डुलिपियाँ वापस कर देते हैं और उन्हें नये लेखकोंकी रचनाओंमें कोई दिलचस्पी नहीं होती, ऐसी गलत धारणा है जो मेरे विचारसे कुछ लोगोंके दिमागसे कभी दूर नहीं की जा सकती। परन्तु किसी योग्य प्रकाशकके दफ्तरमें एक दिन व्यतीत करनेसे यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो जायगी कि यह धारणा गलत है, क्योंकि पाण्डुलिपियोंपर ही सारे व्यापारका जीवन निर्भर रहता है।

कुछ लेखक अत्यन्त कुशल उपायोंसे यह साबित कर देते है कि अमुक पृष्ठ कभी पढ़ा ही नहीं गया। वे शायद यह भूल जाते है कि अँग्रेजीके प्रथम कोशकार एवं विद्वान् डॉक्टर जान्सनने एक बहुत बुद्धिमानीकी बात कही थी कि "यह ज्ञान करनेके लिए कि मांस सख्त है या नर्म, पूरा जानवर खाना आवश्यक नहीं है।" कुछ दूसरे लेखक इतने मूर्ख होते हैं कि वे ऐतिहासिक और दार्शनिक विषयोंपर विद्वत्ता-पूर्ण पुस्तकें छापनेवाले प्रकाशकके पास एक छोटा-सा लेख भेज देते हैं जिसका शीर्षक होता है "क्या लड़कियोंको एक साथ कई लोगोंसे प्रेम करना चाहिये ?" मेरी समझमें नहीं आता कि उनकी रायमें प्रकाशकको यह निर्णय करनेमें कितना समय लगता है कि वह पाण्डुलिपि उसके कामकी नहीं है।

मेरी अपनी प्रकाशन-संस्थामें कोई पत्रिका प्रकाशित नहीं होती, पर शायद ही कोई सप्ताह ऐसा जाता हो जब हमें इतनी छोटी पाण्डुलिपियाँ न मिलती हों जिनका प्रयोग पत्रिकाओंके अतिरिक्त और कहीं नहीं हो

सकता। कुछ साहित्यिक एजेंट भी ऐसे होते हैं जो इस प्रकारकी बदहवासी-से मुक्त नहीं होते, यद्यपि उन्हें यह जानना चाहिये, कि कौन प्रकाशक क्या छापता है। परन्तु जहाँतक उनका सम्बन्ध है उनकी इस प्रकारकी गलतीका कारण यह होता है कि वे इस बातका पता लगानेमें असमर्थ होते हैं कि कौन-सा विशेष प्रकाशक या कौन-कौनसे प्रकाशक एक विशेष प्रकारकी पुस्तकको छापनेमें दिलचस्पी लेंगे। विशेष रूपसे मुझे एक ख्यातिप्राप्त लेखककी एक पाण्डुलिपिकी बात याद है जो केवल इस कारण प्रकाशित न हो सकी कि उनके तानाशाह एजेंटने उसे लन्दनके प्रायः तमाम प्रकाशकोंको दिखाया लेकिन उन दो प्रकाशकोंको नहीं दिखाया जो उस पुस्तकके विशेष लक्षणोंके कारण उसे स्वीकार कर लेते। इस-लिए मैं जोर देकर लेखकोंका ध्यान स्वर्गीय डब्ल्यू० बी० मैक्सवेलकी इस बुद्धिमत्तापूर्ण सलाहकी ओर आकर्षित करूंगा कि वे प्रकाशकोंके सूचीपत्रोंका ध्यानसे अध्ययन किया करें और प्रयत्न करके अपने कामके लिए उचित प्रकाशक स्वयं चुना करें। किसी प्रकाशककी प्रतिष्ठाके बारेमें किसी एजेंटसे सूचना प्राप्त करनेके बजाय जाने-समझे हुए अच्छे लेखकोंसे—जिन्हें इसकी जानकारी है—पूछताछ करनी चाहिये क्योंकि एजेंट अच्छे भी होते हैं और बुरे और साधारण भी, और अधिकांश सफल प्रकाशक अच्छेसे अच्छे एजेंटोंसे भी जितना कम सम्भव होता है, सम्बन्ध रखते हैं।

मेरा विचार है कि बहुत थोड़ेसे लेखक ऐसे होते हैं जो यह समझते हों कि किसी प्रकाशकके पास जितनी भी पाण्डुलिपियाँ आती हैं, वे चाहे अस्वीकार कर दी जायें (जैसा कि अधिकांशके साथ होना अनिवार्य है) या स्वीकार कर ली जायें, उनपर प्रति पाण्डुलिपि प्रकाशकको औसतन कमसे कम एक गिनी (२१ शिलिंग) खर्च करना ही पड़ता है और यदि दफ्तरके कुल खर्चोंका ठीक-ठीक हिसाब लगाया जाय तो इससे कहीं अधिक खर्च पड़ता होगा। यदि प्रकाशकद्वारा [illegible] मंगानेसे उन पाण्डु-लिपियोंको छोड़ दिया जाय जो लिखनेके निमन्त्रणके आधारपर, [illegible]

विषय उपयुक्त न होनेके कारण, या पुस्तक बहुत लम्बी होनेके कारण, देखते ही अस्वीकार कर दी जाती है तो प्रति पाण्डुलिपि खर्च और भी अधिक पडेगा। परन्तु इसके बावजूद यदि किसी पाण्डुलिपिमे तनिक भी सफल होनेके लक्षण विद्यमान हो तो प्रकाशक उसपर विचार करनेसे शायद ही कभी इन्कार करे। मेरे विचारमे, अच्छी साहित्यिक रचनाएँ प्राप्त करनेके लिए होडकी तीव्रताका इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है ?

ऐसे लोगोकी संख्याकी कोई सीमा ही नही है जो यह समझते है कि वे प्रकाशकके यहाँ पाण्डुलिपियाँ पढकर राय देनेके लिए सर्वथा योग्य हैं। परन्तु ऐसे लोगोकी संख्या जो इस कामको पूरा करनेके सचमुच योग्य होते हैं, बहुत ही थोडी है। यह ठीक-ठीक बताना आसान नही है कि उनमे क्या गुण होने चाहिये। कुछ प्रकाशक तो बस इसीपर सन्तोप कर लेते है कि "उनमें धड़ाधड बिकनेवाली पुस्तकोको पहचानने-की योग्यता" होनी चाहिये ; परन्तु यदि कोई प्रकाशक केवल टार्जन या रोजरीकी कहानियाँ छापे तो उसे लाभ तो वहुत होगा, पर यह बहुत ही निरुत्साहजनक व्यापार होगा। अधिकाश ऐसे प्रकाशक जो अपने कामके प्रति उत्साह रखते है, पाण्डुलिपि पढनेके लिए ऐसे व्यक्तिको आदर्श समझेंगे जिसमे पहला और मुख्य गुण यह हो कि उसकी साहित्यिक परख चोखी और सन्तुलित हो और साथ ही उसमे व्यापारिक सूझ-बूझ तथा स्वाभाविक अनुभूतिका भी पुट हो।

मेरा विचार है कि सबसे अच्छे और सफल पाण्डुलिपि पढनेवाले, बिना किसी अपवादके, वे लोग होते हैं जिन्हे या तो किसी प्रकाशकके दफ्तरमें काम करनेका वास्तविक अनुभव हो या जिन्होने प्रकाशककी आवश्यकताओंके बारेमें गहरी जानकारी प्राप्त कर ली हो। इस प्रकारके अनुभवका अभाव पाण्डुलिपि पढनेवालेके महत्वको बहुत कम कर देता है और प्रकाशकको उसे ऐसी छोटी-छोटी बातें समझानेमें बहुत-सा समय व्यर्थ लगाना पडता है कि अमुक चीज क्यों सम्भव है या अमुक

चीज क्यों सम्भव नहीं है। वास्तवमें प्रकाशकको उसे उसका काम सिखाना पड़ता है, जिसमें साहित्यिक बातोंके अतिरिक्त उससे सम्बन्धित विशेष ज्ञान और व्यावसायिक जानकारीका होना आवश्यक है।

प्रकाशन-संस्थाओंके पाण्डुलिपि पढ़नेवालोंको शायद ही कभी उनका उचित श्रेय दिया जाता हो। आम पाठकोंको उनके सजगतापूर्ण और थका देनेवाले कामका ज्ञान प्रायः नहींके बराबर होता है और उनके मित्रतापूर्ण सुझावों और उनकी आलोचनासे जितना लाभ लेखक उठाते हैं उसके लिए खुले रूपसे कृतज्ञता प्रकट करनेको शायद ही कोई लेखक तैयार होता है। ऐसी पाण्डुलिपियोंकी संख्या जो पाण्डुलिपि पढ़नेवालोंके सुझावोंके अनुसार बिलकुल ही नये सिरेसे लिख दी जाती हैं या इतनी सुधार दी जाती हैं कि उनका रूप ही बिलकुल बदल जाता है, उससे कहीं ज्यादा होती है जितनी कि आम तौरपर समझी जाती है। बहुधा उनकी सलाह स्वीकार की जाती है और उसका पालन किया जाता है। इस शताब्दीके आरम्भके एक सबसे सफल अंग्रेजी उपन्यासके साथ यही हुआ था। लेकिन इससे आगे उसकी सहायताका कोई उल्लेख नहीं किया जाता। मेरा अपना अनुभव है कि बहुधा ऐसा होता है कि लेखक अपनी पाण्डुलिपिमें कोई नयी चीज जोड़ने या कोई परिवर्तन करनेके सुझावोंको बड़े तिरस्कारके साथ यह कहकर अस्वीकार कर देता है कि उसमें एक अर्ध-विरामतक बदलनेकी आवश्यकता नहीं है और फिर कुछ माह पश्चात् उनमेंसे हर सुझावपर अमल करके उसी पुस्तकको फिर और प्रकाशित करवा लेता है। यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि वह इन सुझावोंके लिए कृतज्ञता भी प्रकट नहीं करता। लेखक जितनी तत्परताके साथ प्रकाशकके पाण्डुलिपि पढ़नेवालोंकी आलोचना करते हैं, यदि वे उनकी सेवाओंके लिए कृतज्ञता प्रकट करनेमें भी उतनी ही तत्परता दिखायें, तो साधारण पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि व्यावसायिक कर्मचारियोंके एक विशेष समुदायका पुस्तकोंको प्रकाशित करनेमें कितना बड़ा हाथ होता है, जिनके अस्तित्वका किसीको ज्ञान तक नहीं

होता। एक बार मुझे श्री काम्पटन मैकेंजीको अपने एक पाण्डुलिपि पढनेवालेकी रिपोर्ट दिखानेका अवसर प्राप्त हुआ; उन्होने अपने पत्रके अन्तमे एक वाक्य बादमे यह जोड दिया था कि :

> "मेरी इच्छा है कि समालोचक भी ऐसी अच्छी आलोचनाएँ लिखा करे जैसी प्रकाशकोके पाण्डुलिपि पढनेवाले लिखते है।"

लेकिन मै इस बातपर जोर देना चाहता हूँ कि प्रकाशकोके पाण्डुलिपि पढनेवाले अज्ञानपूर्ण और सारहीन पाण्डुलिपियोको साहित्यिक श्रेष्ठ कृतियोमे परिवर्तित नही कर सकते, जैसा कि कुछ लोगोका विचार है। ऐसे भावी लेखकोकी संख्या बहुत ज्यादा है जो यह आशा करते है कि प्रकाशकोको उन्हे उनकी कलाके मौलिक तथ्योंकी मुफ्त शिक्षा देनी चाहिये। एक वर्षमे एक प्रकाशक जो हजारो पाण्डुलिपियाँ वापस करता है, यदि वह उनके बारेमे पत्र-व्यवहार करने बैठ जाय तो उसे स्वीकृत पाण्डुलिपियोकी ओर ध्यान देनेका समय ही न मिले।

किसी पाण्डुलिपिके बारेमे रिपोर्टोकी संख्या इसपर निर्भर होती है कि वह पाण्डुलिपि किस प्रकारकी है। बहुत अच्छी और बहुत बुरी पाण्डुलिपियोमे तो कोई कठिनाई नही होती परन्तु बहुत-सी ऐसी होती है जो इनके बीचकी होती है : वह जिनमे योग्यताकी झलक तो मिलती है पर प्रेरणा नहीं होती, वे पाण्डुलिपियाँ जो केवल कहीं-कहीं बहुत अच्छी होती हैं; या वह पुस्तक जो इतनी अच्छी तो होती है कि उसे बिलकुल ही नजरअन्दाज नही किया जा सकता, परन्तु इतनी अच्छी नहीं होती कि उसे स्वीकार कर लिया जाय। इन तमामपर प्रकाशकको अपनी निर्णायक सम्मति देनी पडती है—और कितनी ही बार प्रकाशकके पाण्डुलिपि पढनेवाले भगवान्को धन्यवाद देते है कि अन्तिम निर्णय उनके हाथमें नहीं बल्कि उनके मालिकके हाथमे होता है।

प्रकाशकको कई प्रकारकी बातोका ध्यान रखना पडता है। यदि उसका व्यापार अपना निजी है तो उसकी प्रकाशित पुस्तकोंकी

सूचीमें उसके अपने स्वभाव और रुचिकी झलक मिलेगी। यदि काम कई लोगोंकी सम्मतिसे होता है तो सूची एक ऐसे-ऐसे चित्रोंके समूहके समान होगी जो अलग-अलग लिये गये थे और बादमें एकमें जोड़ दिये गये। लेकिन इसके अतिरिक्त और भी बातें होती हैं: उस प्रकाशन-संस्था-की परम्परा, जिसका प्रभाव वहाँ आनेवाली पाण्डुलिपियोंके स्वरूपपर भी पड़ता है; कोई आकस्मिक सफलता जिसके कारण प्रकाशकको उस सफल पुस्तकके ढंगकी पुस्तकोंके लिए फौरन ख्याति प्राप्त हो जाती है, किसी विशेष प्रकारकी पुस्तकोंके प्रति ट्रैवेलिंग एजेण्टों या संस्थाके पुराने कर्म-चारियोंका उत्साह, और सबसे बढ़कर है संयोग जिससे अत्यन्त अप्रत्या-शित लाभ हो जाते हैं। हर प्रकाशक यह आशा करता है कि अगले दिन उसके पास जेन आयरकी ऐसी पुस्तक या कोई उतनी ही श्रेष्ठ कलाकृति आ जायगी।

पृष्ठ-संख्या और लागतका अनुमान लगाना

अधिकतर प्रकाशन-गृहोमे इसके बाद लेखकके साथ समझौता करने-की बात-चीतका सवाल आता है। इसका कारण शायद यह है कि बहुत-से प्रकाशन-गृहोका व्यापार उपन्यासोके प्रकाशनपर आधारित होता है और चूँकि उपन्यास नियमित रूपमें एक समान मूल्यपर प्रकाशित होते है इसलिए ऑख बन्द करके बिना किसी खतरेके प्रचलित विधिका अनुसरण किया जा सकता है। मुझे यह बात हमेशा "गाडीको घोडेके आगे" रखने-के समान अजीब-सी प्रतीत हुई है क्योकि जबतक आप उत्पादन और प्रकाशनकी लागतका काफी सही-सही अनुमान न लगा ले तबतक यह बताना असम्भव है कि बचत कितनी होगी—जिसमेसे लेखकका हिस्सा देना होगा। कागजपर हिसाब लगाते समय तो आप पुस्तकका दाम बढाकर जितनी भी बचत चाहे दिखा सकते है, परन्तु व्यवहारमे इस प्रकारकी वृद्धि करनेमे अनेक प्रकारकी बाधाओका सामना करना पड़ता है। बहुधा ऐसा होता है कि किसी एक पुस्तकको प्रकाशित करना तभी उपयोगी होता है जब उसे एक विशेष मूल्यसे कमपर प्रकाशित किया जा सके और यदि उसे उससे अधिक मूल्यपर प्रकाशित किया जाय तो उसकी असफलता निश्चित हो जाती है। इसलिए मुझे यह बात हमेशा आवश्यक मालूम होती है, और वास्तवमे यह है भी स्पष्ट-सी बात, कि इस अवस्थामें ही इस बातका ठीक-ठीक अनुमान लगा लिया जाय कि पुस्तकको प्रकाशित करना व्यापारकी दृष्टिसे लाभदायक है या नहीं। इसमे देर तो लगती है पर आपको यह निश्चिन्तता रहती है कि तथ्यो-के बारेमें अटकल लगानेके बजाय आप उनसे अच्छी तरह परिचित होते हैं। बहुतसे प्रस्ताव इस कसौटीपर परखनेसे पहले तो बहुत आकर्षक प्रतीत होते हैं, परन्तु बादमें उनका सारा आकर्षण खत्म हो

जाता है। मैं इस बातके अनेक उदाहरण दे सकता हूँ परन्तु कदाचित् इतना बता देना ही काफी होगा कि बहुत-सी अच्छी किताबें मूल्यसे सम्बन्धित बाधाओंके कारण केवल घाटेपर ही प्रकाशित की जा सकती हैं। उदाहरणके लिए, युद्धसे पहले यह बात प्रायः सभी लोग स्वीकार करते थे कि "बाल-साहित्य"की पुस्तकोंकी बिक्री उस समयतक सन्तोष-जनक हो सकती थी जबतक उनका मूल्य ७½ शिलिंगसे अधिक न हो। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ पुस्तकें इसका अपवाद हैं, परन्तु साधारणतया यह कहा जा सकता है कि, जैसा कि हममेंसे बहुतोंको कटु अनुभव है, यदि बालकोंके लिए कोई पुस्तक जरा भी अधिक मूल्यपर, यहाँतक कि ८½ शिलिंगकी भी, प्रकाशित की गई तो प्रकाशक संकटमें फँस जाता था। कई अन्य कोटियोंकी पुस्तकोंके विषयमें भी यह सत्य है। कभी-कभी बात बिलकुल इसकी उल्टी होती है। इस दशामें पुस्तककी बिक्री पर किसी प्रकारकी आँच आये बिना आप उसका मूल्य वास्तविक मूल्य-से अधिक रख सकते हैं। परन्तु आजकल इसके उदाहरण पहलेकी अपेक्षा बहुत ही कम हो गये हैं। (यदि इस प्रकारकी पुस्तकें प्रकाशित करनेका अवसर बार-बार मिलता, तो प्रकाशकोंके लिए ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करना भी अधिक न्यायसंगत होता जिनमें बचतकी बहुत कम गुंजाइश रखी जाती है।) सारांश यह कि बहुधा हर पुस्तकका एक "उचित मूल्य" होता है और ऐसी पुस्तकोंको किसी दूसरे मूल्यपर प्रकाशित करना असफलताको आमन्त्रित करना है।

इस सत्यका आभास बहुधा प्रकाशकोंको यह सीधा परन्तु सुदर्शन मार्ग अपनानेपर उत्प्रेरित करता है कि पुस्तकका पहला संस्करण ही सम्भावित बिक्रीसे ज्यादा छाप लिया जाय। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि प्रतियाँ चाहे जितनी भी छापी जायँ, कम्पोजका खर्च उतना ही रहता है। इस प्रकार, उदाहरणके तौरपर, यदि किसी पुस्तकको कम्पोज करवानेका खर्च आरम्भमें १०८ पौंड आता है तो यह खर्च इस प्रकार होगा :

एक	प्रतिपर	२०	पौंड	यदि	१०	प्रतियाँ	छापी	जायँ
,,	,,	२	,,	,,	१००	,,	,,	,,
,,	,,	४	शिलिंग	,,	१,०००	,,	,,	,,
,,	,,	५	पेंस	,,	१०,०००	,,	,,	,,
,,	,,	½	,,	,,	१,००,०००	,,	,,	,,

इसीलिए यदि किसी पुस्तककी बिक्रीका क्षेत्र सीमित है तो वह निश्चय ही उन पुस्तकोंकी अपेक्षा मँहगी प्रतीत होगी जो बडी संख्यामे छापी जाती है। इस बातको ध्यानमे रखते हुए उत्पादन मैनेजर शायद आपको यह बतायेगा कि यदि प्रतियोंकी संख्या दुगनी कर दी जाय या एक हजार प्रतियाँ अधिक छाप ली जायँ तो इच्छित मूल्यपर पुस्तक छापनेमें कोई कठिनाई न होगी।

उत्पादन मैनेजरकी बात बिलकुल ठीक हो सकती है ; परन्तु केवल एक निश्चित मूल्यपर पुस्तकको प्रकाशित करनेकी इच्छाके आधारपर प्रतियोंकी संख्या निश्चित करना और सम्भावित बिक्रीपर ध्यान न देना एक भ्रम और जाल है जिसमें आप बुरी तरह फँस जायँगे। अनुभवहीन नया प्रकाशक बार-बार यही गलती करता है और कभी-कभी चालाकसे चालाक प्रकाशक इस भ्रममे फँस जाता है। दूरदर्शिताकी दृष्टिसे अधिक बुद्धिमानीकी नीति यही है कि पहले यह अनुमान लगा लिया जाय कि किसी पुस्तककी सम्भवत. कितनी प्रतियोंकी बिक्री होगी और फिर दूसरी बातोंकी ओर ध्यान देकर एक प्रतिकी लागतके अनुसार पुस्तकका मूल्य निर्धारित कर दिया जाय।

इसके लिए यह आवश्यक है कि एक प्रतिकी लागत और पुस्तकपर छपे हुए मूल्यके बीच एक निश्चित और नपा-तुला अनुपात होना चाहिये। प्रकाशकको अपने निर्णयपर इतना दृढ होना चाहिये कि जिस पुस्तकपर यह अनुपात अप्राप्य हो उसे वह हाथ भी न लगाये। यह एक सीधा-सादा सिद्धान्त है जिसका व्यवहारमें ही नहीं बल्कि सिद्धान्तके रूपमें भी बहुत कम लोग अनुसरण करते है।

अनुमान तैयार करना—यह बात स्पष्ट है कि चाहे जो तरीका भी अपनाया जाय, बुद्धिमानी इसीमें है कि लागतका सही-सही पता लगा लेना चाहिये। परन्तु जिस प्रकार विभिन्न आवश्यक वस्तुओंकी मात्राका अनुमान लगानेवालेको बुलानेसे पहले भवन-निर्माता एक खाका तैयार कर लेता है, उसी प्रकार प्रकाशकको भी—अपने दिमागमें ही सही—आगे बढ़नेसे पहले पुस्तककी रूप-रेखा तैयार कर लेनी चाहिये।

तीस या चालीस वर्ष पहलेकी अपेक्षा आज पुस्तकके डिजाइनकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।[१] और इसके कारण आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। उदाहरणके तौरपर टाइपके डिजाइनोंमें बहुत उन्नति हुई है। किसी पुस्तकको बुरे टाइपके बजाय अच्छे टाइपमें छपवानेमें खर्च ज्यादा नहीं पड़ता और इसलिए कोई कारण नहीं है कि अच्छे टाइपका प्रयोग न किया जाये। अन्तमें पुस्तकका क्या रूप होगा; इसपर शायद किसी दूसरी चीजका उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना उचित प्रकारका टाइप चुनने, पृष्ठके छपे हुए भागका आकार सन्तुलित रखने और पंक्तियोंके बीच उचित स्थान छोड़नेका पड़ता है। (शब्दोंके बीच समान और नियमित जगह रखनेके लिए कम्पोजिटर यदि अधिकांश पंक्तियोंके अन्तमें केवल एक क्षणके लिए यह विचार कर ले तो काफी है कि इस पंक्तिमें एक शब्द और आ सकता है या नहीं या अन्तिम शब्दको उचित रूपमें तोड़ा जा सकता है कि नहीं।)

पुस्तकका आकार (फार्मेट) और टाइपका रूप (फान्ट) चुननेमें इस बातका बहुत ध्यान रखना पड़ता है कि पुस्तक किस प्रकारकी है और पुस्तकको आप कितने पृष्ठोंकी बनाना चाहते हैं। जो टाइप साहित्यिक रचनाओंके लिए उत्तम होगा वैसा टाइप विज्ञानकी पुस्तकोंके लिए उचित न होगा, और यदि पुस्तक [illegible] पाइका या [illegible] पाइका टाइपमें छापी जाय तो उसमें स्माल पाइका या लांगप्राइमर टाइपकी अपेक्षा

१. एक प्रकाशक तो किसी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की एक [illegible] [illegible] [illegible] है।

अपेक्षा पृष्ठोंकी संख्या बढ जायगी। इसके अतिरिक्त उपन्यास बहुधा क्राउन अठपेजी आकारमें छापे जाते है और जीवन-चरित्र या बहुत बडी पुस्तके डिमाई अठपेजी आकारकी होती है।[१]

छपाईकी उत्कृष्टताकी पूरी समस्यापर पाँचवे अध्यायमें विस्तारके साथ विचार किया जायेगा। यहाँ केवल इतना ही बता देना काफी है कि "पुस्तक-मालाओ" को छोड़कर, जिनमें एक निर्धारित ढंगका अनुसरण करना पडता है, हर पुस्तकका अलग व्यक्तित्व समझना चाहिये। तमाम पुस्तकोंमें एक हदतक तो समानता होना अनिवार्य है, परन्तु एक बँधे-पिटे हुए ढंगपर पुस्तके प्रकाशित करनेका परिणाम उतना ही असन्तोषजनक होगा जितना पिटे हुए ढंगपर सिले गये वस्त्रोका होता है। जिस प्रकार आप किसी व्यक्तिको देखते ही यह बता सकते हैं कि उसके वस्त्र उसीके लिए सिले गये थे कि नही उसी प्रकार किसी पुस्तकको देखकर यह बताना आसान है कि उसके डिजाइनपर काफी ध्यान दिया गया है या नही। अनुभवी प्रकाशक यह बात जानते है कि पुस्तकोंको समानरूपमें प्रकाशित करनेके क्या लाभ हैं और उनको कब प्रयोग करना चाहिये और कब लागतमें वृद्धि किये बिना उनमें थोडा-बहुत अन्तर करके उनका रूप निखारा जा सकता है।

बहुत ही स्पष्ट कारणोंको छोडकर, पुस्तकके अन्तिम रूपपर प्रका-

---

१. युद्धके वर्षोंमें १९४२-४५ तक इंगलैंडके पुराने प्रकाशकोंपर (युद्धके दौरानमें आनेवाले नये प्रकाशकोंपर नही) **पुस्तक-उत्पादनके बारेमें युद्धकालीन मितव्ययिताके समझौतेकी** कड़ी शर्तोंके अनुसार पाबन्दी लगा दी गयी थी जिसमें टाइपका आकार, हाशियेकी चौडाई, प्रति वर्गइंच क्षेत्रमें शब्दोकी संख्या, कागजका वजन, जिल्दकी दफ्तीका वजन तथा पुस्तक-उत्पादनसे सम्बन्धित सैकडों दूसरी बातोंके बारेमें सीमाएँ निश्चित कर दी गयी थी। उस जमानेमें छपी हुई किसी भी पुस्तकके निरीक्षणसे इसका सहज ही अनुमान हो सकता है।

शकके उत्पादन विभागके कर्मचारियोंकी जानकारी और उनकी पसन्दका काफी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि बड़ी व्यापार-संस्थाओंमें प्रकाशकके लिए हर छोटी-छोटी बातका निर्णय स्वयं करना हमेशा सम्भव नहीं होता। परन्तु जबतक पुस्तकोंके बारेमें यह गलत धारणा बनी रहेगी कि वे बहुत "मँहगी" न होने पायें, तबतक आर्थिक प्रश्न ही सबसे बड़ा प्रश्न बना रहेगा और सस्ती पुस्तकोंके नामपर उत्पादनमें कई वांछनीय सुधारोंकी बलि चढ़ा दी जा सकती है।

अनुमान तैयार करनेके दो तरीके हैं। जो तरीका मेरे विचारमें अधिकांश लोग प्रयोग करते हैं वह प्रकाशकके दफ्तरमें लगाये जानेवाले पूरे हिसाबसे सम्बन्ध रखता है। यदि प्रकाशक और उसके मुद्रकके सम्बन्ध काफी गहरे हैं तो अधिक सन्तोषजनक तरीका यह है कि वह पाण्डुलिपि मुद्रकके पास पृष्ठ-संख्याका अनुमान लगानेके लिए भेज दे। इसे छपाईकी शब्दावलीमें "कास्टिंग ऑफ" कहते हैं। "कास्टिंग ऑफ" का वास्तविक अर्थ होता है इस बातका हिसाब लगाना कि कम्पोज किये हुए मैटरकी एक निर्दिष्ट मात्रा कितने पृष्ठोंमें आयेगी; परन्तु अब यह शब्द साधारणतया अधिक विस्तृत अर्थमें प्रयोग किया जाता है और इसका अर्थ होता है कि यदि एक दी हुई पाण्डुलिपिको किसी विशेष ढंगसे कम्पोज किया जाय तो वह कितने पृष्ठोंमें आयेगी। यदि यह हिसाब ठीक-ठीक बनाया जाय तो यह बड़ी मेहनतका काम है; और यदि पृष्ठ-संख्याका अनुमान ठीक-ठीक न लगाया गया हो तो उससे बहुत गलत नतीजे निकाले जा सकते हैं। यदि यह काम प्रकाशकके दफ्तरमें किया जाता है तो प्रायः आनुमानिक ओवरटेका ही पता लगाने-का प्रयत्न किया जाता है। यह क्रिया बहुत आसान होती है। पाण्डुलिपिके कुछ प्रतिनिधि-पृष्ठोंमें शब्दोंकी संख्या गिन ली जाती है और उनके औसतको पाण्डुलिपिके पृष्ठोंकी संख्यासे गुणा करके यह पता लगा लिया जाता है कि [illegible] शब्द होंगे [illegible] मुद्रित पुस्तक कितने पृष्ठोंकी होगी। इस तरीकेसे मोटा-मोटा, [illegible]

हिसाब लगाया जा सकता है, जो कुछ पुस्तकोके लिए तो काम दे सकता है पर इसमे असावधान लोगोके धोखा खा जानेका भय है। दूसरी पुस्तकके आधारपर अनुमान उस दशामे तो बहुत उपयोगी हो सकता है जब दूसरी पुस्तक भी उसी लेखकके द्वारा हो और उससे मिलते-जुलते विषयपर हो। परन्तु यदि यह बात नही है तो यह अनुमान बहुत ही गलत हो सकता है। एक लेखक (जैसे उपन्यासलेखक) छोटे-छोटे शब्दोका प्रयोग करता है, जब कि दूसरा लेखक (जैसे मनोविश्लेषज्ञ) बड़े-बडे शब्द इतनी संख्यामे प्रयोग करता है कि जितने शब्द वह पॉच पृष्ठोमे लिखता है उतने ही शब्द उपन्यासलेखक चार पृष्ठोमे लिख देता है।

मुद्रक इस प्रकारकी बातोको ध्यानमें रखता है, पाण्डुलिपियोके एक-एक शब्दको गिनता है, हर सौ शब्दोके बाद एक छोटा-सा निशान लगा देता है और बहुधा हर पृष्ठके नीचे उस पृष्ठके शब्दोकी संख्या पेंसिलसे लिख देता है। इसके अलावा वह उन छोटी-छोटी बातोका भी ध्यान रखता हैं जिनका प्रभाव अनुमान पर पड सकता है। उदाहरणके तौर-पर उसे हर अध्यायके आरम्भ और अन्तमे खाली जगहका ध्यान रखना पडता है और यदि पुस्तकमे कई खण्ड है तो हर खण्डके पहले सादा पृष्ठ छोडनेका भी हिसाब लगाना पडता है। यदि पुस्तकके कुछ अंश उद्धरण-में छापना है या छोटे टाइपमे छापना है तो मुद्रक उन हिस्सोपर चिह्न लगा देता है और अनुमानमे उसी हिसाबसे कमी-बढती कर देता है। छोटा टाइप, फुटनोट, विशेष मात्राएँ, दूसरी भाषाओके शब्द, तालिकाएँ आदि सब "अतिरिक्त" समझी जाती हैं, जिनके कारण खर्च काफी बढ जाता है।

पृष्ठ-संख्याका अनुमान लगानेका काम उतना आसान नही है जितना कि वे लोग समझते है जो इससे परिचित नही है। वास्तवमे यह बहुत ही कुशल आदमीका काम है और अधिकांश ऐसे मुद्रको के यहाँ जहाँ पुस्तकें छपती है, यह काम एक विशेषतः निपुण आदमीके सिपुर्द होता है। उसका यह काम होता है कि वह उन जटिलताओका पता लगाये

जिनका आगे चलकर सामना करना होगा। अच्छी प्रकाशन-संस्थाओंमें यह काम कितने ध्यानसे और छोटीसे छोटी बातका ध्यान रखकर किया जाता है इसका अन्दाजा प्रश्नोंकी उस विस्तृत सूचीसे लग सकता है जो अनुमानके साथ भेजी जाती है। कुछ प्रकाशक अनुमानके साथ-साथ एक छपा हुआ प्रश्न-पत्र भेजते हैं।

भिन्न-भिन्न लेखकोंकी आवश्यकताओंमें बहुत अन्तर होता है। कुछ लेखक अपनी पाण्डुलिपियाँ इतने ध्यान और परिश्रमसे तैयार करते हैं और उन्हें इतना पूर्णतः निर्विकार बना देते हैं कि उसमें किंचिन्मात्र सुधारपर भी वे झुँझला उठते हैं। दूसरे लेखक ऐसे होते हैं कि यदि उनकी पाण्डुलिपिका अक्षरशः पालन किया जाय तो उनको उतनी ही झुंझलाहट होती है और होनी भी चाहिये क्योंकि किसीमें लिखनेकी योग्यता होनेका अर्थ हमेशा यह नहीं होता कि वह कोई शब्द अशुद्ध न लिखता हो या सब विराम-चिह्न ठीक ही लगाता हो।

इसके अतिरिक्त, ऐसी भी बहुत-सी बातें होती हैं जिनका सम्बन्ध वैयक्तिक रुचिसे होता है और छपाई आरम्भ करनेसे पहले इनका फैसला कर लेना चाहिये, न कि यह कि जब पूरी पुस्तक कम्पोज हो चुके तब इनपर विचार किया जाय। लेखकोंके साथ सबसे गम्भीर कठिनाइयाँ इसी प्रकारकी छोटी-छोटी बातोंकी ओर ध्यान न देनेके कारण पैदा होती हैं और हमेशा अच्छा यही होता है कि लेखकसे पहले ही मालूम कर लिया जाय कि लेखक अपनी पाण्डुलिपिका अक्षरशः पालन करवाना चाहता है या वह मुद्रककी "अपनी संस्थाकी प्रणाली" का व्यवहार करने-पर तैयार है। जितने भी प्रश्नोत्तर [illegible] हो सकते हैं उनके बारेमें हर मुद्रकको निश्चय ही अपनी एक प्रणाली निश्चित कर लेनी चाहिये। आधारके तौरपर बहुधा आक्सफोर्ड प्रेस द्वारा प्रकाशित [illegible] [illegible] आथर्स एण्ड प्रिन्टर्स डिक्शनरी (लेखक और मुद्रक-कोश), छोटे-मोटे सुधारोंके साथ या ज्योंका त्यों, प्रयोग किया जाता है। यदि लेखकने अपनी पाण्डुलिपि [illegible] ही [illegible]

की हो और उसे तमाम छोटी-छोटी बातोका अच्छी तरह ज्ञान न हो (और बहुत ही कम लेखकोको छपाईकी क्रियाकी छोटी-छोटी बातोका ज्ञान होता है), तो अच्छा यही होगा कि वह मुद्रककी प्रणालीको ही सारी पुस्तकमे प्रयोग किये जानेकी अनुमति दे दे। इन दोनो विधियो-के बीचकी बात शायद कभी भी सफल नही होती और ऐसा करनेकी सलाह न देनी चाहिये। लेखकोके लिए इस बातसे अपरिचित होना स्वाभाविक ही है कि उनकी पाण्डुलिपि एक साथ आधे दर्जन कम्पो-जिटरो द्वारा छपाईके लिए तैयार की जाती है। यह तो आसान होता है कि उन्हे कापीके अनुसार चलने या "संस्थाकी प्रचलित प्रणाली" का अनुसरण करनेका आदेश दे दिया जाय परन्तु यदि इसमे कोई हेर-फेर किया जाता है तो समानता स्थापित करना कठिन हो जाता है। लेकिन इस बहानेसे त्रुटियोको क्षमा नही किया जा सकता क्योंकि लिखनेकी विधि, विराम-चिह्नोको लगानेकी विधि और बडे अक्षरो आदिके विषय-मे समानता स्थापित रखना मुद्रकके रीडर (पाण्डुलिपि पढनेवाला) की जिम्मेदारी है। फिर भी व्यवहारमे यही अधिक लाभदायक होगा कि या तो मुद्रकके यहाँ जो प्रचलित प्रणाली हो उसका अनुसरण किया जाय (केवल उन बातोके विषयमे जिनमें मुद्रक आपसे अपनी पसन्द बतानेके लिए कहता है), या फिर पाण्डुलिपि तैयार करते समय इतनी काफी सावधानी बरती जाय और उसे इस ढंगसे आयोजित किया जाय कि आप पूरे विश्वासके साथ "कापीका अनुसरण करने" का आदेश दे सकें।

हमें इस बातमें बहुत गहराईसे जानेकी जरूरत नही है कि मुद्रक अपना अनुमान तैयार करनेके लिए किस विधिका प्रयोग करता है या वह लागतका हिसाब किस आधारपर लगाता है। वास्तवमे मुद्रकोका कम्पोज करनेकी लागतका हिसाब प्रायः हमेशा एक हजार 'एन' अक्षरोके आधारपर लगाया जाता है, अर्थात् इस आधारपर कि अंग्रेजीका 'एन' अक्षर एक हजार बार कम्पोज करनेमें कितना खर्च

आयेगा क्योंकि यह अक्षर सबसे चौड़े और सबसे पतले अक्षरके बीचमें होता है। यह बात स्पष्ट है कि यदि एक पृष्ठमें केवल अंग्रेजीके 'एम' अक्षर हों और दूसरेमें केवल "आई" अक्षर हों तो "एम" वाला पृष्ठ जल्दी पूरा हो जायगा क्योंकि कम्पोजिटरको इतनी ही जगह भरनेके लिए "आई" अक्षर "एम" अक्षरकी अपेक्षा तीन गुने उठाने पड़ेंगे। अनुमान जिस रूपमें प्रकाशकके पास पहुँचता है वह बहुधा कुछ इस प्रकारका होता है :—

विवरण : अर्थात् लगभग इतने शब्द होंगे : इतने पृष्ठ होंगे और प्रत्येक पृष्ठमें इतनी पंक्तियाँ होंगी और प्रत्येक पंक्ति इतने "एम"[1] चौड़ी होगी : यदि अनुक्रमणिका होगी तो उसके लिए पृष्ठोंकी आवश्यक संख्या जोड़ दी जाय और यदि पुस्तकके मूल विषयके साथ-साथ चित्र भी देने हों तो उनके अनुसार पृष्ठोंकी संख्या बढ़ जायगी।

मशीनका काम अर्थात् छपाई बहुधा निश्चित दरके अनुसार होती है क्योंकि अधिकांश मुद्रकोंके यहाँ एक दर निश्चित होती है जो प्रकाशकके दफ्तरमें दर्ज रहती है और जब एक बार इस दरपर समझौता हो जाता है तो जबतक कोई असाधारण परिस्थिति न हो, यही दर लागू होती है।

अनुमानके साथ ही साथ मुद्रक बहुधा एक छपे हुए पृष्ठका नमूना भी भेजते हैं। बहुधा वे अपने अनुमानके शुरूमें ऊपर इतना लिख देते हैं कि "यदि अमुक पुस्तकके ढंगपर कम्पोज की जाय", लेकिन निजी तौरपर मैं इसे ज्यादा पसन्द करता हूँ कि उसी पाण्डुलिपिका एक पृष्ठ नमूनेके तौरपर तैयार किया जाय ताकि वह लेखकके पास उसकी स्वीकृतिके लिए भेजा जा सके। इस नमूनेमें मुद्रक इसकी [illegible]

१. बड़े टाइपके अक्षरोंकी "[illegible]" या [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पुस्तकका नाम, शब्दोंकी लगभग संख्या, पृष्ठोंकी लगभग संख्या, अपना नाम और नमूना तैयार करनेकी तारीख भी शामिल कर देते हैं। प्रकाशकके अपने दफ्तरके कामके सम्बन्धमें इससे बड़ी सुविधा हो जाती है क्योंकि प्रकाशकको प्रतिदिन इस प्रकारके न-जाने कितने नमूनेके पृष्ठोंका सामना करना पड़ता है। और यदि उनपर यह सब बातें भी लिखी हों तो उनके आपसमें मिलजुल जानेके कारण गड़बड़ होनेकी सम्भावना बहुत कम हो जाती है। अपनी पुस्तकके किसी अत्यन्त प्रिय अंशके बीचमें यह सब विवरण पढ़कर लेखक कभी-कभी अकारण ही घबरा जाते हैं और प्रकाशकको पत्र लिखकर इस बातकी आशा प्रकट करते हैं कि पुस्तक जब अन्तमें छपकर तैयार होगी तब उसमें ये पंक्तियाँ न होंगी। वास्तवमें नमूनेके पृष्ठमें यह सब विवरण दे देनेसे लेखकको भी बहुत सुविधा हो सकती है क्योंकि इससे शुरूमें ही मालूम हो जाता है कि पुस्तकमें कितने पृष्ठ होंगे, बहुधा लेखकोंको इस बातकी अस्पष्ट-सी ही जानकारी होती है; और इसके अतिरिक्त शब्दोंकी संख्या मुद्रकके अनुमानके अनुसार ही होती है और यद्यपि इसका हिसाब लगानेका आधार दूसरा होता है परन्तु इससे टाइपिस्टको दिये जानेवाले पारिश्रमिककी तुलना की जा सकती है।

जैसे ही मुद्रकका अनुमान और नमूनेका पृष्ठ मिलते हैं और उन्हें देख लिया जाता है, वैसे ही उसमें कागजका मूल्य, जिल्द बाँधनेकी लागत आदि जोड़कर उस अनुमानको पूरा करना पड़ता है। इस अनुमानमें कोई खर्च भूल जानेकी सम्भावना इतनी अधिक होती है कि अधिकतर प्रकाशकोंके यहाँ अपने दफ्तरके अनुमानके लिए एक छपा हुआ फार्म होता है।

§ १ और § २ : **कम्पोज, छोटा टाइप, आदि और पेज बनानेका खर्च**—ये बातें मुद्रकके आँकड़ोंमें नक़ल कर दी जाती हैं।

§ ३ : **कागज**—कागजके बारेमें अधिक ध्यानपूर्वक विचार करना

पड़ता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि कुल लागतपर प्रति पौंड मूल्यकी अपेक्षा कागजके भारीपन और आवश्यक मात्राका अधिक प्रभाव पड़ता है। कागजका मूल्य—युद्धके जमानेको छोड़कर—काफी स्थायी रहता है परन्तु कागजका भारीपन और आवश्यक मात्रा पुस्तकके विषयके अनुसार बहुत बदलते रहते हैं। यह हिसाब भी लगाना बहुत आवश्यक होता है कि कितने कागजकी जरूरत होगी और जो लोग इस समस्यासे परिचित नहीं होते उनको यह समस्या बहुत ही चक्करमें डाल देती है। कभी-कभी बहुत निपुण लोग भी रीमोंकी आवश्यक संख्याको दुगना या आधा कर देते हैं (इस गलतीमें फँस जाना बहुत आसान होता है) परन्तु इस प्रश्नपर और इसी प्रकारके दूसरे प्रश्नोंपर, जो अनुमान लगाते समय उठते हैं, पाँचवें अध्यायमें अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

§ ४ : मशीनका काम—अर्थात् छपाई, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, "निश्चित दरके अनुसार" होती है और इसलिए केवल यह जानना काफी है कि कितनी प्रतियाँ छपेंगी और उसी हिसाबसे खर्च भरा जा सकता है। रीमोंकी संख्या बहुधा उतनी ही होती है जितना कि कागज मँगाया जाता है और यह संख्या पिछली मदमेंसे नकल कर ली जाती है।

§ ५ : ब्लाक—स्पष्ट है कि यह खर्च इसपर निर्भर है कि पुस्तकके अन्दर या बाहर चित्र होंगे कि नहीं। प्रायः सभी उपन्यासोंमें सचित्र आवरण-पृष्ठ होता है। इसपर काफी खर्च आता है, इसके बारेमें आगे विस्तारसे बताया जायगा।

§ ६ : चित्रोंके लिए कागज और उनकी छपाई—[illegible] चित्रोंकी छपाईके लिए जो आर्ट-पेपर प्रयोग किया जाता है (यद्यपि इसका प्रयोग आवश्यकतासे अधिक किया जाता है), उसकी दर [illegible], इसकी विशेषताएँ और इसका [illegible] होता है और उसका विशेष रूपसे [illegible] देना पड़ता है। चित्रोंकी छपाईका

हिसाब मुद्रकके साथ तय की हुई दरके अनुसार लगाया जाता है। यह दर साधारण छपाईकी दरसे अधिक होती है क्योंकि इसमें ज्यादा सावधानीसे काम करना पडता है और फलस्वरूप समय भी अधिक लगता है।

§ ७ : **मोल्ड और स्टीरियो प्लेट**—इनका खर्च पहले अनुमानमें शामिल किया जाय कि नहीं, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। इंगलैण्डमे चलन यह है कि यदि पुस्तक दुबारा छपती है तो यह खर्च पहली पुनरावृत्तिके हिसाबमे जोडा जाता है। अमेरिकामें, इसके विपरीत, एलेक्ट्रो प्लेटोका खर्च (वहाँ इन्हीका प्रयोग होता है) प्रायः हमेशा पहले संस्करणकी लागतमे शामिल कर दिया जाता है। मोटे तौरपर मुद्रक इसकी लागतका हिसाब इस आधारपर लगाता है कि उस छपे हुए आयतका क्षेत्रफल कितना है जिसके मोल्ड (पेपरमाशीपर कम्पोज किये हुए मैटरका साँचा) या स्टीरियो (मोल्डकी सहायतासे तैयार की हुई धातुकी प्लेटे) तैयार करने है।[1] इन प्रक्रियाओंके सम्बन्धमे अधिक जानकारीके लिए पाँचवे अध्यायमें पुनरुत्पादनकी विधियोवाला भाग देखिये।

§ ८ : **जिल्दसाजी**—यह खर्च एक वारमे एक ही समयपर जिल्द बँधवायी जानेवाली पुस्तकोंकी संख्याके अनुसार बहुत बदलता रहता है। जिल्दसाज एक "आरम्भका खर्च" ले लेते है जिसमे उस समयका मूल्य शामिल होता है जो छपे हुए फार्मोका निरीक्षण करने और उनको जिल्द-साजीके लिए तैयार करने ("मेकिंग रेडी") मे लगता है। बहुत-सी क्रियाओमे तो तैयारीमे उतना ही समय लग जाता है जितना स्वयं उस क्रियामे लगता है। उदाहरणके तौरपर, यदि डिब्बे तैयार करनेकी मशीन चल रही हो तो सौ डिब्बे अधिक बना लेनेका अतिरिक्त खर्च

---

१. वास्तवमें प्लेटोका मूल्य उल्टी तरफकी नापके हिसाबसे लगाया जाता है ताकि गहराई भी शामिल हो जाये। इसमे छपे हुए आयतके क्षेत्र-फलमें हर तरफ १।८ इञ्च जोड दिया जाता है।

उनमें लगनेवाले कच्चे मालकी लागतसे शायद ही थोड़ा ज्यादा होता हो। इसलिए एक बारमें बहुत थोड़ी-सी प्रतियोंपर जिल्द बंधवानेका खर्च बहुत ही ज्यादा बैठ जाता है। अनुमान लगानेके लिए एक औसत मालूम कर लेना चाहिये—पहली बार प्रतियोंकी संख्या बहुत अधिक हो सकती है, उसके बाद जिल्दसाजी बहुत थोड़ी-थोड़ी प्रतियोंकी कई बारमें करवायी जा सकती है। जिल्दसाजीकी लागत प्रायः फी सैकड़ा या फी हजार प्रतियोंके हिसाबसे लगायी जाती है और इसके लिए एक निश्चित दर है जिसे साधारणतः तुलनाके लिए आधार माना जाता है।

१९ : जिल्दपरके ब्लाक—बहुधा जबतक जिल्दपरकी छपाईके लिए अक्षर विशेष रूपसे न ढलवाये जायें, कमसे कम पुस्तककी पीठ (पुस्तककी मोटाई जो पुस्तक अल्मारीमें रखनेपर दिखाई देती है) पर छपाईके लिए तो यह आवश्यक है। ये अक्षर लगभग ६ पेंस प्रति अक्षरके हिसाबसे पीतलके बनवाये जा सकते हैं और उन्हें आवश्यकताके अनुसार किसी आकारका भी बनवाया जा सकता है, जो बात टाइपमें सम्भव नहीं होती। जिल्दपर बुरे अक्षरोंकी छपाई पुस्तकको जितना अधिक कुरूप बना देती है उतना शायद कोई दूसरी चीज नहीं बनाती, इसलिए इसपर थोड़ा-सा पैसा खर्च करनेमें आना-कानी करना, जैसा कि बहुतसे लोग करते हैं, झूठी बचत है। (पीतलके ब्लाक अपने कड़ेपनके कारण गर्म करनेपर भी टिकते और कपड़ेपर अधिक दबाव सहन कर सकते हैं। और इनकी सतह चिकनी होनेके कारण सुनहरे अक्षरोंमें अच्छी चमक आ जाती है।)

२० : जिल्दके बाहर चढ़ा हुआ कागज, जैकेट या आवरण-पृष्ठ—आजकल आवश्यक है, और इनको शामिल किये बिना कोई भी अनुमान पूरा नहीं समझा जा सकता। इनकी लागत २५,००० प्रति छपवाने [illegible] आवरणोंके लिए लगभग १० पौंड १० शिलिंगसे लेकर [illegible] रंगके सचित्र आवरणोंकी इतनी संख्याके लिए, जो [illegible] [illegible] लिए प्रयोग किये जाते हैं, ५० पौंडतक हो सकती है। [illegible]

रकममें ब्लाक बनवानेका खर्च तो शामिल है, पर चित्रकारका पारिश्रमिक शामिल नही है।

§ ११ : **भूल सुधारका खर्च**—इस शीर्षकमें वे सब मुफ्त भत्ते शामिल किये जायेंगे जो वह विशेष प्रकाशक अपने लेखकोंको नियमानुसार देता है। यह एक निश्चित रकम हो सकती है। बहुधा यह रकम कम्पोज करनेके खर्चके एक विशेष प्रतिशत भागके बराबर होती है।

§ १२ : **चित्रकारका पारिश्रमिक, आवरणके लिए** या अन्दरके चित्रोंके लिए, स्वतः स्पष्ट बात है।

§ १३ और § १४ : **लेखककी रायल्टी और विज्ञापन**—इसके बारेमें यह नियम है कि वे कभी भी उत्पादनके उस अनुमानमें शामिल नहीं किये जाते जो प्रकाशक अपने इस्तेमालके लिए तैयार करता है। इसका हिसाब अलगसे लगाया जाता है। परन्तु इसे छपे हुए फार्ममें शामिल कर लेना इसलिए अच्छा है कि इस प्रकार इस खर्चको भूल जानेकी सम्भावना नही रह जाती।

§ १५ : **बीमा**—बहुधा एक "फ्लोटिंग पालिसी" के द्वारा कराया जाता है परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि किसी पाण्डुलिपि या चित्रोंकी असाधारण बहुमूल्यताके कारण उनका विशेष बीमा भी कराया जाय।

§ १६ : **ऊपरका खर्च**—जिसे "ओवरहेड" भी कहते है, इसपर इस पुस्तकमें दूसरी जगह विचार किया जायगा।

(बुद्धिमान प्रकाशक बादमें इस अनुमानकी **वास्तविक** लागतसे तुलना करके देख लेते हैं, ऐसा करनेसे बहुत-सी बातें सीखी जा सकती हैं।)

इसके बाद जिन प्रश्नोंका फैसला करना होता है वे यह होते है कि पुस्तकका मूल्य कितना रखा जाय और उस मूल्यपर कितना लाभ होगा जो लेखकके साथ बाँटा जा सके। इन प्रश्नोंको कैसे हल किया जाए, इसका उत्तर अगले अध्यायमें दिया गया है।

पुस्तकोंका मूल्य और अत्युत्पादन

यदि कोई यह कहनेका साहस करे कि पुस्तकें सस्ती होती हैं तो या तो उसकी बातसे फौरन इन्कार कर दिया जायगा या इससे कुछ लोग उसकी नासमझीपर मुस्करा देंगे। परन्तु यदि इस प्रश्नपर थोड़ा-सा भी ध्यान दिया जाय तो पता चलेगा कि उन अपेक्षाकृत थोड़ी-सी पुस्तकोंको छोड़कर जो ब्रिटेनमें मुख्यतः किरायेपर पुस्तकें उधार देनेवाली लाइब्रेरियोंके लिए छापी जाती हैं, पुस्तकोंके अतिरिक्त कदाचित ही किसी दूसरी चीजसे मनुष्यको अपने पैसेके बदले इतनी उपयोगिता प्राप्त होती हो।

पाठकोंके लिए पुस्तकोंका मूल्य इतने महत्वका विषय है कि केवल इसी बातके बारेमें अधिक विस्तृत जानकारीकी जरूरत नहीं है कि मूल्य किन मुख्य बातोंसे नियन्त्रित होता है बल्कि यह भी जाननेकी जरूरत है कि ये उपकरण किस अनुपातमें काम करते हैं। जैसा कि हम "पृष्ठ-संख्या और लागतका अनुमान लगाना" नामक पिछले अध्यायमें देख चुके हैं कि एक प्रतिके मूल्यपर जितना प्रभाव इस बातका पड़ता है कि कितनी प्रतियां छपायी गयी हैं उतना शायद किसी दूसरी बातका नहीं पड़ता।

यदि हम अपने आपको औसत प्रकारकी नयी पुस्तकोंतक सीमित रखें, जिनके 1,000 से लेकर 3,000 प्रतियोंतकके पहले संस्करण छपते हैं—इसमें पुनरावृत्तियों, [illegible] और [illegible] कभी-कभी बिकनेवाली पुस्तकें शामिल नहीं हैं—तो उनके मूल्यको मोटे तौरपर [illegible] बातोंसे निर्धारित किया जा सकता है, यथा :—

१. उन्हें तैयार करनेकी वास्तविक लागत, अर्थात् कागज, छपाई और जिल्दसाजी।

२. वितरणका खर्च, जिसमें पुस्तक-विक्रेताओं और सफरी एजेण्टोंका कमीशन शामिल होता है।

३. बाकी, जिसमें निम्नलिखित चीजें शामिल होती हैं :—

(क) विज्ञापन ;

(ख) लेखकका पारिश्रमिक ;

(ग) प्रकाशकके दफ्तरका खर्च ;

(घ) प्रकाशकका लाभ।

इस सम्बन्धमें कोई दो उदाहरण एक जैसे नहीं होते और विशेष परिस्थितियोंमें अनुपात बदल जाते हैं, मिसालके लिए जब लेखकको पारिश्रमिक देनेका सवाल नहीं होता जैसे पुराने लेखकोंकी पुस्तकोंकी पुनरावृत्तियाँ ; या जब किसी लोकप्रिय लेखकको बहुत ज्यादा रायल्टी देनी पड़ती है ; या जब विक्रेताओंको कम कमीशन देना पडता है जैसा कि अधिकतर स्कूली किताबोंके साथ होता है। परन्तु साधारणतया यह विभाजन काफी ठीक साबित होगा। मैं अब इसमेंसे हर एकपर अलग-अलग विचार करूँगा।

१. पुस्तक तैयार करनेकी लागत

पुस्तकोंको छापकर तैयार करनेकी लागत पिछले तीस वर्षोंमें और विशेषरूपसे दो महायुद्धोंके दौरानमें इतनी अधिक अस्थिर रही है और इस समय भी इतनी अस्थिर है कि ऐसे आँकडे बताना भी असम्भव है जो थोडी मात्रामें भी स्थायी कहे जा सकें। लेकिन मेरे विचारमें कोई भी व्यक्ति इस बातसे इन्कार न करेगा कि आज पुस्तकोंको छापकर तैयार करनेकी लागत सन् १९१४ की अपेक्षा कमसे कम तीनगुनी हो गयी है। फिर भी पुस्तकोंके मूल्यमें इस अनुपातमें वृद्धि नहीं हुई है।

२. वितरणका खर्च

पहलेपहल जब "नेट" मूल्यपर पुस्तकोंको बेचने की प्रथा

प्रचलित की गयी, तो पुस्तक-विक्रेता १६⅔ प्रतिशत कमीशन पाकर ही सन्तुष्ट रहते थे, जो स्पष्टतः अपर्याप्त था, और हिसाब साफ करते समय शायद उन्हें ५ प्रतिशत और मिल जाता था। अब परिस्थिति बिलकुल उलटी हो गयी है और आजकल बहुतसे विक्रेता ऐसे हैं जो हर हालतमें ३३⅓ प्रतिशतकी साफ बचत चाहते हैं। पुस्तककी एक प्रतिके आर्डरपर भी जिसे प्राप्त करनेके लिए उन्होंने जरा भी प्रयत्न नहीं किया और जिस प्रतिको उन्होंने अपनी दूकानमें कभी रखा भी नहीं।

उनकी इस मांगके औचित्य और अनौचित्यपर छठे अध्यायमें विचार किया गया है। यहां इस प्रश्नका उल्लेख केवल इसलिए किया गया है कि मूल्य निश्चित करते समय यह भी एक उपकरण होता है और निर्णायक उपकरण होता है।

यदि भविष्यमें न्यूनतम कमीशन ३३⅓ प्रतिशत देना हो तो प्रकाशकको मिलनेवाली बिक्रीकी औसत रकम बहुत कम हो जायगी क्योंकि थोक विक्रेता और निर्यात करनेवाले व्यापारी फुटकर व्यापारियों-की न्यूनतम दरसे काफी ज्यादा कमीशन मांगेंगे अर्थात् वे ३३⅓ प्रति-शतसे काफी ज्यादा कमीशन चाहेंगे। इसके अतिरिक्त सफरी एजेण्टोंका कमीशन भी चुकाना पड़ेगा। इस समय अधिकांश प्रकाशक उन आर्डरों-पर कुछ कम कमीशन देते हैं जिन्हें पुस्तक-विक्रेता सीधे प्रकाशकके यहां भिजवा देते हैं, इस प्रकार बिक्रीसे प्राप्त होनेवाली रकम औसतन कुछ बढ़ जाती है। परन्तु यदि कमीशन इससे भी अधिक बढ़ा दिया जाय तो पुस्तकोंका मूल्य भी निश्चय ही बढ़ाना पड़ेगा। वस्तुतः लोग इसी महत्वपूर्ण बातकी ओर ध्यान नहीं देते। [illegible] अपना [illegible] इस आधारपर लगायें, कि इससे [illegible] औसत [illegible] पुस्तकपर [illegible] पर है [illegible]

[illegible]

पर पुस्तकें उधार देनेवाली लाइब्रेरियों (पुस्तकालयों) के हाथ बेचनेके लिए छापी जाती है। इस सम्बन्धमें हमे निम्नलिखित बातोंका भी ध्यान रखना पडता है—

१. थोडी-सी प्रतियोंसे ही माँग पूरी हो जाती है, और जितनी ही कम प्रतियोंका संस्करण होता है, मूल्य उतना ही ज्यादा होता है।

२. कुछ सीमाओंतक इस प्रकारकी लाइब्रेरियोंपर पुस्तकपर छपे हुए मूल्यका प्रभाव नही पडता, उन्हें ज्यादा दिलचस्पी इसमे होती है कि उन्हे उस मूल्यपर कमीशन कितना मिलेगा।

कुछ प्रकाशक इन बेतुकी "शर्तों"का फायदा उठाकर उन पुस्तकोंका मूल्य बहुत ज्यादा रखते है जो मुख्यतः ऐसी लाइब्रेरियोंके लिए छापी जाती हैं। इस प्रकार उनके लिए इन "विशेष शर्तों"को पूरा करना सम्भव हो जाता है जिनके कारण आर्डर काफी आनेका निश्चय हो जाता है और "विस्तृत प्रचलन" भी निश्चित हो जाता है।

मूल्यमें इस कृत्रिम वृद्धिका प्रभाव केवल कुछ ही पुस्तकोंपर पड़ता है और यह प्रभाव होता भी बहुत अल्पकालीन है, क्योंकि कोई भी ऐसी पुस्तक जिसकी माँग सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंमे काफी होती है, वह प्रायः हमेशा बादमें कम कीमतपर आम बिक्रीके लिए जरूर छापी जाती है।

परन्तु दुर्भाग्यवश ये "सर्कुलेटिंग लाइब्रेरीवाली पुस्तकें" यदि हम उन्हे यही नाम दे दें, हमेशा इस बातके प्रमाणके तौरपर पेश की जाती हैं कि पुस्तकें बहुत मँहगी होती हैं। इसके अतिरिक्त, उन्हींमे ऐसी पुस्तकें भी बहुत होती है जो "अवांछनीय" होती है—ऐसी आवश्यक पुस्तकें जिनके बारेमें बहुधा शिकायत की जाती है। यह कोई आश्चर्यकी बात नही है क्योंकि पुस्तक उधार लेकर पढनेवाला व्यक्ति पुस्तक लेते समय अच्छे-बुरेका विचार उतना नहीं करता जितना पुस्तक खरीदकर पढनेवाला करता है और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे उधार लेने-

वालेको जो भी पुस्तक मिल जाय उसे उसीपर संतोष करना पड़ता है।

३. विज्ञापन : लेखक और प्रकाशक

(क) बहुत कम लेखक ऐसे होते हैं जो यह समझते हों कि उनकी पुस्तकके बारेमें विज्ञापनों द्वारा उचित मात्रामें प्रचार किया गया है। फिर भी यह एक साधारण-सी बात है कि जिस पुस्तककी बिक्री एक हजार प्रतियोंतक भी नहीं पहुँचती है उसके विज्ञापनके लिए इंग्लैण्डमें ५० पौंडसे अधिक खर्च हो जाते हैं। इसका अर्थ है हर प्रति-पर एक शिलिंगसे अधिकका खर्च। विज्ञापनकी दरमें भयानक वृद्धि हो गयी है और जबतक दैनिक और रविवारको निकलनेवाले साप्ताहिक पत्रोंको बिलकुल ही त्याग न दिया जाय तबतक ५० पौंडसे हो ही क्या सकता है? विज्ञापनका खर्च निश्चय ही एक ऐसा खर्च है जिसका प्रभाव पुस्तकके मूल्यपर पड़ता ही है।

(ख) लेखकका पारिश्रमिक आजकल बहुधा रायल्टीके रूपमें दिया जाता है और इसका हिसाब पुस्तकपर छपे हुए मूल्यके आधारपर लगाया जाता है। रायल्टीकी प्रणालीके कई लाभ हैं और रायल्टीको पुस्तकपर छपे हुए मूल्यपर आधारित करना सिद्धान्ततः बहुत न्यायसंगत मालूम होता है परन्तु इसके कारण बहुधा पुस्तकके मूल्यमें उससे ज्यादा वृद्धि करनेकी जरूरत पड़ जाती है जितनी कि न्यायसंगततः होनी चाहिये। उदाहरणके लिए यदि पुस्तकको तैयार करनेमें ४ पेंस अधिक खर्च हो जाये तो छपे हुए मूल्यमें १ शिलिंगकी (८ पेंसकी नहीं) वृद्धि करनी पड़ती है, ताकि केवल अतिरिक्त खर्च और पुस्तक विक्रेताका कमीशन ही नहीं बल्कि इस बढ़े हुए मूल्यके अनुसार लेखककी रायल्टी भी निकल आये। मैं यह नहीं कहता कि ऐसा न होना चाहिये (इसमें [illegible] और विक्रेता दोनोंके [illegible] हो सकता है), [illegible] इसका उल्लेख पुस्तकोंके मूल्यपर प्रभाव डालनेवाले एक कारणके रूपमें कर देता हूँ। आज शिलिंग, [illegible] पुस्तकका मूल्य ९ शिलिंग ६ पेंस है और इसपर लेखकको १० प्रति-

शत रायल्टी मिलती है; इसके बाद १० शिलिंग ६ पेसके मूल्यपर उसी पुस्तकका **चमड़ेकी जिल्दवाला** संस्करण निकालनेकी आवश्यकता पड़ती है, क्या चमड़ेकी जिल्दके कारण मूल्यमे होनेवाली वृद्धिपर भी लेखकके लिए १० प्रतिशत रायल्टीकी आशा करना उचित है ?

बहुत अधिक रायल्टी देनेकी "विनाशकारी नीति" का उल्लेख करनेकी कोई आवश्यकता नही है क्योंकि यह प्रश्न स्वर्गीय वाल्टर पेजने अपनी पुस्तक **ए पब्लिशर्स कनफेशन्समे** बहुत सजीव रूपसे चित्रित किया है । वाल्टर पेज उन अनेक प्रतिष्ठित प्रकाशकोंमेंसे एक थे जिन्हे अमेरिकाने अपना राजदूत बनाकर यूरोप भेजा । (केवल अमेरिका ही ऐसा देश क्यों है जो प्रकाशकोको इस पदपर सम्मानित करता है ?) यह स्पष्ट है कि रायल्टीकी मात्रा कुछ भी हो, वह प्रकाशकको बिक्रीसे वसूल होनेवाली कुल रकम और उत्पादनकी लागतके अन्तरमेसे ही दी जाती है । उत्पादनपर खर्चमें कंजूसी करने, जो नीति बहुतसे प्रकाशक अपनाते हैं, या पुस्तक-विक्रेताओका कमीशन कमकर देनेको छोडकर जिस नीतिको कई अन्य प्रकाशक अपनाते है, इस अन्तर को बढानेका इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है कि मूल्य बढा दिया जाय।

(ग) प्रकाशकका दफ्तरका खर्च बहुत ज्यादा होता है । यह बात नही है कि प्रकाशकोंके यहाँ फजूलखर्ची बहुत होती है—मेरा विश्वास है कि अधिकांश प्रकाशक-संस्थाएँ काफी किफायतसे चलायी जाती है; कारण यह है कि दूसरी आवश्यक चीजोकी अपेक्षा, जैसे खाद्य आदि, इस उद्योगमें उत्पादनकी जानेवाली वस्तुकी मात्रा बहुत थोडी होती है और उसे तैयार करनेमें इस मात्राके अनुपातसे उत्पादन-क्रियाओंकी संख्या बहुत अधिक होती है ।

मै किसी ऐसी प्रकाशन-संस्थाको नहीं जानता जिसका ऊपरका खर्च १८ प्रतिशतसे कम होता हो—अधिकांशमे यह खर्च यदि २५ प्रतिशतसे अधिक नहीं तो उसके लगभग ही होता है । लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि कोई पाठक मेरी इस बातको ज्योंका त्यों मान ले।

मैं केवल जान मरे बनाम दि टाइम्स' नामक मुकदमेकी कारवाईका हवाला देना चाहता हूँ जिसमें ऊपरके वास्तविक खर्चकी बहुत विस्तारसे छानबीन की गयी थी। ध्यान रहे कि अब ये खर्च बहुत ज्यादा हैं।

(घ) प्रकाशकका लाभ (यदि हो तो) ऐसी चीज नहीं है जिसपर हम अधिक समय खर्च करें क्योंकि मूल्य निर्धारित करनेमें इसका उतना महत्त्व नहीं होता जितना लोग समझते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि प्रकाशक बड़ा निःस्वार्थ परोपकारी होता है, बल्कि इसका कारण यह है कि बादवाले संस्करणोंपर लाभकी गुंजाइश बहुधा बहुत ज्यादा होती है क्योंकि यदि पहले संस्करणमें कम गुंजाइश रखनेके कारण बादमें और संस्करण छापनेकी जरूरत पड़े तो उसे उसकी अपेक्षा बहुत अधिक लाभ होगा जितना कि उसे पहले संस्करणमें पुस्तकके मूल्यमें कृत्रिम वृद्धि करनेसे होता। इस बातके अतिरिक्त, प्रकाशकपर कई दिशाओंसे मूल्य कम रखनेके लिए निरन्तर दबाव डाला जाता है और आम तौरपर (इसके बहुतसे अपवाद हैं) ऐसा करना उसीके हितमें होता है।

पुस्तकोंके मूल्यपर प्रभाव डालनेवाले सबसे बड़े उपादान, अर्थात् पुस्तक कितनी संख्यामें छापी गयी है, के अलावा [illegible] हैं जो पुस्तकके मूल्यपर अपना प्रभाव डालते हैं।

मेरा विचार है कि जिसने भी यह बात ध्यानसे पढ़ी है उसे यह बात स्पष्ट रूपसे समझमें आ गयी होगी कि—

(१) यदि हम किसी प्रकाशनको आर्थिक रूपसे [illegible] चाहते हैं तो उसका मूल्य उत्पादनकी लागत (अर्थात् [illegible] [illegible] और जिल्दसाजी) [illegible]

(२) यदि "[illegible]" [illegible] (इसे [illegible] [illegible] जाता है।)

[illegible]—[illegible]

[illegible] १९४८

दनका खर्च तीनगुना हो गया है और वितरण तथा विज्ञापनका खर्च भी बढ गया है—अभीतक पुस्तकोंके मूल्यमें इस अनुपातसे वृद्धि नहीं हुई है। **इस प्रकार पुस्तकें सापेक्षरूपसे सस्ती हैं।** इसका कारण यह है कि—

१. अब पुस्तकें अधिक संख्यामें बिकती है (इसलिए बडे संस्करण छापना सम्भव हो गया है)। पुस्तकोंकी माँग जितनी ही अधिक होती है वे उतनी ही सस्ती होती है–बशर्ते कागजका अभाव न हो।
२. प्रकाशक अब अपने लिए कम गुंजाइश रखने लगे है (बहुधा तो यह इतनी अपर्याप्त होती है कि हानिके अनिवार्य अनुपातको भी पूरा नहीं कर पाती)।
३. आम धारणाके विरुद्ध, सत्य यह है कि इधर पुस्तके कम प्रकाशित हुई है।

अब मै एक नयी समस्याको लेता हूँ, अर्थात्—

पुस्तकोंका अत्युत्पादन—"थोडी, पर अच्छी पुस्तकें" यह उन अमेरिकी नारोंमेंसे एक है जो सुननेमे तो बडे अच्छे मालूम होते है पर निरीक्षण करनेपर जिनका महत्त्व बिलकुल कम हो जाता है। यदि बात यों कही जाती कि "थोडे, पर अच्छे उपन्यास" तो इस विषयपर बहुत कुछ कहा जा सकता था, और बहुतसे लोग कहना भी यही चाहते है, लेकिन इसमे भी यह ध्यान रखना पडेगा कि बहुधा जिन उपन्यासोंकी सर्वसाधारणमें सबसे अधिक माँग होती है वे **सर्वोत्तम** उपन्यास नहीं होते। पुस्तक-व्यापारसे सम्बन्धित बहुतसे लोग इसका यह अर्थ निकालेंगे कि "न बिकनेवाली पुस्तके कम हों और धडाधड बिकनेवाली पुस्तकें अधिक हों।" परन्तु यह भी हमें अच्छा साहित्य तैयार करनेकी दिशामे ले जानेके बजाय इस उद्देश्यके विरुद्ध ले जायगा। यदि इस नारेको व्यावहारिक रूप दे दिया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ कम प्रकाशित होंगी और क्षणिक, जल्दी बिकनेवाला कचरा अधिक।

आदेशानुसार नहीं छापते, परन्तु वे शायद यह भूल जाते है कि अधिकांश प्रतिष्ठित लेखक ऐसी बुद्धिमानीकी नीति अपनाते हैं कि उन्हें किसी प्रकाशककी आर्थिक सहायताकी आवश्यकता नही होती और वे प्रकाशकको उससे ली गई सभी सेवाओका मूल्य चुका देते है और सारा मुनाफा अपने पास रख लेते है। बहुतसी प्रसिद्ध और अत्यन्त सफल पुस्तकें लेखकके आदेशानुसार प्रकाशित हुई हैं। मेरे पहले इस संस्थाके व्यवस्थापक द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंकी सूचीमें दो सबसे ज्यादा बिकनेवाली पुस्तकें—ऐसी पुस्तके जो कई वर्षोंसे मजेमे बिक रही है—अभी कुछ ही दिन पहलेतक लेखकके आदेशपर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकें थी। इसके विपरीत यदि हम अपनी निन्दा, लेखकके आदेशपर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकोंतक, सीमित रखनेका प्रयत्न करे, तो मुझे एडवर्ड कार्पेन्टरका अपनी पुस्तक **टुवर्ड्स डिमाक्रेसी** (जनवादकी ओर) के अनुभवका वृत्तान्त याद आ जाता है। मै नीचे उन्हींके शब्द दे रहा हूँ :[1]

"मैने दूसरी जगह इस बातका उल्लेख किया है कि इस पुस्तकके जन्मसे पहले सोच-विचार और वेदनाका कितना समय गुजरा; परन्तु संसारमे इसके पहली बार पदार्पण करनेके बाद भी इसकी विपदाओंका अन्त नहीं हो गया। पहला सस्करण, जिसे मैनचेस्टरके जान हेवुडने मेरे खर्चपर मुद्रित और प्रकाशित किया था, बिल्कुल ही असफल रहा। उस नवजात शिशुमें जीवनका कोई चिह्न ही दिखाई न देता था। समाचार-पत्रोंने पुस्तककी ओर कोई ध्यान ही न दिया था, उसकी हँसी उडायी। जिस वर्ष यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी उस वर्षके लन्दनके केवल एक समाचार-पत्रमें इस पुस्तकका उल्लेख मुझे मिला है और वह था पुराना छः पेनवाला **ग्राफिक** नामक पत्र (११ अगस्त, १८८३ का), जिसमें कहा गया था—और इसमे हल्केसे हास्यकी भी एक झलक मिलती है—कि इस पुस्तकके वाक्य हमे "एक पागल ऑलेनडार्फकी याद दिलाते हैं,

---

१. माई डेज एण्ड ड्रीम्स, लेखक एडवर्ड कार्पेन्टर (जार्ज अलेन एण्ड अनविन लिमिटेड)

और साथ ही नाटकके निर्देश भी दिये हुए हैं।" अन्तमें यह स्वीकार किया गया था कि "पुस्तक सचमुच रहस्यमय और अद्भुत है।"

यदि हम अपने आपको और सीमित कर लें, और यह कहें कि किसी भी हालतमें लेखकके खर्चेपर अवांछनीय उपन्यास न छपने चाहियें, तो मैं इस बातकी ओर ध्यान आकर्षित करानेपर बाध्य हूँ कि हमारे एक महानतम उपन्यासलेखककी पहली रचना इन्हीं परिस्थितियोंमें प्रकाशित हुई थी (वह एक कल्पित नामसे प्रकाशित हुई थी)। दूसरी परिस्थितियोंमें कदाचित् उस रचनाको कभी कोई प्रकाशक मिलता ही नहीं, क्योंकि वह बहुत ही अपरिपक्व रचना थी, इसकी बिल्कुल भी बिक्री नहीं हुई और वह कभी दुबारा प्रकाशित नहीं हुई। पर यदि वह प्रकाशित न होती तो क्या वह लेखक, जो आज प्रतिष्ठित हो गया है, कभी भी साहित्यिक रचनाको अपनी जीविका बनानेका प्रोत्साहन प्राप्त कर सकता था?

कुछ भी हो, मैं समझता हूँ कि यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि हमें यदि साहित्यके हितोंके प्रति सच्चा लगाव है तो हमें लेखकोंके खर्चेपर प्रकाशित असफल पुस्तकोंकी भी निन्दा करनेमें जल्दबाज़ीसे काम न लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त हमें यह न भूलना चाहिये कि यदि ऐसे प्रकाशनको मौकोंसे [illegible] रखा जाय जो व्यापारकी दृष्टिसे उनकी उपयोगिताके आधारपर उनपर पैसा लगानेको तैयार हो तो अनुसंधान-सम्बन्धी कई शिक्षापूर्ण रचनाएँ कभी प्रकाशित ही न हों।

अब ऐसे प्रकाशन रह गये जिनमें कोई मौलिक गुण नहीं होते, जिनमें भारी खर्च करनेका कोई आधार नहीं [illegible] और जिनकी कोई माँग नहीं होती। यद्यपि इन किताबोंके [illegible] और [illegible] जाते हैं पर ऐसी पुस्तकें [illegible]

इन कितावोंके गुण-अवगुणकी छानवीन करनी पड़ती है; परन्तु यदि वह केवल प्रकाशकके नामपर दृष्टि डाल ले तो उसे बहुधा सभी आवश्यक बातोंका पता चल जायगा। ऐसी पुस्तकोंपर पुस्तक-बिक्रेताको न अधिक समय खर्च करना पडता है, न अधिक स्थान। जब कभी उनके लिए आर्डर आता है तो वह उन्हे मँगवा लेता है। बहुधा ऐसी पुस्तकोंकी कुल प्रतियोंके केवल थोडेसे ही भागकी जिल्द बँधवायी जाती है और उन प्रतियोंको छोडकर जो समालोचनार्थ भिजवायी जाती हैं या शायद चालीस या पचास प्रतियाँ जो लेखकके मित्रों और सगे-सम्बन्धियोंके बीच बिक जाती हैं, ऐसी पुस्तकोंकी बहुत थोडी-सी प्रतियाँ ही पाठकोंके पासतक पहुँच पाती है। एक या दो वर्ष बाद बिना जिल्द बँधी हुई प्रतियाँ या तो रद्दीमें बेच दी जाती हैं या उन्हे दूसरे प्रकाशनोंके पैकेट बाँधनेके लिए प्रयोग कर लिया जाता है। इसलिए, प्रतिवर्ष इस प्रकारकी जो कुछ सौ पुस्तकें प्रकाशित होती है उनके कारण साहित्य-समालोचकों और इक्का-दुक्का पुस्तक-विक्रेताओंको छोड़कर शायद ही किसीके लिए कोई बडी समस्या या किसी प्रकारकी भी समस्या उपस्थित होती हो। पैसा खर्च करनेका उपाय भी मुझे उन बहुतसे दूसरे उपायोंकी अपेक्षा कुछ बहुत अच्छा या बहुत बुरा प्रतीत नही होता जिनके बारेमें कोई ज्यादा चिन्ता प्रकट नही करता। लेकिन यह बात अपनी जगह पर सत्य है कि इस प्रकारकी पुस्तकोंका प्रकाशन बन्द करनेके लिए चाहे जो उपाय भी किये जायँ पर हमारे बीच कुछ सौ लोग हमेशा ऐसे होगे जिनको अपने बारेमे यह भ्रम होगा कि उनका साहित्यिक प्रयास सर्वोत्कृष्ट कलाकृति है और परिणाम या लागतकी ओर ध्यान दिये बिना उसे प्रकाशित होना ही चाहिये (बहुधा वे इस भुलावे में रहते है कि उनकी पाण्डुलिपियाँ वापस कर देनेका कारण केवल यह है कि प्रकाशकोंने उनके खिलाफ कोई गुप्त षडयन्त्र रच रखा है)।

लेकिन एक प्रकारका अत्युत्पादन और होता है जिसका उल्लेख बहुत कम किया जाता है पर जिसका परिणाम कुछ प्रसंगोंमे बहुत

गम्भीर होता है। मान लीजिये कि किसी पुस्तककी माँगको देखते हुए उसका तीन हजार प्रतियोंका संस्करण आवश्यक होता है, तो यह स्पष्ट है कि तीस हजार प्रतियाँ छापनेका कोई अर्थ नहीं है, यद्यपि यह बात सच है कि तीस हजार प्रतियाँ छापनेपर हर प्रतिका मूल्य तीन हजार प्रतियाँ छापनेकी अपेक्षा कई गुना कम होगा। मैं एक ऐसी प्रकाशन-संस्थाको जानता हूँ, जिसका कारोबार अब बन्द हो चुका है, जिसे अभी हालमें इसी प्रकारके अत्युत्पादनके कारण ३०,००० पौंडका घाटा उठाना पड़ा। यदि उनका सारा फालतू स्टाक बाजारपर थोप दिया जाता तो पुस्तक-विक्रयके व्यापारमें उथलपुथल जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती। इसका बहुत बड़ा भाग तो रद्दीमें बेच दिया गया, इसलिए नहीं कि उसमें अच्छी किताबें नहीं थीं—उनमेंसे कुछ पुस्तकें तो बहुत ही श्रेष्ठ प्रकारकी थीं और अत्यन्त सुन्दर छपी हुई थीं—बल्कि इसलिए कि उनकी संख्या बाजारकी अधिकतम खपतसे भी बहुत ज्यादा थी।

अपर्याप्त बिक्री—यद्यपि मैं यह माननेपर बाध्य हूँ कि प्रकाशित होनेवाली बेकार पुस्तकोंकी संख्या बहुत ज्यादा है फिर भी समस्या अधिकतर अत्युत्पादनकी नहीं बल्कि बहुधा कम खपतकी, या जिसे उचित शब्दोंमें अपर्याप्त बिक्री कहा जा सकता है, होती है। अधिकांश लोगोंने अभीतक पुस्तकोंको जीवनकी एक आवश्यकता समझना नहीं सीखा है। वे भीख माँगकर पुस्तकें पढ़ेंगे, उधार लेकर पढ़ेंगे, वे कुछ भी कर लेंगे पर खरीदेंगे नहीं। ये लोग जिन्होंने [illegible] हुए सभी जानते हैं, एक वक्तके भोजनपर दस शिलिंग खर्च कर देंगे, या सिगरेटका [illegible] शिलिंग का टिकट खरीद लेंगे, परन्तु किसी पुस्तक पर जो जन्मभर उनके काम देगी, वे पाँच शिलिंग खर्च करनेसे [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इन किताबोंके गुण-अवगुणकी छानबीन करनी पड़ती है; परन्तु यदि वह केवल प्रकाशकके नामपर दृष्टि डाल ले तो उसे बहुधा सभी आवश्यक बातोंका पता चल जायगा। ऐसी पुस्तकोंपर पुस्तक-विक्रेताको न अधिक समय खर्च करना पड़ता है, न अधिक स्थान। जब कभी उनके लिए आर्डर आता है तो वह उन्हें मँगवा लेता है। बहुधा ऐसी पुस्तकोंकी कुल प्रतियोंके केवल थोड़ेसे ही भागकी जिल्द बँधवायी जाती है और उन प्रतियोंको छोड़कर जो समालोचनार्थ भिजवायी जाती हैं या शायद चालीस या पचास प्रतियाँ जो लेखकके मित्रों और सगे-सम्बन्धियोंके बीच बिक जाती हैं, ऐसी पुस्तकोंकी बहुत थोड़ी-सी प्रतियाँ ही पाठकोंके पासतक पहुँच पाती है। एक या दो वर्ष बाद बिना जिल्द बँधी हुई प्रतियाँ या तो रद्दीमें बेच दी जाती हैं या उन्हें दूसरे प्रकाशनोंके पैकेट बाँधनेके लिए प्रयोग कर लिया जाता है। इसलिए, प्रतिवर्ष इस प्रकारकी जो कुछ सौ पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनके कारण साहित्य-समालोचकों और इक्का-दुक्का पुस्तक-विक्रेताओंको छोड़कर शायद ही किसीके लिए कोई बड़ी समस्या या किसी प्रकारकी भी समस्या उपस्थित होती हो। पैसा खर्च करनेका उपाय भी मुझे उन बहुतसे दूसरे उपायोंकी अपेक्षा कुछ बहुत अच्छा या बहुत बुरा प्रतीत नहीं होता जिनके बारेमें कोई ज्यादा चिन्ता प्रकट नहीं करता। लेकिन यह बात अपनी जगह पर सत्य है कि इस प्रकारकी पुस्तकोंका प्रकाशन बन्द करनेके लिए चाहे जो उपाय भी किये जायँ पर हमारे बीच कुछ सौ लोग हमेशा ऐसे होंगे जिनको अपने बारेमें यह भ्रम होगा कि उनका साहित्यिक प्रयास सर्वोत्कृष्ट कलाकृति है और परिणाम या लागतकी ओर ध्यान दिये बिना उसे प्रकाशित होना ही चाहिये (बहुधा वे इस भुलावे में रहते हैं कि उनकी पाण्डुलिपियाँ वापस कर देनेका कारण केवल यह है कि प्रकाशकोंने उनके खिलाफ कोई गुप्त षडयन्त्र रच रखा है)।

लेकिन एक प्रकारका अत्युत्पादन और होता है जिसका उल्लेख बहुत कम किया जाता है पर जिसका परिणाम कुछ प्रसंगोंमें बहुत

गम्भीर होता है। मान लीजिये कि किसी पुस्तककी माँगको देखते हुए उसका तीन हजार प्रतियोंका संस्करण आवश्यक होता है, तो यह स्पष्ट है कि तीस हजार प्रतियाँ छापनेका कोई अर्थ नहीं है, यद्यपि यह बात सच है कि तीस हजार प्रतियाँ छापनेपर हर प्रतिका मूल्य तीन हजार प्रतियाँ छापनेकी अपेक्षा कई गुना कम होगा। मैं एक ऐसी प्रकाशन-संस्थाको जानता हूँ, जिसका कारोबार अब बन्द हो चुका है, जिसे अभी हालमें इसी प्रकारके अत्युत्पादनके कारण ३०,००० पौंडका घाटा उठाना पड़ा। यदि उनका सारा फालतू स्टाक बाजारपर थोप दिया जाता तो पुस्तक-विक्रयके व्यापारमें दलदल जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती। इसका बहुत बड़ा भाग तो रद्दीमें बेंच दिया गया, इसलिए नहीं कि उसमें अच्छी किताबें नहीं थीं—उनमेंसे कुछ पुस्तकें तो बहुत ही श्रेष्ठ प्रकारकी थीं और अत्यन्त सुन्दर छपी हुई थीं—बल्कि इसलिए कि उनकी संख्या बाजारकी अधिकतम खपतसे भी बहुत ज्यादा थी।

अपर्याप्त बिक्री—यद्यपि मैं यह माननेपर बाध्य हूँ कि प्रकाशित होनेवाली बेकार पुस्तकोंकी संख्या बहुत ज्यादा है फिर भी समस्या अधिकतर अत्युत्पादनकी नहीं बल्कि बहुधा कम खपतकी, या जिसे उचित शब्दोंमें अपर्याप्त बिक्री कहा जा सकता है, होती है। अधिकतर लोगोंने अभीतक पुस्तकोंको जीवनकी एक आवश्यकता समझना नहीं सीखा है। वे भीख माँगकर पुस्तकें पढ़ेंगे, उधार लेकर पढ़ेंगे, वे कुछ भी कर लेंगे पर खरीदेंगे नहीं। वे लोग जिन्हें किसीसे कोई चीज लेते हुए शर्म आती है, एक वक्तके भोजनपर दस शिलिंग खर्च कर देंगे, या थिएटरका १२½ शिलिंग का टिकट खरीद लेंगे, परन्तु किसी पुस्तक पर जो जन्मभर उनके पास रहेगी, वे पाँच शिलिंग खर्च करनेसे पहले तीन बार नहीं तो दो बार तो अवश्य सोच-विचार करेंगे। यह बात कि इंग्लैंडके लोग स्कैन्डीनेवियन देशोंके लोगोंकी अपेक्षा—जनसंख्याके प्रति-मनुष्यकी औसतके हिसाबके अनुसार—पुस्तकों पर बहुत कम खर्च करते हैं और यह बात कि हमारे यहाँ ऐसे पुस्तक-विक्रेताओंकी संख्या

भी अपेक्षाकृत कम है जिनके यहाँ अधिकसे अधिक पुस्तकें मिल सकें, इस बातका प्रमाण है कि यद्यपि पुस्तकोंकी माँग काफी बढ गयी है पर अब भी प्रचुर उन्नतिकी गुंजाइश है।[1] पुस्तक प्रेमियोंको चाहिये कि वे अत्युत्पादनकी तथ्यहीन बकवासकी ओर ध्यान न दे और उन नये पाठकोंको प्रोत्साहित करनेपर अपना ध्यान केन्द्रित करें जिनकी संख्या प्रतिदिन हमारी आँखोंके सामने बढती जा रही है[2]। इस बातका उत्तर-दायित्व कुछ मात्रामें हम सबपर है कि अच्छी और अधिक मात्रामें पुस्तकें नही पढी जा रही हैं। दूसरे महायुद्धके कालमें हमारे नवयुवकोंमें पुस्तके पढनेके आनन्दका आभास जाग्रत हुआ। उन्हे अंग्रेजी साहित्यके अगाध भण्डारका ज्ञान हुआ तो वे पुस्तकोंके लिए व्याकुल हो उठे और सर्वश्रेष्ठ

---

१. श्री हैरोल्ड रेमन्ड द्वारा एकत्र किये गये ऑकड़ोको देखकर यह अन्दाजा होता है कि इस दिशामें कितनी गुजाइश है। श्री हैरोल्डने हिसाब लगाया है कि इग्लैडका एक औसत व्यक्ति, पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो सभीको जोड़कर, प्रति सप्ताह शराब और तम्बाकूपर कुल मिलाकर ९½ शिलिंगसे अधिक व्यय करता है, जब कि पुस्तको-पर इसी औसत व्यक्तिका खर्च २ पेंस प्रति सप्ताह होता है। यदि पुस्तकोपर प्रति व्यक्ति औसत खर्च एक दैनिक पत्रके बराबर भी होता तो पुस्तक-व्यापार तीनगुनेसे अधिक बढ जाता।

[हिज मैजेस्टीज स्टेशनरी आफिस द्वारा हालमे प्रकाशित "इग्लैडमें राष्ट्रीय आय और खर्च १९३८-१९४५" नामक एक पुस्तिकाके परिशिष्टमे बताया गया है कि १९४५ मे मादक पेयोपर ६८ करोड ५० लाख पौड, तम्बाकूपर ५४ करोड ८० लाख पौंड और पुस्तकोंपर २ करोड ३० लाख पौड व्यय किये गये।] यह इग्लैडकी स्थिति है। भारतमे तो पुस्तकोपर, तुलनात्मक दृष्टिसे, शायद इसका पचासवाँ हिस्सा भी खर्च नही किया जाता।

२. श्री सिडनी डार्ककी पुस्तिका दि न्यू रीडिंग पब्लिक देखिये—जार्ज अलेन एण्ड अनविन लिमिटेट।

पुस्तकोंकी माँग करने लगे परन्तु सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ या तो अप्राप्य थीं या बहुत थोडी संख्यामें प्राप्य थीं ।

परन्तु यह हमारे विषयसे अलगकी बात है। हम यह देख चुके हैं कि पुस्तकके सम्भावित मूल्यका अनुमान किस प्रकार लगाया जाता है और अब हम लेखकके साथ समझौता करनेकी समस्यापर विचार करेंगे। जैसा कि बताया जा चुका है, यह समझौता बहुत-से लोग सावधानीके साथ अनुमान आदि तैयार करनेसे पहले ही (जिसकी रूप-रेखा दूसरे अध्यायमें दी गयी है) कर लेते हैं ।

चौथा अध्याय

समझौते (अनुबन्ध)

क्या लिखापढीका समझौता जाब्तेसे कर लेना वांछनीय है ? क्या जवानी समझोता काफी नही है, जिसे, यदि आवश्यक हो तो, पत्र-व्यवहार द्वारा पक्का कर लिया जाय ? मै नही समझता कि किसी भी ऐसे व्यक्तिको, जिसे प्रकाशनका काफी अनुभव है, इस प्रश्नका उत्तर देनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई होगी। बाकायदा लिखापढ़ी केवल उचित ही नहीं वल्कि आवश्यक है और इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह कि समझौता बाकायदा तैयार किया गया है तो उससे यथासम्भव स्पष्ट रूपसे यह पता चल जाता है कि क्या-क्या बाते तय हुई है। इसलिए लेखक और प्रकाशकके बीच जो बाते तय हुई है उनको पूरा करनेका भार जिन अनेक लोगोपर होता है उनके निर्देशनके लिए यह समझौता या अनुबन्ध सबसे अधिक व्यावहारिक साधनका काम देता है। यदि वह सारी बातें इस लिखित समझोतेके रूपमे मौजूद न हो, तो प्रकाशककी संस्थाकी व्यवस्थाको कुशलतापूर्वक चलानेके लिए इन्हें कहीं लिख लेना पडेगा। इस विषयमे मेरे विचार वहुत दृढ हैं, क्योंकि समय-समयपर जिन व्यापार-संस्थाओंसे मेरा सम्बन्ध रहा है उनमें एक संस्था ऐसी भी थी जिसमे समझौतेकी लिखापढी न करना ही नियम था और यदि कभी लिखापढी की भी जाती थी तो वह इतनी "सीधी-सादी" होती थी कि उससे किसी वातका पता ही नही चलता था। उस व्यापार-संस्थाके मालिकका कहना था कि उसे कभी किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं हुई। लेखक हमेशा उसपर विश्वास करते थे और विश्वास न करनेका कोई कारण भी नहीं था क्योंकि वे वहुत ही शरीफ आदमी थे और जब वे कानूनकी दृष्टिसे एक पाई भी देनेके लिए वाध्य नहीं होते थे तब भी वे अपने कर्जख्वाहोंको रुपयेमें सोलह आने चुका देते

थे। परन्तु उन्होंने यह बात कभी नहीं सोची कि जब उनके उत्तराधिकारियों को लेखकोंके वकीलोंसे निपटना पड़ेगा तो क्या होगा, जब उन्हे इस बातका लेशमात्र भी अनुमान न होगा कि हमारे क्या-क्या अधिकार और क्या-क्या कर्तव्य है। यदि किसीको इस प्रकारके दस-बीस झगडोंको सुलझाना पड़े तो उसकी समझमें आ जायगा कि लिखापढ़ीके रूपमे समझौता कर लेनेका क्या लाभ होता है। परन्तु और भी कई कारण हैं। यह आवश्यक है कि समझौतेसे सम्बन्ध रखनेवाले दोनो पक्षोको यह स्पष्ट रूपसे ज्ञात हो कि वे एक दूसरेको क्या अधिकार दे रहे हैं। ये बाते अस्पष्ट रखनेके कारण जितनी जल्दी गड़बड़ पैदा होती है, उतनी और किसी चीजसे नहीं होती और पत्र-व्यवहार द्वारा जो समझौते होते है उनमें यही बातें प्रायः हमेशा बिना तय किये ही छोड दी जाती है। यह कह देना तो बहुत आसान है कि "जब यह समस्या आयेगी तब हम इसका निर्णय कर लेंगे," परन्तु समस्या उठ खडी होनेपर उसे सुलझाना टेढ़ी-खीर हो जाता है। लिखित समझौता या अनुबन्ध कर लेनेसे दोनो पक्ष आरम्भमें ही सब समस्याओंपर विचार कर लेनेपर बाध्य होते है; यदि वे उस समय सहमत नहीं हो सकते तो सम्भावना इसी बातकी है कि वे कभी सहमत न होंगे।

सबसे अधिक महत्त्वकी बात यह है कि लेखक जिन बातोंको प्रकाशकके साथ तय करें उन्हें अच्छी तरह समझ ले। और अब जब कि उन्हे बर्नड शॉके शब्दोंमे उनके "ट्रेड यूनियन"—दि सोसाइटी आफ आथर्स (लेखकपरिषद्)—का समर्थन प्राप्त है तो कोई कारण नहीं है कि वे सभी आवश्यक तथ्योंके विषयमे जानकारी प्राप्त न कर ले। परन्तु इसकी सम्भावना है कि लोग एक बातकी ओर ध्यान न दे, वह यह कि प्रतिष्ठित संस्थाके साथ कम लाभदायक समझौता करना एक बेईमान संस्थाके साथ पक्का समझौता करनेकी अपेक्षा कहीं अच्छा है। सम्भव है कि जो समझौता एक पक्षके दृष्टिकोणसे आदर्श हो वही दूसरे

पक्षके लिए असन्तोषजनक हो। यदि कोई प्रकाशक हमेशा ऐसे समझौते कर लेता है जिनके विरुद्ध लेखकके दृष्टिकोणसे सिद्धान्तमे कोई आपत्ति न की जा सके तो यह समझना चाहिये कि या तो उस समझौतेको पूरा करनेकी वास्तवमे कोई इच्छा नही है और यदि उसकी नीयत खराब नहीं है तो वह कुछ समय बाद अपने आपको निश्चय ही इस दशामें पायेगा कि वह उन शर्तोंको पूरा न कर सके—जबतक उसे उत्तराधिकारमे बहुत बडा धन न मिल जाय या उसके पास धनका अकूत भण्डार न हो। मै इस विषयकी चर्चा बादमे फिर करूँगा।

"आथर्स सोसाइटी" (लेखकपरिषद्) की इस माँगसे मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि "हिसाब-किताबके जो खाते लेखककी सम्पत्ति है उन्हे जाँचनेका उसे अधिकार हो," और मै इस बातकी निन्दा करता हूँ कि वे अपने इस "अधिकार" को बहुत ही कम अवसरोपर व्यावहारिक रूप देते है। यदि समय-समयपर इस प्रकारके अधिकृत वक्तव्य निकाले जा सके कि अमुक प्रकाशकके हिसाब-किताबकी जाँच की गयी थी और वह ठीक ही नहीं प्रमाणित हुआ बल्कि बहुत अच्छे ढंगसे रखा गया है, तो विश्वासकी भावना पैदा करनेके लिए कोई दूसरी चीज इतनी सफल नही हो सकती।[1] पब्लिशर्स असोसिएशन (प्रकाशकमण्डल) की सिफारिश है कि एक विशेष धाराके द्वारा यह अधिकार लेखकको स्पष्ट शब्दोमे दे दिया जाय। परन्तु क्या मै एक संशोधन प्रस्तावित कर सकता हूँ? जो व्यक्ति इस अधिकारको व्यावहारिक रूप दे उसे बही-खाते रखनेका प्राथमिक ज्ञान अवश्य हो। मेरे विचारमे यह काम प्रकाशकका नहीं है कि वह लेखकोको बही-खाते रखनेके मूल सिद्धान्तोंकी शिक्षा दे, यद्यपि मुझे इस कामपर कई बार कई घण्टे खर्च करने पड़े

१. बहुतसे अमेरिकी और कुछ ब्रिटिश प्रकाशक अपना रायल्टीका हिसाब किसी चार्टर्ड एकाउण्टेण्टसे बाकायदा प्रमाणित करवाकर प्रकाशित करते है; परन्तु यदि इस हिसाबमे पुस्तकोंके स्टाकका हिसाब न हो तो ऐसा प्रमाणपत्र कुछ उदाहरणोंमे बिलकुल निरर्थक होता है।

हैं। यह भी आशा नही की जा सकती कि लेखक स्वयं इस प्रकारकी बातोंमें अपना दिमाग लडाये। मै केवल यह सुझाव रखता हूँ कि यदि वे हिसाब-किताबको गोरख-धन्धा समझते है तो उन्हे चाहिये कि वे अपनी तरफसे जॉच करनेके लिए किसी ऐसे व्यक्तिको नियुक्त कर दे जिसे हिसाब-किताबका ज्ञान हो। "आथर्स सोसाइटी" ने एक हिसाब-किताबका विभाग कदाचित् इसी उद्देश्यसे खोला है कि लेखकोको इस प्रकारकी जिम्मेदारी और परेशानीसे बचाया जा सके।

न जाने क्यो मै कभी इसका कारण न जान सका, परन्तु कुछ लेखक होते हैं जिन्हे स्वभावतः यह विश्वास होता है कि गणितके नियम प्रकाशकोपर लागू नही होते, वे समझते हैं कि यदि किसी दूसरेके हिसाब मे "खर्च ३०० पौण्ड, कुल वसूली २०० पौण्ड" दिखायी गयी हो तो इसका अर्थ होता है कि उसे १०० पौण्डका घाटा हो गया, परन्तु यदि यही बात किसी प्रकाशकके हिसाबमे है तो उसे बहुत ज्यादा लाभ हुआ है। शायद इसका कारण यह है लि लेखकोका स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि वे यह बात स्वीकार करनेको तैयार नहीं होते कि उनकी सन्तानमें भी किसी प्रकारकी खराबी होनेकी सम्भावना है। लेखक और उसकी पुस्तकका यही विलक्षण सम्बन्ध वह कारण है जो प्रकाशनको दूसरे व्यवसायोसे भिन्न बना देता है और इसी कारणवश यह व्यवसाय रोचक भी है और साथ ही कठिन भी।

लेखको और प्रकाशकोके बीच समझौते या अनुबन्ध चार प्रकारके होते है; अन्य सभी प्रकारके समझोते इन्ही चारके मेलसे बनते हैं। चार प्रकारके समझौते ये है—

१. कापीराइटका अधिकार पूरी तरह प्रकाशकको बेच देना—यह समझोता लेखकके लिए बहुत ही बुरा साबित हो सकता है और प्रकाशकके लिए तो निश्चितरूपसे बुरा साबित होता है क्योंकि यदि पुस्तक असफल हुई तो प्रकाशकके साथ कोई सहानुभूति भी न प्रकट करेगा, लेखकसे वह रकम वापस मिलनेका तो कोई सवाल ही

नहीं जो बिक्रीको देखते हुए उसे ज्यादा मिल चुकी है। इसके विपरीत यदि पुस्तक सफल हुई तो लेखक निश्चय ही इस समझौतेके अन्यायकी निन्दा करेगा और अधिक रायल्टीके लिए झगडा करेगा। यह तरीका आजकल बहुत ही कम प्रयुक्त होता है। परन्तु कुछ बातें इस तरीकेके पक्षमें भी हैं।

किसी अन्य प्रकारके समझौतेमें प्रकाशकको पुस्तककी साहित्यिक सामग्रीका यथासम्भव प्रयोग करने और पुस्तकको बेचनेकी हर सम्भव कोशिश करनेकी इतनी आजादी नहीं मिलती। किसी दूसरी योजनामें प्रकाशकको विज्ञापन देनेकी इतनी प्रेरणा नहीं मिलती जितनी इस योजनामें। वास्तवमें, यदि लेखक किसी ख्यातिप्राप्त साहसी संस्थाके साथ समझौता करे तो यह बिलकुल सम्भव है कि शुरूमें एक या सम्भवतः दो रचनाएँ बिलकुल बेच देनेके कारण उसे जितनी हानि हो वह सब आगे चलकर पूरी ही न हो जाय बल्कि उसे कुछ लाभ ही हो। उसके बादवाली पुस्तकोंपर उसे सन्तोषका फल मिल जायगा क्योंकि उसकी पुस्तकोंकी माँग उस समयतक स्थापित हो चुकी होगी।

२. लाभमें साझेका समझौता

"आथर्स सोसाइटी" ने इस तरीकेको "एक बुरे प्रकारका समझौता" कहा है। मुझे प्रतीत होता है कि बात बिना अधिक विचार किये ही कह दी गयी है। पिछले जमानेमें प्रकाशकोंने इस तरीकेका दुरुपयोग किया है, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अब यह तरीका बदनाम हो गया है। इस दृष्टिसे तो इस तरीकेको समझौता करनेका बुरा तरीका कहा जा सकता है कि रायल्टीके तरीकेकी अपेक्षा इस तरीकेका दुरुपयोग ज्यादा आसानीसे किया जा सकता है; परन्तु यदि इसे ईमानदारीसे बरता जाय तो कुछ विशेष प्रकारकी पुस्तकोंके लिए इस तरीकेकी उपयोगिताके पक्षमें बहुत कुछ कहा जा सकता है। किसी दूसरे तरीकेकी अपेक्षा इस तरीकेमें प्रकाशकको हिसाब देनेके लिए अधिक मेहनत करनी पडती है और लेखकको भी पुस्तक छापकर तैयार करनेकी लागतके बारेमें अधिक

ज्ञान हो जाता है। वास्तवमे, यदि यह हिसाब उतने विस्तारपूर्वक पेश किया जाय जितनेका कि मेरी रायमे लेखकको अधिकार है तो यह नव-युवक लेखकोंके लिए इतना काफी शिक्षाप्रद हो सकता है कि इस पद्धतिके अनुसार एक पुस्तक प्रकाशित न करवाना एक बहुत बडे अनुभवसे वंचित रह जाना है।

कुछ भी हो, जहाँतक सिद्धान्तका सम्बन्ध है यह आधार बिलकुल न्यायोचित है क्योंकि जबतक पुस्तकको छापकर तैयार करनेकी लागत और विज्ञापनका खर्च न निकल आये तबतक लाभका कोई प्रश्न ही नहीं उठता और उसके बाद फिर यही प्रश्न रह जाता है कि यह लाभ किस अनुपातसे बाँटा जाय। वास्तवमे यह एक ऐसी साझेदारी है जिसमे दोनों भागीदारोंके हित सर्वथा समान होते है; परन्तु लेखकको प्रकाशकके साथ साझेदारी करनेके लाभ और हानि दोनोंमे बराबरका साझीदार होना पडता है। (मै यह मानकर चल रहा हूँ कि दोनो पक्ष समझौतेको ईमानदारीके साथ पूरा कर रहे हैं। इसमे सम्भवतः क्या-क्या बेईमानियाँ हो सकती है, उनका भी उल्लेख मै अभी करूँगा।) इस तरीकेकी सबसे बडी कमजोरी मुझे इस बातमें दिखाई पडती है कि जो लाभ होता है उसके मिलनेका समय निश्चित नही होता। एक ठोस उदाहरणके आधारपर यह बात आसानीसे समझमे आ जायगी। रायल्टी-की पद्धतिमे यदि किसी पुस्तककी २,००० प्रतियाँ प्रकाशित की जायें और प्रति वर्ष उसकी ५०० प्रतियाँ बिकें तो लेखककी आमदनी नियमित रहेगी। आधे-साझेके समझौतेमे पहले वर्ष कोई लाभ न होगा, बिक्रीसे जो कुछ वसूल होगा वह २,००० प्रतियोंकी छपाईकी लागत और (समझ लीजिये) १,००० प्रतियोंकी जिल्द बँधाईके खर्चमे चला जायगा। दूसरे वर्षके अन्तमें बाकी हजार प्रतियोपर जिल्द बँधवानी पडेगी और इस वर्ष जो लाभ होगा उसका बहुत बडा भाग इसमे खर्च हो जायगा। लेकिन तीसरे और चौथे वर्षमे अत्यधिक लाभ होगा और लेखक तथा प्रकाशक दोनोंको अपने सन्तोषका फल मिल जायगा। परन्तु इतने

समयतक लेखकको जीवित भी तो रहना चाहिये और यदि उसके पास कोई दूसरा साधन नही है तो उसे इस बातसे सान्त्वना नहीं मिल सकती कि इस तरीकेसे पुस्तक प्रकाशित करवानेमे उसे आगे चलकर बहुत लाभ होगा।

इस कारण लाभमे साझेका समझौता बहुधा प्रयोगमे नहीं आता, परन्तु कुछ अवसर ऐसे होते है जब इस प्रकारका समझौता दोनो पक्षोके लिए आदर्श होता है। उदाहरणके लिए, बहुत-सी विद्वत्तापूर्ण रचनाएं ऐसी होती है जो मूलतः पैसा कमानेके विचारसे नही लिखी जाती परन्तु जिनके प्रकाशनसे लेखकको विद्वान् होनेका सम्मान या किसी उच्चपदके रूपमे काफी लाभ हो सकता है। मुझे एक लेखकका उदाहरण याद है जिनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाकी तीस वर्षकी बिक्रीसे जो कुछ मिला उससे जाकर उस पुस्तककी छपाईकी पूरी लागत वसूल हो पायी लेकिन जिस दिन उनको लाभमे उनके हिस्सेकी पहली किश्त मिली उसके दूसरे ही दिन वह मेरे पास यह कहने आये कि यह भी एक मनोरंजक संयोग था कि यह रकम उनके पास उसी दिन पहुँची थी जिस दिन उन्होंने प्रोफेसरीके उस पदसे अवकाश ग्रहण किया था जो उन्हे उस पुस्तकके प्रकाशनके फलस्वरूप मिला था। (उस धैर्यवान प्रकाशकको तीस वर्ष-तक पैसोंकी दिक्कत उठानी पडी और उसे इस अव्यापारिक कृत्यका कोई श्रेय भी नही मिला।)

इसी प्रसंगमे मै यह भी बता देना उचित समझता हूँ कि इस प्रकारके समझौतोंकी जितनी भी आलोचनाएं मैंने पढी है उनमे यह मानकर चला गया है कि समझौतेके छपे हुए फार्म केवल उपन्यासोंको दृष्टिमे रखकर छपवाये गये थे। वास्तवमे, पुस्तक-व्यापारसे सम्बन्धित विषयोंपर जो भी बहस होती है उससे यह मालूम होता है कि लोग जानते-समझते हुए अथवा अनजानेमें यह समझते हैं कि उपन्यासोंके अतिरिक्त और कोई पुस्तकें प्रकाशित ही नहीं होतीं या कमसे कम उपन्यास ही ऐसी पुस्तकें है जिनपर विचार करना चाहिये। नयी प्रकाशित पुस्तकोंके

इंग्लैण्ड केवल एक छोटा देश होनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि यह बात कितनी निरर्थक है। यह सच है कि किसी एक कोटिके पुस्तकोंकी संख्याको देखते हुए उपन्यासोंका नाम सबसे पहले आता है परन्तु उपन्यासोंकी संख्या कुल नयी पुस्तकोंकी संख्याके आधेके लगभग बराबर होती है। किसी उपन्यासके सम्बन्धमें किये गये समझौतेके बारेमें एक आलोचना सर्वथा उचित हो सकती है पर वही आलोचना किसी दूसरी कोटिकी पुस्तकोंके सम्बन्धमें अनुचित भी हो सकती है। [illegible] आधारपर किया गया समझौता एक सफल उपन्यासके लिए अनुचित हो सकता है पर वही समझौता किसी दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी रचनाके लिए सर्वथा उचित हो सकता है।

दुरुपयोग:—१. उत्पादनकी लागत बहुत ज्यादा लगायी जा सकती है। इसलिए समझौतेमें यह लिखा होना चाहिये कि छपाई, कागज, जिल्द-बँधाई आदिका खर्च प्रेस, कागजवाले और जिल्दसाजके बिलोंमें दी हुई रकमके अनुसार लिया जायेगा और यह रकम उससे ज्यादा न होगी जितनी कि प्रकाशकने वस्तुतः अपनी जेबसे खर्च की है। यदि छपाई और जिल्दसाजी प्रकाशकके यहाँ ही होती है तो प्रकाशकको इस बातका आश्वासन देना चाहिये कि वह दूसरी जगहोंकी दरके बराबर ही खर्च लगायेगा।

२. पिछले जमानेमें जब पुस्तक-प्रकाशक एक या अधिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करते थे तो वे इन पत्रिकाओंमें विज्ञापन देनेका खर्च अपनी जेबमें आसानीसे डाल सकते थे। लेखकको इस चीजपर रोक लगानेका अधिकार होना चाहिये।

३. "दफ्तरके खर्च"के लिए रकम (यदि कोई खर्च हो)। यह अवश्य ही एक विवादग्रस्त प्रश्न है और इसके पक्षमें तथा इसके विपक्षमें भी बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं। एक जमानेमें मेरा विचार था कि "आथर्स सोसाइटी" की यह माँग उचित है कि यह खर्च नहीं जोड़ना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि यदि प्रकाशकको "ओवरहेड"

समयतक लेखकको जीवित भी तो रहना चाहिये और यदि उर
कोई दूसरा साधन नही है तो उसे इस बातसे सान्त्वना न
सकती कि इस तरीकेसे पुस्तक प्रकाशित करवानेमे उसे आगे
बहुत लाभ होगा।

इस कारण लाभमे साझेका समझौता बहुधा प्रयोगमे न
परन्तु कुछ अवसर ऐसे होते है जब इस प्रकारका समझौता दो
लिए आदर्श होता है। उदाहरणके लिए, बहुत-सी विद्वत्ताप
ऐसी होती है जो मूलतः पैसा कमानेके विचारसे नही लिखी ज
जिनके प्रकाशनसे लेखकको विद्वान् होनेका सम्मान या किर
रूपमे काफी लाभ हो सकता है। मुझे एक लेखकका उदा
जिनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाकी तीस वर्षकी बिक्रीसे जो कुछ
जाकर उस पुस्तककी छपाईकी पूरी लागत वसूल हो पायी
दिन उनको लाभमे उनके हिस्सेकी पहली किश्त मिली उ
दिन वह मेरे पास यह कहने आये कि यह भी एक मन
था कि यह रकम उनके पास उसी दिन पहुँची थी जिर
प्रोफेसरीके उस पदसे अवकाश ग्रहण किया था जो उन्हे
प्रकाशनके फलस्वरूप मिला था। (उस धैर्यवान प्रकाश
तक पैसोकी दिक्कत उठानी पडी और उसे इस अव्यापारि
श्रेय भी नही मिला।)

इसी प्रसंगमे मैं यह भी बता देना उचित सर
प्रकारके समझौतोकी जितनी भी आलोचनाएँ मैने प
मानकर चला गया है कि समझौतेके छपे हुए फार्म वे
दृष्टिमे रखकर छपवाये गये थे। वास्तवमे, पुस्तक-व्य
विषयोपर जो भी बहस होती है उससे यह मालूम
जानते-समझते हुए अथवा अनजानेमे यह समझते है
रिक्त और कोई पुस्तके प्रकाशित ही नही होती या क
ऐसी पुस्तके है जिनपर विचार करना चाहिये। न

जाती है। यदि एक पुस्तकपर एक विशेष मात्रामें रायल्टी देना सम्भव हो तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि दूसरी पुस्तकपर भी उतनी ही रायल्टी देना सम्भव (या आवश्यक) हो। यदि केवल ६५,००० शब्दोंके उपन्यास ही ७ शिलिङ्ग ६ पेंसपर प्रकाशित होते और कोई दूसरी पुस्तकें प्रकाशित न होतीं तो यह तर्क बिलकुल बुद्धिसंगत होता, परन्तु जैसा कि मै पहले बता चुका हूँ, जितनी नयी पुस्तके प्रकाशित होती है उनका केवल आठवॉ भाग उपन्यास होता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रकाशक किसी लेखकका १,३०,००० शब्दोका पहला उपन्यास प्रकाशनके लिए लेता है तो उसे उसमें लाभकी उतनी गुंजाइश नहीं होगी (यदि जरा भी गुंजाइश हुई तो!) जितनी ६५,००० शब्दोंके उपन्यासपर होती। यद्यपि यह स्पष्ट-सी बात है पर लेखक यह बात हमेशा भूल जाते है।

यदि इस समस्यापर कभी विचार भी किया जाता है तो ख्यातिप्राप्त उपन्यासकारोंके आधारपर। यदि आप १५,००० प्रतियाँ छाप रहे है और कम्पोज करनेका खर्च ८० पौण्ड या १६० पौण्ड हो तो पुस्तकके मूल्यमे एक पेंस प्रति पुस्तकसे अधिकका अन्तर नही पड़ सकता, परन्तु यदि पहला संस्करण केवल १,५०० प्रतियोंका हो तो मूल्यमें प्रति पुस्तक १ शिलिंगका अन्तर पड़ जायगा। अत्यन्त विनम्रताके साथ मैं यहाँ इस बातकी ओर ध्यान आकर्षित करूँगा कि तीसरे अध्यायमे उत्पादनकी लागतमे वृद्धिपर जो विस्तारपूर्वक बहस की गयी है उसके कारण बिलकुल नये लेखकोंको अधिक कठिनाईका सामना करना पड़ता है और जो लेखक शिखरपर पहुँच चुके है उनको अपेक्षाकृत अधिक सुविधा हो जाती है।

हाँ, रायल्टीकी मात्राके प्रश्नपर चर्चा हो रही थी। हम यह देख चुके है कि किसी भी स्वावलम्बी प्रकाशनमे रायल्टीका केवल एक स्रोत है और वह है पुस्तककी बिक्रीसे प्रकाशकको वसूल होनेवाली रकम और उत्पादनकी लागतका अन्तर। बहुतसे लेखक इस स्पष्ट और सुनि-

का पूरा खर्च वसूल करनेका अधिकार है तो लेखकको भी उ
अधिकार है। इसके अतिरिक्त बहुतसे ऐसे खर्च होते हैं जिन
प्रकाशक अपनी जेबसे पैसे खर्च कर देता है, जैसे किसी सफरी
उस पुस्तकके आर्डर लानेके लिये दिया जानेवाला कमीशन
प्रकाशक उस पुस्तकको प्रकाशित न करता तो शायद उसे य
उठाना न पड़ता। तीस वर्षतक इस समस्याका अध्ययन करने
मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि इस प्रकारके खर्चोंको पूरा करने
बिक्रीसे वसूल होनेवाली रकमके १० प्रतिशतके बराबर रकम
ले लेना केवल क्षम्य ही नहीं है बल्कि सर्वथा न्याय्य है।

हिसाबके दूसरे पहलूकी दृष्टि से, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि
झौतेमें यह दर्ज हो कि बिक्रीसे जितनी भी रकम वसूल होगी
पूरेके आधारपर हिसाब लगाया जायगा। यह केवल ठीक औसत
करनेका सवाल है क्योंकि व्यापारकी शर्तें और सुविधाएँ आर्डरकी
पर तथा आर्डर देनेके समयपर निर्भर होती हैं, अर्थात् इस बात
आर्डर प्रकाशनसे पहले दिया गया है या प्रकाशनके बाद,
बिक्रीका अलग-अलग हिसाब लगाना प्रायः असम्भव काम है।

यह हुआ संभावित दुरुपयोगोंके बारेमें। सचमुच अच्छी सं
के साथ यह कठिनाई नहीं होती और जबतक प्रकाशककी ईमान
पूरा विश्वास न हो तबतक यही सबसे अच्छा है कि उसके साथ
साझेका समझौता न किया जाय, यद्यपि इस प्रकारका समझौता
उपयोगी और न्यायोचित होता है।

३. रायल्टीकी पद्धति

साहित्यिक सम्पत्तिके लेन-देनमें यह तरीका सबसे अधिक
किया जाता है और साधारण कामों के लिए समझौतेका यह
सबसे अच्छा भी है। "पुस्तकोंके मूल्य" वाले अध्यायमें इस
बारेमें जानकारी प्राप्त हो जायगी कि कितनी रायल्टी देना सम्भव
है और किन सीमाके बाद रायल्टी प्रकाशकके सामर्थ्यके बा

जाती है। यदि एक पुस्तकपर एक विशेष मात्रामें रायल्टी देना सम्भव हो तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि दूसरी पुस्तकपर भी उतनी ही रायल्टी देना सम्भव (या आवश्यक) हो। यदि केवल ६५,००० शब्दोंके उपन्यास ही ७ शिलिङ्ग ६ पेंसपर प्रकाशित होते और कोई दूसरी पुस्तकें प्रकाशित न होतीं तो यह तर्क बिलकुल बुद्धिसंगत होता; परन्तु जैसा कि मै पहले बता चुका हूँ, जितनी नयी पुस्तके प्रकाशित होती है उनका केवल आठवाँ भाग उपन्यास होता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई प्रकाशक किसी लेखकका १,२०,००० शब्दोंका पहला उपन्यास प्रकाशनके लिए लेता है तो उसे उसमे लाभकी उतनी गुंजाइश नहीं होगी (यदि जरा भी गुंजाइश हुई तो!) जितनी ६५,००० शब्दोंके उपन्यासपर होती। यद्यपि यह स्पष्ट-सी बात है पर लेखक यह बात हमेशा भूल जाते हैं।

यदि इस समस्यापर कभी विचार भी किया जाता है तो ख्यातिप्राप्त उपन्यासकारोंके आधारपर। यदि आप १५,००० प्रतियाँ छाप रहे है और कम्पोज करनेका खर्च ८० पौण्ड या १६० पौण्ड हो तो पुस्तकके मूल्यमे एक पेस प्रति पुस्तकसे अधिकका अन्तर नहीं पड़ सकता, परन्तु यदि पहला संस्करण केवल १,५०० प्रतियोंका हो तो मूल्यमे प्रति पुस्तक १ शिलिंगका अन्तर पड़ जायगा। अत्यन्त विनम्रताके साथ मैं यहाँ इस बातकी ओर ध्यान आकर्षित करूँगा कि तीसरे अध्यायमे उत्पादनकी लागतमे वृद्धिपर जो विस्तारपूर्वक बहस की गयी है उसके कारण बिलकुल नये लेखकोंको अधिक कठिनाईका सामना करना पडता है और जो लेखक शिखरपर पहुँच चुके है उनको अपेक्षाकृत अधिक सुविधा हो जाती है।

हाँ, रायल्टीकी मात्राके प्रश्नपर चर्चा हो रही थी। हम यह देख चुके हैं कि किसी भी स्वावलम्बी प्रकाशनमे रायल्टीका केवल एक स्रोत है और वह है पुस्तककी बिक्रीसे प्रकाशकको वसूल होनेवाली रकम और उत्पादनकी लागतका अन्तर। बहुतसे लेखक इस स्पष्ट और सुनि-

यादी बातको भी समझ नहीं पाते और अपनी इस असफलताके कारण खुद भी अकारण ही परेशान होते हैं और दूसरोंको भी परेशान करते हैं। सुननेमें तो यह बहुत अच्छा प्रतीत होता है कि "यह मेरी पाण्डुलिपि है; इसे ५ शिलिंगपर प्रकाशित होना चाहिये और मुझे १५ प्रतिशत रायल्टी मिलनी चाहिये"; परन्तु यदि पुस्तकको छापकर तैयार करनेमें एक प्रतिपर ३ शिलिंग ४ पेंस लागत आ जाय और एक प्रतिकी बिक्रीसे वसूल होनेवाली रकम ३ शिलिंग ४ पेंससे अधिक न हो तो लेखककी यह माँग चाँदके लिए बालकके हठ करनेके समान होगी; और प्रकाशक कितना ही "साहसी" क्यों न हो, यह बात तो अस्वीकार नहीं की जा सकती कि वह रायल्टीकी रकम नहीं दे सकता। आजकी परिस्थितिमें रायल्टीकी रकम निश्चित करनेमें बहुत अधिक अटकलसे काम लिया जाता है। ऐसा भी होता है कि अचानक कोई बात ऐसी हो जाय कि हिसाब गलत हो जाय, परन्तु अधिकतर उदाहरणोंमें पहले ही से यह ठीक-ठीक हिसाब लगाया जा सकता है कि किसी प्रकाशनपर कितनी बचत होगी। यदि बचत कम हो और उत्पादनकी लागत कम न की जा सकती हो तो मूल्य बढ़ानेके प्रश्नपर विचार करना चाहिये। क्या मूल्यमें इस वृद्धिसे बिक्री मारी जायगी या कम हो जायगी? बहुतसे उदाहरणोंमें प्रकाशक यही सलाह देनेपर बाध्य होगा कि बिक्रीपर बहुत-बुरा प्रभाव पड़ेगा, कुछ उदाहरणोंमें वह कहेगा कि कोई गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ेगा। ऐसी परिस्थितियाँ पहलेकी अपेक्षा अब ज्यादा नियमितरूपसे सामने आने लगी हैं क्योंकि उत्पादनकी लागतमें जितनी वृद्धि हुई है उस अनुपातसे पुस्तकोंके मूल्यमें वृद्धि नहीं हुई है। बहुत-सी पुस्तकें आवश्यकतासे अधिक सस्ती होती हैं और उनमें लेखक और प्रकाशक दोनोंके लिए काफी बचत नहीं होती। यद्यपि इस परिस्थितिमें लेखकके हितोंको हानि पहुँचती है पर यह बात लेखक भी बहुधा नहीं समझते।

यह धारणा, कि प्रकाशकको कोई छिपी हुई बचत होती है जिसमेंसे अधिकसे अधिक रायल्टी दी जा सकती है, इतनी आम है कि रायल्टीकी

मात्राका हिसाब लगाने के लिए अटकलके बजाय विचारपूर्वक हिसाब लगानेका तरीका अपनानेकी सलाह देते हुए मै यह बात भी लिख देना चाहता हूँ कि पिछले जमानेमे दशा कुछ भी रही हो परन्तु आज-की परिस्थितिमें अपनी तरफ जोर देकर तथ्यों और आँकड़ोकी जाँच करवा देनेमें प्रकाशकोंको किसी प्रकारकी हानि नही हो सकती बल्कि लाभ ही होगा। आजकल (इंग्लैण्डमे) प्रकाशकोंकी प्रवृत्ति लाभकी अपर्याप्त गुंजाइश रखकर पुस्तकें प्रकाशित करनेकी हो गयी है लेकिन यह नीति कुछ ही दिनोंमे बहुत हानिकारक सिद्ध होती है। यह मेरा विश्वास है कि यदि निष्पक्ष जाँच की जाय तो पहली २,००० प्रतियोंकी बिक्रीपर जितने उदाहरणोंमे रायल्टी कम करना न्यायोचित होगा उनकी संख्या उन उदाहरणोंसे कहीं ज्यादा होगी जिनमे रायल्टी बढाना उचित होगा।

प्रसिद्ध प्रकाशक—राजदूत स्वर्गीय वाल्टर एच० पेजने अपनी पुस्तक **ए पब्लिशर्स कनफेशन्स** (एक प्रकाशककी आप-बीती) मे रायल्टीकी पूरी समस्याका संक्षेपमें अत्यन्त गम्भीर विश्लेषण किया है। एक छोटा-सा उद्धरण यह है—

> लोकप्रिय लेखकोको दी जानेवाली रायल्टीमें वृद्धि प्रकाशनके क्षेत्रमें हालमें होनेवाली घटनाओंमे सबसे महत्त्वपूर्ण है। बहुत वर्षोंसे १० प्रतिशत रायल्टी देना एक सार्वत्रिक नियम-सा था; और ऐसी पुस्तकोंके लिए, जिनकी बिक्री केवल औसतन अच्छी कही जा सकती है, १० प्रतिशत रायल्टी देना प्रकाशक और लेखक दोनो-के लिए बुद्धिसंगत और न्यायपूर्ण समझौता है। यदि प्रकाशक अपना काम अच्छी तरह करे—पुस्तककी छपाई अच्छी करे, उसका विज्ञापन अच्छी तरह करे, अपनी व्यापार-संस्थाको सु-संचालित, सुव्यवस्थित और स्फूर्तिमय बनाये—तो लाभका यह बँटवारा न्यायपूर्ण बँटवारा है; उन पुस्तकोंकी बात ही अलग है जिनकी बिक्री अप्रत्याशित रूपसे बहुत ही अधिक होती है। उस दशामें प्रकाशक लेखकको ज्यादा भी दे सकता है। जबतक पुस्तककी बिक्री

वहुत काफी अच्छी न हो तबतक १० प्रतिशतसे अधिक रायल्टी देनेके बाद प्रकाशकके पास लाभके रूपमें कुछ भी न बचेगा।

यह तो सच है कि लेखक अमेरिकाकी परिस्थितिका उल्लेख कर रहा है और अमेरिकामें प्रकाशकके दफ्तरका खर्च इंग्लैण्डकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है, परन्तु इस बातसे पलड़ा बराबर हो जाता है कि अमेरिकामें जिस बिक्रीको "बहुत काफी अच्छी बिक्री" कहा जाता है वह यहाँकी "बहुत काफी अच्छी बिक्री" से दुगुनी होती है। यदि हम १० शिलिंग ६ पेससे कम मूल्यकी ऐसी पुस्तकोंको लें जिनकी बिक्री ३,००० से कम होती है तो श्री पेजका विश्लेषण ब्रिटिश प्रकाशनोंके लिए भी सार्थक है। जबतक बिक्री ३,००० की संख्याको पार नहीं कर जाती तबतक लाभ नहीं होता।

बढ़ती हुई रायल्टीमें इसी समस्याका समाधान है, क्योंकि बहुतसे प्रकाशनोंमें (सब प्रकाशनोंमें नहीं) एक अवस्था वह आती है जब बचतकी मात्रा बढ़ जाती है और यह न्यायोचित है कि इस लाभमें लेखकको भी हिस्सा मिले, जिस प्रकार उसे लाभमें साझेके समझौतेमें वस्तुतः मिलता है। परन्तु यह बात हमेशा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जैसे-जैसे बिक्री धीमी होती जाती है और छोटे संस्करण छापना ही उचित होता है, वैसे-वैसे बचतकी गुंजाइश भी कम होती जाती है और १० प्रतिशतसे अधिक रायल्टी देना न सम्भव रहता है, न बुद्धिसंगत ही।

चूंकि रायल्टीका हिसाब प्रायः हमेशा पुस्तकपर प्रकाशित मूल्यके अनुसार लगाया जाता है इसलिए लेखकोंको इस बारेमें गलतफहमी हो जाती है कि उनको बिक्रीसे वसूल होनेवाली कुल रकमका कितना भाग मिल रहा है। प्रकाशित मूल्यका १० प्रतिशत रायल्टी पानेवाले लेखकोंको यदि यह बताया जाय कि प्रकाशकको बिक्रीसे वसूल होनेवाली रकमका छठा भाग नहीं तो लगभग उसके बराबर उन्हें दे दिया जाता है तो उनमेंसे अधिकांशको बड़ा आश्चर्य होगा। परन्तु बहुत सीधे-सादे हिसाबकी सहायतासे उनको यह समझाया जा सकता है कि प्रका-

शित मूल्यपर १० प्रतिशतका अर्थ होता है, प्रकाशित मूल्यके दो-तिहाई पर १५ प्रतिशत और औसतसे, प्रकाशकको पुस्तकके प्रकाशित मूल्यके दो-तिहाईसे अधिक कभी भी नहीं मिलता।

समझौतेके फार्म—रायल्टीके समझौतेके छपे हुए फार्मोंमेंसे अधिकतरमें जो धाराएँ होती हैं उनपर विस्तृत रूपसे टीका करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है क्योंकि 'पब्लिशर्स असोसिएशन' की एक समितिने (जिसका मैं सदस्य था) एक "गाइड टु रायल्टी ऐग्रीमेन्ट्स" (रायल्टीके समझौतोंके बारेमें मूल बातें) तैयार कर दी है जिसमें इस पूरी समस्यापर विचार किया गया है और यह पुस्तिका आसानीसे मिल सकती है।[1] परन्तु कुछ विवादग्रस्त प्रश्नोंपर और अधिक विचार कर लेना उपयोगी होगा।

१. सम्पूर्ण अधिकार या सम्पूर्ण लाइसेंस—वार्कर बनाम स्टिकनीके मुकदमे (ला रिपोर्ट्स [१९१९] १ के. बी. १२१)में लार्ड जस्टिस स्क्रटनने अपने फैसलेके अन्तमें लेखकोंको निश्चित रूपसे यह सलाह दी कि वे अपना कापीराइटका अधिकार कभी किसीको न दें। पुस्तकके रूपमें किसी चीजको प्रकाशित करनेका सम्पूर्ण अधिकार किसीको दे देना कापीराइटके अधिकारका केवल एक भाग उसे देनेके बराबर है। इसलिए "आथर्स सोसाइटी" का यह आग्रह उचित है कि "अधिकार" के बजाय शब्द "लाइसेंस" रख दिया जाय। परन्तु इस पूर्णतः उचित परामर्शपर चलनेमें एक नुकसान है। यदि कोई व्यक्ति कापीराइटके अधिकारका उल्लङ्घन करे तो प्रकाशक उसके खिलाफ काररवाई करनेके अधिकारसे वंचित रह जाता है। ऐसी दशामें काररवाई करनेका अधिकार लेखकको होता है। यदि लेखक आसानीसे मिल सकता हो और "आथर्स सोसाइटी" का सदस्य हो तो यह प्रबन्ध सन्तोषजनक हो सकता है परन्तु यदि लेखक सोसाइटीका सदस्य नहीं है और अतलान्तिक महासागरके उस पार या दुनियाके दूसरे कोनेमें रहता

---

१. पब्लिशर्स असोसिएशन, १९ बेडफोर्ड स्क्वॉयर, लन्दन W. C.

है तो यह व्यवस्था बहुत ही असन्तोषजनक सिद्ध होती है। इसी दृष्टिसे हम अपने छपे हुए फार्ममें "अधिकार" शब्द लिखते हैं पर यदि हमें लेखकसे यह आश्वासन मिल जाय कि कापीराइटके अधिकार-का उल्लंघन होनेपर "आथर्स सोसाइटी" को उसकी तरफसे कानूनी काररवाई करनेका अधिकार प्राप्त है, तो हम इस शब्दके बजाय "लाइसेंस" शब्द लिख देनेको हमेशा तैयार रहते है।

२. निश्चित कालके लिए लाइसेंस—कभी-कभी यह भी सुझाव रखा जाता है—विशेष रूपसे एक एजेण्ट द्वारा—कि लाइसेस कुछ निश्चित वर्षोंके लिए ही हो। जितने भी तथ्य प्राप्य हैं वे इस प्रकारके किसी प्रतिबन्धके खिलाफ पडते है। यदि किसी मकान या जायदादपर किसी व्यक्तिको मात्र अल्पकालके लिए अधिकार दे दिया जाय तो आप उससे उस मकान या सम्पत्तिपर कितना समय और ध्यान देनेकी आशा कर सकते है, उसपर धन लगानेकी बात तो जाने दीजिये ? यह स्पष्ट है कि किसी पुस्तकमें प्रकाशककी दिलचस्पी जितनी ही स्थायी होगी उसे उस पुस्तकको हर प्रकारसे सफल बनानेके लिए उतनी ही प्रेरणा मिलेगी और अनुभव यह बताता है कि प्रकाशक केवल लेखकको सन्तुष्ट करके उस पुस्तकको प्रकाशित करनेका अधिकार अपने पास सुरक्षित रखनेका भरोसा नहीं कर सकता। जबतक प्रकाशक पर्याप्त रूपसे सुरक्षित न अनुभव करे तबतक उत्तम प्रकारका प्रकाशन—क्षणिक दिलचस्पीका नहीं बल्कि स्थायी महत्त्वकी पुस्तकोंका प्रकाशन—उससे भी अधिक कठिन हो जायगा जितना कि आज है।

उदाहरणके लिए, यदि प्रकाशकको यह भय लगा रहे कि सम्भव है कि जो प्रकाशन आर्थिक दृष्टिसे सफल प्रमाणित होगा वह उसके किसी दूसरे प्रतियोगीको दे दिया जायगा तो कौन प्रकाशक होगा जो "लाइब्रेरी आफ फिलासफी" (दर्शन-शास्त्र पुस्तकामाला) जैसे प्रकाशनमें अपना हाथ डालेगा ? किसी मालीको कोई जमीन पाँच सालके पट्टेपर देकर उससे उस जमीनपर मेवका बाग लगानेका प्रस्ताव करना

और गम्भीर विषयोंकी पुस्तकोंके किसी प्रकाशकसे कुछ समय बाद खत्म हो जानेवाले लाइसेंसको स्वीकार कर लेनेकी आशा करना एक समान है। निस्सन्देह कुछ उदाहरण बिलकुल ही अलग होते है, परन्तु साधारणतया और दीर्घ कालकी दृष्टिसे असीमित कापीराइटके दौरान भरके लिए समझौता करना दोनों पक्षोंके लिए लाभदायक और न्यायोचित तथा प्रकाशकके लिए आवश्यक होता है।

इसमे केवल एक कठिनाई यह सामने आती है कि यदि वह प्रकाशन संस्था किसी दूसरेके हाथ बेच दी जाय तो लेखकको बड़ी विपदाओंका सामना करना पड़ सकता है। लेकिन यह एक ऐसी बात है जिसे हल करनेके लिए अल्पकालमें खत्म हो जानेवाले लाइसेंसके बजाय किसी कम कठोर उपायका प्रयोग किया जा सकता है।

३. **अनुवादके अधिकार**—शायद लेखकको सबसे अधिक दिलचस्पी इस बातमे होती है कि इन अधिकारोंका प्रयोग इस प्रकार किया जाय कि उसे अधिकतम लाभ पहुँचे। यदि बात ऐसी है तो इन अधिकारोंको लेखकके ही पास सुरक्षित रखनेकी वांछनीयतापर उससे अधिक ध्यान देनेकी आवश्यकता है जितना कि बहुधा दिया जाता है। सन् १९३८के अन्तरराष्ट्रीय प्रकाशक सम्मेलनकी एक विशेष बैठक केवल "अनुवादों" की समस्यापर विचार करनेके लिए हुई थी (जिसका सभापतित्व मैंने किया था)। एकके बाद एक कई देशोंके प्रकाशकोंने यह समस्या उठायी कि अंग्रेजीके अतिरिक्त बाकी दूसरी भाषाओंके प्रकाशनोंका अनुवाद करनेका अधिकार प्राप्त करनेके लिए वे सीधे मूल प्रकाशनके प्रकाशकसे बातचीत करते थे और प्रकाशकका पता आसानीसे चल जाता था; परन्तु जब अंग्रेजी भाषाके प्रकाशनोंका अनुवाद करनेका प्रश्न आता है तो प्रायः हमेशा उन्हें किसी एजेण्टका पता दे दिया जाता है और बहुधा तो लन्दनके एजेण्टके किसी स्थानीय सब-एजेण्टका पता दे दिया जाता है। उनका यह प्रायः क्रोधपूर्ण प्रतिरोध उचित था या नहीं, इसके विषयमें मैं कुछ कहना नहीं चाहता, परन्तु यह एक ऐसी

वास्तविकता है जिससे लेखकोंको परिचित होना चाहिये; विशेषरूपसे उन लेखकोंको जो विदेशोंके ग्राहकोंकी जरूरतोंका अध्ययन करनेके प्रति मेरे ही जैसा दृढ विश्वास रखते है और यह नहीं समझ बैठते कि विदेशी ग्राहक हमारे ढंगपर व्यापार करनेको तैयार हो जायँगे।

अब मै यह सवाल पूछना चाहता हूँ कि पिछले जमानेमे कितने साहित्यिक एजेण्टोने अपने यूरोपके ग्राहकोंके साथ वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करनेका कोई भी प्रयत्न किया है? यह सच है कि बहुतसे प्रकाशक भी इसमें असफल रहे हैं परन्तु उनको तो यह बहाना है कि अनुवादके अधिकार तो एजेण्ट हमेशा अपने पास "सुरक्षित" रखते है। कोई भी प्रकाशक जो यूरोपके दूसरे देशोंके प्रकाशकोंके सम्पर्कमे है, अधिक-से-अधिक भाषाओंमे अनुवाद करनेकी व्यवस्था कर लेगा और निजी मुलाकातों और सिफारिशोंके द्वारा बिक्रीका प्रबन्ध कर लेगा। मैं ऐसे दर्जनों उदाहरण बता सकता हूँ जिनमें इस प्रकार अनुवाद प्रकाशित करवानेका प्रबन्ध किया गया है और यदि अनुवादके अधिकार लेखकके पास सुरक्षित होते तो यह अनुवाद कभी भी प्रकाशित न होते। एक साहित्यिक एजेण्टने पूरी ईमानदारीके साथ यह स्वीकार किया कि यदि वह मेरे साथ अपनी लिखी हुई किसी पुस्तकके बारेमे समझौता करता तो वह निःसंकोच अनुवादके अधिकार मेरे हाथोमे सौप देता।

यदि लेखक इस स्थितिमें है कि वह इसका प्रबन्ध स्वयं ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है तो उसे ये अधिकार अपने पास सुरक्षित रखने चाहिये; परन्तु विना किसी आधारके ऐसा करना बिलकुल ही दूसरी बात है। उसे पहले यह विश्वास कर लेना चाहिये कि जिस प्रकाशकके साथ वह बातचीत कर रहा है उसके यहाँ अनुवादोंका प्रबन्ध करानेकी विशेष सुविधाएँ प्राप्य है या नहीं।

यह भी उन अनेक समस्याओंमेंसे एक है जिनके बारेमें, ऐसा प्रतीत होता है, केवल उपन्यासोंकी दृष्टिसे (और वह भी धड़ाधड़ बिकनेवाले उपन्यास!) विचार किया जाता है, जिनमें काफी

रकमका वारा-न्यारा होनेकी सम्भावना होती है। वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयोंकी पुस्तकोंके अनुवादोंकी बिक्रीका क्षेत्र निश्चय ही बहुत सीमित होता है और उससे जो रकम मिलनेकी आशा होती है वह बहुधा नगण्य होती है। शुद्ध व्यावसायिक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकाशकको चाहे जितना कमीशन दे दिया जाय (चाहे बिक्रीसे वसूल होनेवाली पूरी रकम ही क्यों न दे दी जाय!) परन्तु कुछ प्रकाशक अपने कामके इस पहलू पर जितना समय खर्च करते हैं उसका प्रतिफल उन्हें धनके रूपमें नहीं मिल सकता।

परन्तु क्या किसी समस्या पर व्यावसायिक दृष्टिके अतिरिक्त कभी किसी दूसरी दृष्टिसे विचार नहीं किया जा सकता?

क्या यह बात अधिक वांछनीय नहीं है कि दूसरे देशोंमें हमारे देशके विचारों और ज्ञानका और अधिक प्रचार हो? जिन लेखकोंका प्रतिनिधित्व करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमेंसे प्रत्येकने अपनी रचनाओंको दूसरी भाषाओंमें प्रकाशित करवानेके महत्त्वपर जोर दिया है, यद्यपि सब लेखक इस बातपर समान जोर नहीं देते, परन्तु वे केवल आर्थिक लाभकी दृष्टिसे ही इसको महत्त्व नहीं देते। जहाँतक मेरा अपना सम्बन्ध है, मेरी भावना यह है कि विभिन्न राष्ट्रोंके लोगोंके बीच विचारोंके आदान-प्रदानमें योग देना एक अत्यन्त उपयोगी सेवा है। इस सम्बन्धमें मेरे विचार इतने दृढ हैं कि मेरे निकट निर्णायक प्रश्न यह नहीं है कि सिद्धान्तकी दृष्टिसे ये अधिकार किसके पास रहने चाहिये बल्कि यह कि कौन इन अधिकारोंका निश्चयपूर्वक पूरा-पूरा उपयोग कर सकता है। इस प्रश्नपर आठवें अध्यायमें अधिक विस्तारसे विचार किया गया है।

४. लेखक द्वारा भूल-सुधार—लेखकोंको भूल-सुधारके लिए जो रकम दी जाती है वह एक भारी विवादका विषय रहा है। यदि पाण्डुलिपि टाइप की हुई हो तो उसमें भूल-सुधार करना उतना ही आसान है जितना छपे हुए प्रूफमें, यद्यपि कुछ बातें ऐसी होती हैं जो

सावधानसे सावधान लेखककी दृष्टिसे भी चूक जाती है और केवल छपे हुए पृष्ठमे ही पकडी जाती है। यदि टाइपकी हुई पाण्डुलिपिमे बहुत ज्यादा काट-पीट की गयी है तो उसे फिरसे टाइप करा लेना चाहिये और उसे दुबारा बडी सावधानी और ध्यानसे देख लेना चाहिये। बादमे भूल-सुधारके लिए पैसे खर्च करनेकी अपेक्षा यह बहुत सस्ता भी होगा। भूल-सुधारपर जो पैसा खर्च किया जाता है उसका वास्तविक प्रतिफल जितना कम होता है उतना शायद ही किसी दूसरे खर्चका होता हो। यदि छपाईके खर्चका हिसाब लगाया जाय तो ६ शिलिंग प्रति घण्टेका खर्च निकलेगा और जिसने भी कम्पोज किये हुए मैटरमे भूल-सुधार किया है, जैसा कि मुझे बहुत समयतक करना पडा है, वह यह जानता होगा कि एक घण्टेमे कितना थोडा काम होता है। लेखकको इस कामके लिए जितनी रकम दी जाती है वह पूरी पडती है या नही, यह प्रकाशककी उदारतापर उतना निर्भर नही है जितना इस बातपर कि प्रकाशकको पाण्डुलिपि देनेसे पहले उसे तैयार करनेपर कितना ध्यान दिया गया है। यद्यपि इस बातपर आश्चर्य तो जरूर होगा, पर यह सत्य है। टाइप की हुई पाण्डुलिपिके लिए कम्पोजकी लागतकी १० से १२ प्रतिशततक रकम इस कामके लिए काफी है, परन्तु लापरवाह लेखक हो तो ५० प्रतिशत रकम भी पूरी नही पडेगी। इस प्रश्नपर पॉचवे अध्यायमे फिर विचार किया गया है।

५. बाकी बचे हुए स्टाकको, थोकमें, कम दामपर निकाल देने के प्रश्नपर बहुधा झगडा रहता है। "आथर्स सोसाइटी" हमेशा इस बातपर जोर देती है (और उचित जोर देती है) कि समझौतेमें एक धारा यह भी शामिल कर ली जाय कि "पहले प्रकाशनके दो वर्षके अन्दर बाकी बचा हुआ स्टाक कम दामपर थोकमें नहीं बेचा जायगा"। यद्यपि प्रकाशक हमेशा इस धाराको समझौतेमें शामिल नहीं करते पर यह मॉग पूर्णतः न्यायोचित है। इस धारामें यह बात भी जोडनेकी मॉग की जाती है कि लेखकको बाकी बचा हुआ स्टाक खरीद लेनेका

अधिकार हो। यह बात काफी न्यायोचित है परन्तु व्यवहारमें यह बडी झंझटकी चीज साबित हो सकती है। बचा हुआ स्टाक एक दमसे खरीदने-वाले कुछ बहुत अच्छे व्यापारी उडती चिडियाके सामान होते है और उन्हे उडतेमें ही पकडना पडता है। अडतालीस घण्टेकी देर हो जानेसे अवसर हमेशाके लिए हाथसे चला जाता है, और कितने लेखक ऐसे होते है जो अडतालीस घण्टेमे उत्तर दे दे? बहुतसे लेखक तो उत्तर देते ही नही।

६. **जिन प्रतियोंपर रायल्टी नही दी जाती**—किसी लेखकके पहले उपन्यासपर या किसी ऐसी पुस्तकपर जिसकी लागत पूरी तरह वसूल होनेकी आशा न हो, बहुधा किया यह जाता है कि कुछ प्रतियोपर रायल्टी नही दी जाती। इस प्रकारके समझौतेके विरुद्ध चाहे जो कुछ भी कहा जाय पर यह बहुधा दोनो पक्षोके हितमें न्यायपूर्ण होता है। इससे केवल यह निश्चित हो जाता है कि उस दौरानमें जब कि पुस्तककी बिक्रीसे छपाईका खर्च भी पूरी तरह न निकला हो—किसीको लाभ होनेकी बात तो दूर रही—प्रकाशकको अपनी हानिमें, लेखककी रायल्टी-की वृद्धि न करनी पडे। वास्तवमे, इस तरीकेमें यद्यपि रायल्टीका सिद्धान्त कायम रहता है परन्तु समझौता, लाभमे साझेके समझौतेकी तरह हो जाता है। कुछ समझौते इस प्रकारके भी होते है कि यदि १,००० या १,५०० से अधिक प्रतियाँ बिक जायें तो "मुफ्त" प्रतियोंपर भी रायल्टी दी जाती है। ऐसी दशामें, यदि प्रकाशकका व्यापार बिलकुल ही मन्दा न हो, तो लेखकको पूरी रायल्टी मिल जाती है।

७. **विशेष बिक्री**—कम दामपर बेची जानेवाली प्रतियोकी रायल्टीके प्रश्नको लेकर बहुत काफी बहस हो चुकी है और जैसा कि साधारणतया इस प्रकारकी सभी बहसोमे होता है, समस्यापर वाद-विवाद और निर्णय केवल उपन्यासोको ध्यानमें रखकर किया जाता है। लेकिन उपन्यासोमे एक चौथाईपर सीमा निश्चित कर देना सम्भव है क्योकि व्यवहारमे उपन्यासोको उपन्यासोंके लिए निश्चित

साधारण व्यापारिक शर्तोंपर ही बेचा जा सकता है अर्थात् या तो आधे मूल्यसे अधिकपर, या फिर उसके बाद बाकी बचे हुए स्टाकको, एक लाटमें कम मूल्यपर, जो उपन्यासोंके प्रसंगमें प्रकाशित मूल्यका एक-चौथाई होता है। इसके बीचमें कोई मूल्य नहीं रखा जा सकता। परन्तु, दूसरे प्रकाशनोंके लिए यह सत्य नहीं है। पहली बात तो यह कि "बचा हुआ स्टाक" सम्भवतः चौथाईसे अधिक मूल्यपर, परन्तु प्रकाशित मूल्यके आधेसे कमपर बेचा जा सकता है। इससे भी महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि कुछ विशेष प्रकारके संघटनों और संस्थाओंके हाथ, जैसे पाठकोंकी यूनियनों, पुनरावृत्ति सोसाइटी, मजदूर शिक्षा-परिषद् और इसी प्रकारकी सैकड़ों दूसरी संस्थाओंके हाथ, विशेष संस्करण कम दामपर बेचनेकी सम्भावनाका लाभ उठाया जा सकता है। बहुधा प्रकाशकोंपर यह आरोप लगाया जाता है कि वे इस प्रकारके अवसरोंका लाभ उठानेमें मुस्तैदीसे काम नहीं लेते, परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि समझौतेमें उनको इस बातका अधिकार न दिया गया हो तो वे लाचार हो जाते हैं। कहा यह जाता है कि यदि ऐसा है तो इस प्रकारके हर प्रस्तावपर लेखकसे परामर्श कर लिया जाय। इसके लिए मेरा उत्तर यह है कि यदि समय हो तो कानूनकी दृष्टिसे आवश्यकता न रहनेपर भी मैं लेखकसे पत्र-व्यवहार करनेको हमेशा तैयार हूँ, परन्तु अधिकांश अवसरोंपर इसके लिए समय ही नहीं होता। समझौतेमें कुछ धाराएँ बढ़वानेमें देर लगती है और बात-चीत पूरी होनेसे पहले ही अवसर हाथ से निकल जाता है। कसौटी केवल यह है कि व्यवहारमें क्या फल प्राप्त होता है; सफलता प्रायः उसी विक्रेताको मिलती है जो जल्दी फैसला कर सके।

यह साबित करना तो बहुत आसान है कि इस प्रकारकी विशेष बिक्रीके लिए जो भी सीमा निश्चित की जाय वह एक-न-एक पक्षके लिए यदि सर्वथा बेतुकी नहीं तो अन्यायपूर्ण तो होती ही है। उदाहरणके लिए, मान लीजिये कि एक प्रकाशकने एक पुस्तक ८ शिलिंगकी छापी

साधारण व्यापारिक शर्तोंपर ही बेचा जा सकता है अर्थात् या तो आधे मूल्यसे अधिकपर, या फिर उसके बाद बाकी बचे हुए स्टाकको, एक लाटमें कम मूल्यपर, जो उपन्यासोंके प्रसंगमें प्रकाशित मूल्यका एक-चौथाई होता है। इसके बीचमें कोई मूल्य नहीं रखा जा सकता। परन्तु, दूसरे प्रकाशनोंके लिए यह सत्य नहीं है। पहली बात तो यह कि "बचा हुआ स्टाक" सम्भवतः चौथाईसे अधिक मूल्यपर, परन्तु प्रकाशित मूल्यके आधेसे कमपर बेचा जा सकता है। इससे भी महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि कुछ विशेष प्रकारके संघटनों और संस्थाओंके हाथ, जैसे पाठकोंकी यूनियनों, पुनरावृत्ति सोसाइटी, मजदूर शिक्षा-परिषद् और इसी प्रकारकी सैकड़ों दूसरी संस्थाओंके हाथ, विशेष संस्करण कम दामपर बेचनेकी सम्भावनाका लाभ उठाया जा सकता है। बहुधा प्रकाशकोंपर यह आरोप लगाया जाता है कि वे इस प्रकारके अवसरोंका लाभ उठानेमें मुस्तैदीसे काम नहीं लेते, परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि समझौतेमें उनको इस बातका अधिकार न दिया गया हो तो वे लाचार हो जाते हैं। कहा यह जाता है कि यदि ऐसा है तो इस प्रकारके हर प्रस्तावपर लेखकसे परामर्श कर लिया जाय। इसके लिए मेरा उत्तर यह है कि यदि समय हो तो कानूनकी दृष्टिसे आवश्यकता न रहनेपर भी मैं लेखकसे पत्र-व्यवहार करनेको हमेशा तैयार हूँ, परन्तु अधिकांश अवसरोंपर इसके लिए समय ही नहीं होता। समझौतेमें कुछ धाराएँ बदलवानेमें देर लगती है और बात-चीत पूरी होनेसे पहले ही अवसर हाथसे निकल जाता है। कसौटी केवल यह है कि व्यवहारमें क्या फल प्राप्त होता है; सफलता प्रायः उसी विक्रेताको मिलती है जो जल्दी फैसला कर सके।

यह साबित करना तो बहुत आसान है कि इस प्रकारकी विशेष बिक्रीके लिए जो भी सीमा निश्चित की जाय वह एक-न-एक पक्षके लिए यदि सर्वथा बेतुकी नहीं तो अन्यायपूर्ण तो होती ही है। उदाहरणके लिए, मान लीजिये कि एक प्रकाशकने एक पुस्तक ६ शिलिंगकी छापी

। भी प्रकशित किये जाते है । इनकी जिल्द सस्ते प्रकारकी होती
मुख-पृष्ठपर या आवरण-पृष्ठपर "औपनिवेशिक संस्करण" (Colo-
Edition) लिखा होता है । कुछ पुस्तकोंमें अंग्रेजी मूल्यके
: केवल "औपनिवेशिक संस्करण" लिख दिया जाता है । इसके
ह इन संस्करणोंमे और इंग्लैण्डमे बिकनेवाले संस्करणमे कोई
हीं होता । इन विशेष संस्करणोपर रायल्टीका हिसाब प्रायः
उस रकमपर लगाया जाता है जो इस संस्करणकी बिक्रीसे
को वस्तुतः वसूल होती है, यद्यपि उपन्यासोके औपनिवेशिक
ोंमें बहुधा एक निश्चित रकम नियत कर दी जाती थी, जैसे
तकपर तीन पेंस । इन "विशेष संस्करणो" के उद्देश्य और उनके
पर दूसरी जगह विचार किया गया है । परन्तु मै इस बातपर
र देना चाहूँगा कि वे हमेशा निश्चित रूपसे अलगसे नही छापे
बहुत-सी "शिकायतो" का कारण यह होता है कि लेखक इस
ी बातको नही समझ पाते ।

. सस्ते संस्करण—"आथर्स सोसाइटी" का कहना यह है
म प्रकाशनके दो वर्षके अन्दर लेखककी अनुमतिके बिना सस्ता
। छापनेकी इजाजत न होनी चाहिये और निस्सन्देह उसका यह
उचित है; दुर्भाग्यवश सोसाइटी आगे चलकर इसी सिलसिलेमें
कहती है कि, "यदि तीन वर्षके अन्दर कोई सस्ता संस्करण न
त हो तो सस्ते संस्करणोके सम्बन्धमें उस प्रकाशकका अधिकार
र देना चाहिये ।" आइये देखे, इसका क्या अर्थ होता है । मनो-
के विषयपर एक लोकप्रिय पुस्तकका उदाहरण ले लीजिये जिसका
शिलिंग ६ पेंस है । दो वर्षके बाद इस पुस्तककी बिक्री पहले
अपेक्षा और भी बढ़ जाती है । यदि इस परिस्थितिमें वह प्रकाशक
वर्ष सस्ता संस्करण न निकाले तो क्या यह ठीक होगा कि उससे
आगे चलकर सस्ता संस्करण छापनेका अधिकार ही न छीन
ताय, जब शायद सस्ता संस्करण छापना बहुत लाभदायी हो,

करना युद्धके दौरानमें बहुत महत्त्वपूर्ण था। न जाने कितने लेखक इस बातका दावा करते थे कि "बमबारी" मे नष्ट हो जानेवाली प्रतियोंका मुआवजा पानेका उन्हे अधिकार है। यह बात वे कभी नही सोचते थे कि यह मुआवजा कहाँसे आयेगा या रायल्टीके आधारपर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकोंके सम्बन्धमें यदि उनकी पुस्तक बाजारमे मोजूद थी या दुबारा छापी जा रही थी तो उनका क्या नुकसान हुआ था।)

विशेष बिक्रीके प्रसंगमे रायल्टीके प्रश्नोपर इंग्लैण्डके लेखक अंग्रेजी प्रकाशकोंकी अपेक्षा अमेरिकी प्रकाशकोंको अधिक सुविधाएँ देनेको तैयार हो जाते है। मै इससे भी एक कदम आगे बढना चाहता हूँ और यह कहता हूँ कि यदि इंग्लैण्डके लेखक उन्ही शर्तो और सुविधाओंके आधारपर इंग्लैण्डके प्रकाशकोंके साथ भी समझौते कर लिया करें जिन शर्तोंपर वे अमेरिकी प्रकाशकोंके साथ करनेको बहुधा तैयार हो जाते हैं तो इंग्लैण्डके प्रकाशकोंका मार्ग बहुत सुगम हो जाय।

८. तेरहके बारह—समझौतेमें रायल्टीके बारेमे जो धारा होती थी उसमे यह भी शर्त लगा दी जाती थी कि तेरह प्रतियोंको बारह गिना जायगा, यह एक बहुत पुरानी परम्पराके अनुसार किया जाता था जिसमें दर्जनका हिसाब "रोटीवालोंके दर्जन" के अनुसार लगाया जाता था, अर्थात् तेरहवीं प्रति मुफ्त दे दी जाती थी। अधिकांश व्यापारियोंने यह तरीका छोड दिया है यद्यपि इस तरीकेके भी बहुतसे लाभ थे जिनपर "व्यापारकी शर्तों" के अन्तर्गत (अध्याय ६ मे) विचार किया गया है।

९. अमेरिका और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलके दूसरे देशोंके लिए विशेष संस्करण—वे हमेशा विशेषरूपसे नही छापे जाते। वे अलगसे छापे जा सकते हैं, परन्तु बहुधा इंग्लैण्डवाले संस्करणके साथ ही छापकर अलग रख लिये जाते है और यदि अमेरिका भेजना होता है तो नये मुख-पृष्ठ छापकर उनपर अमेरिकी प्रकाशकका नाम छाप दिया जाता है। अधिकांश उपन्यासों और कुछ अन्य पुस्तकोंके औपनिवेशिक

संस्करण भी प्रकशित किये जाते है। इनकी जिल्द सस्ते प्रकारकी होती है और मुख-पृष्ठपर या आवरण-पृष्ठपर "औपनिवेशिक संस्करण" (Colonial Edition) लिखा होता है। कुछ पुस्तकोमे अंग्रेजी मूल्यके स्थानपर केवल "औपनिवेशिक संस्करण" लिख दिया जाता है। इसके अतिरिक्त इन संस्करणोमे और इंग्लैण्डमे बिकनेवाले संस्करणमे कोई अन्तर नहीं होता। इन विशेष संस्करणोपर रायल्टीका हिसाब प्रायः हमेशा उस रकमपर लगाया जाता है जो इस संस्करणकी बिक्रीसे प्रकाशकको वस्तुतः वसूल होती है, यद्यपि उपन्यासोके औपनिवेशिक संस्करणोमें बहुधा एक निश्चित रकम नियत कर दी जाती थी, जैसे प्रति पुस्तकपर तीन पेस। इन "विशेष संस्करणो" के उद्देश्य और उनके महत्त्व पर दूसरी जगह विचार किया गया है। परन्तु मै इस बातपर फिर जोर देना चाहूँगा कि वे हमेशा निश्चित रूपसे अलगसे नहीं छापे जाते। बहुत-सी "शिकायतो" का कारण यह होता है कि लेखक इस बुनियादी बातको नही समझ पाते।

१०. सस्ते संस्करण—"आथर्स सोसाइटी" का कहना यह है कि प्रथम प्रकाशनके दो वर्षके अन्दर लेखककी अनुमतिके बिना सस्ता संस्करण छापनेकी इजाजत न होनी चाहिये और निस्सन्देह उसका यह कहना उचित है; दुर्भाग्यवश सोसाइटी आगे चलकर इसी सिलसिलेमे यह भी कहती है कि, "यदि तीन वर्षके अन्दर कोई सस्ता संस्करण न प्रकाशित हो तो सस्ते संस्करणोके सम्बन्धमें उस प्रकाशकका अधिकार खत्म कर देना चाहिये।" आइये देखे, इसका क्या अर्थ होता है। मनोविज्ञानके विषयपर एक लोकप्रिय पुस्तकका उदाहरण ले लीजिये जिसका मूल्य ७ शिलिंग ६ पेंस है। दो वर्षके बाद इस पुस्तककी बिक्री पहले वर्षकी अपेक्षा और भी बढ़ जाती है। यदि इस परिस्थितिमें वह प्रकाशक तीसरे वर्ष सस्ता संस्करण न निकाले तो क्या यह ठीक होगा कि उससे केवल आगे चलकर सस्ता संस्करण छापनेका अधिकार ही न छीन लिया जाय, जब शायद सस्ता संस्करण छापना बहुत लाभदायी हो,

बल्कि लेखकको इस बातकी भी आजादी मिल जाय कि वह किसी दूसरे प्रकाशकके हाथ यह अधिकार बेच दे ? यह बात साफ है कि मूल संस्करणके प्रकाशकसे ज्यादा अच्छी तरह कोई दूसरा व्यक्ति इस बातका फैसला नहीं कर सकता कि सस्ता संस्करण छापनेका सबसे उपयुक्त अवसर कौन-सा है।

११. संशोधन—यह प्रश्न बहुधा कौशल-सम्बन्धी (टेकनिकल) विशिष्ट प्रकाशनोंके सम्बन्धमें उठता है। यदि संशोधनोंके बिना ही काम चला लेना सम्भव हो तो कोई भी प्रकाशक संशोधन करवाना पसन्द नहीं करेगा। इसका कारण स्पष्ट है; संशोधन, चाहे वे कम्पोज किये हुए टाइपमें हों या प्लेटोंमें, बहुत मँहगे पड़ते हैं (कभी-कभी तो लागत उतनी ही बैठ जाती है जितनी पूरी पुस्तकको नये सिरेसे कम्पोज करानेमें) जब कि किसी प्रकारके संशोधनके बिना केवल दुबारा छाप लेनेमें, चाहे वह कम्पोज किए हुये टाइपसे हो या प्लेटोंसे, प्रकाशकको अधिकतम बचत हो जाती है। इसलिए यह मान लेनेका कोई कारण नहीं है कि पुस्तकको नवीनतम तथ्योंके अनुसार संशोधित कर देनेके लिए प्रकाशक लेखकसे अनुचित माँग करेगा; इस विषयमें लेखक बिलकुल निश्चिन्त रह सकते हैं। परन्तु इसके विपरीत, प्रकाशकके लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि इस समस्याके विषयमें उसकी परिस्थिति क्या है और यह कि ऐसे संशोधनोंके लिए जिनपर प्रकाशक और लेखक दोनों सहमत हों, प्रकाशकको अतिरिक्त पारिश्रमिक न देना पड़े (रायल्टी-के अतिरिक्त)। थोड़ा आगेकी बात सोचे बिना कोई भी प्रकाशक मँहगी टेकनिकल पुस्तकें प्रकाशित करनेका संकट मोल लेनेपर तैयार न होगा। सम्भव है कि शुरूमें उस पुस्तकपर जो लागत बैठे वह दस वर्ष बाद वसूल होना आरम्भ हो और उस समयतक उसके लेखकको किसी प्रोफेसरीके रूपमें उसका लक्ष्य प्राप्त हो चुका हो और उसे उस पुस्तकमें कोई दिलचस्पी बाकी न रह गयी हो। क्या प्रकाशकको यह अधिकार नहीं है कि उसकी दशापर भी विचार किया जाय ? वास्तवमें अधिकांश

कठिनाइयाँ लेखकके मरनेके बाद ही पैदा होती हैं जब संशोधनके लिए किसी नये आदमीकी सहायता लेनी पड़ती है। उस परिस्थितिमे इसका निर्णय कौन करे कि (क) संशोधन आवश्यक भी है या नहीं, (ख) यह काम किसे सौंपा जाय; और उतना ही महत्त्वपूर्ण यह प्रश्न है कि इसका खर्च कौन बर्दाश्त करे ?

बहुत थोडे-से उदाहरणोमे तो, जब लेखक अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर जाता है जिसे उस विषयका पूरा ज्ञान होता है, इन प्रश्नोंका आसानीसे उत्तर दिया जा सकता है कि "लेखकका उत्तराधिकारी"। परन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद होते है, नियम नहीं। बहुधा ये उत्तराधिकारी ऐसे होते हैं जिन्हे पुस्तकके विषयका न तो ज्ञान होता है और न उस विषयमे दिलचस्पी ही होती है और आगे चलकर उन्हें कितना ही लाभ क्यों न होनेवाला हो, वे अपने तात्कालिक हितोंकी किंचिन्मात्र भी बलि देकर कुछ करनेको तैयार नहीं होते। इसके अतिरिक्त और भी पेचीदगियाँ होती है, जैसा कि हमारी संस्थाके अभी हालके एक उदाहरणसे स्पष्ट हो जायगा। एक प्रख्यात वैज्ञानिकने अपनी मृत्युसे कुछ ही दिन पूर्व हमसे यह इच्छा प्रकट की थी कि दुबारा छपवानेसे पहले वे अपनी पुस्तकोंको संशोधित करा लेना चाहते थे, हमने अपने यहाँ उनकी यह इच्छा दर्ज कर ली। इसके अतिरिक्त, अपनी वसीयतमे उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि उनकी रचनाओंके संशोधित संस्करण प्रकाशित किये जायँ और इसका खर्च उनकी जायदादमेंसे ले लिया जाय। इस बातसे प्रतीत तो यह होता था कि कोई कठिनाई न होगी, यद्यपि लिखित समझौतेमे इस प्रकारकी कोई धारा न थी। यह कई वर्ष पहलेकी बात है। लेखककी मृत्युके कुछ माह बाद ही उनकी एक पुस्तकका नया संस्करण निकालनेकी आवश्यकता हुई। लेखकके उत्तराधिकारियोंके वकीलोने खेद प्रकट किया कि वे हमे कोई कारवाई करनेका अधिकार नहीं दे सकते, और साथ ही अपनी असमर्थता भी प्रकट की। (स्पष्टतः विभिन्न उत्तराधिकारियोंमें झगड़ा था)। वकीलोंकी

सलाहके अनुसार हमने थोड़े-थोड़े समयके बाद कई बार लिखा पर हर बार यही उत्तर मिला। आजतक इस सम्बन्धमे कुछ नहीं हुआ है। अब समय बीत चुका है; दूसरी पुस्तकोंने उस पुस्तकका स्थान ले लिया है और यदि कल हमें उत्तराधिकारियोंकी अनुमति मिल भी जाय तो हम यही उत्तर देनेपर विवश होंगे कि उत्तर आनेमें "बहुत देर हो गयी है।"

परिस्थितिका सारांश स्पष्ट शब्दोंमें यह है कि—

(क) लेखकके जीवन-कालमें स्वयं उसे ही निर्णय करना चाहिये कि पुस्तकको नवीनतम तथ्योंसे पूर्ण बनानेके लिए संशोधन आवश्यक है या नहीं।

(ख) यदि संशोधन आवश्यक हो तो लेखकको स्वयं ही काम करना चाहिये या किसी दूसरे व्यक्तिको इस कामके लिए नियुक्त कर देना चाहिये (जिस दशामे उस व्यक्तिका पारिश्रमिक रायल्टीमेंसे काट लिया जाय।)

(ग) लेखककी मृत्युके बाद प्रकाशक को यह अधिकार होना चाहिये कि वह किसी विज्ञान सम्बन्धी या टेकनिकल पुस्तकको किसी योग्य व्यक्तिसे संशोधित करवाकर उसे नवीनतम तथ्योंसे पूर्ण कर दे और उस व्यक्तिका पारिश्रमिक रायल्टीमेंसे काट ले।

यदि परिस्थिति (ग)के अनुकूल हो तो उत्तराधिकारियोंको यह निर्णय करनेका अधिकार होना चाहिये कि वे संशोधकको पारिश्रमिक देंगे या उसे रायल्टीमें हिस्सा देंगे और प्रकाशक इस बातपर बाध्य होगा कि वह नये संस्करणमें यह स्पष्ट कर दे कि मूल पुस्तकमे क्या सुधार किये गये है, अर्थात् जो परिवर्तन किये गये है वह किस हदतक किये गये हैं और किस दिशामें किये गये हैं।

निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि लेखककी मृत्युके बाद प्रकाशक-को इस प्रकारका कोई भी अधिकार न होना चाहिये। प्रकाशकको इस प्रकार अधिकारोंसे वंचित रखनेका मुझे काफी अनुभव है और मै अपने

अनुभवसे यह बता सकता हूँ कि यह बात लेखकके हितमें भी उतनी ही उपयोगी है जितनी प्रकाशकके हितमे कि ये अधिकार प्रकाशकको प्राप्त हो। कुछ भी हो, प्रकाशकके लिए ये अधिकार आवश्यक है।

१२. अनुक्रमणिका—अनुक्रमणिका तैयार करनेका काम बहुत मेहनतका होता है, परन्तु कुछ पुस्तकोमे यह उतनी ही आवश्यक होती है जितनी कि विषय-सूची। इसलिए यदि अनुक्रमणिका आवश्यक हो तो लेखकको उसे तैयार करना चाहिये। इसका निर्णय लेखकपर छोड देना चाहिये कि अनुक्रमणिका आवश्यक है या नही; यदि लेखक समझदार है तो वह अपने प्रकाशकसे परामर्श कर लेगा; यदि लेखक समझदार नही है और आवश्यक होनेपर भी वह अनुक्रमणिका शामिल नही करता तो कोई भी समालोचक यह नही कहेगा कि प्रकाशकके लिए यह आवश्यक था कि वह इस कमजोरीकी ओर लेखकका ध्यान दिलाता।

अनुक्रमणिकाके लिए संतुलित होना बहुत आवश्यक है। बहुत बड़ी अनुक्रमणिका, जिसमें हर विषयके छोटेसे छोटे हवालेका भी उल्लेख हो, उतनी ही बेकार होती है जितनी कि बहुत ही छोटी अनुक्रमणिका। केवल महत्त्वपूर्ण अंशोका ही हवाला देना चाहिये। अधिकांश उदाहरणोमें सभी हवालोका उल्लेख करना और उनमेसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंशोको मोटे या बडे अक्षरोमे छापना गलती है; इससे अनुक्रमणिका अकारण ही बहुत लम्बी हो जाती है।

१३. चित्र—चित्र बहुत-सी पुस्तकोका अभिन्न अग होते हैं। ऐसी सभी परिस्थितियोमें, चाहे चित्र किसी यात्राके वर्णनसे सम्बन्धित फोटोचित्र हो या रेखा-गणितकी पुस्तकके रेखा-चित्र हो, लेखकको अपनी पाण्डुलिपिके साथ ही ये चित्र देना चाहिये। प्रकाशकको यह मान लेनेका अधिकार है कि लेखकने अपनी पाण्डुलिपिके साथ जो चित्र भेजे हैं उन्हें छापनेका या तो लेखकको अधिकार है या वह उनको छापनेका अधिकार प्राप्त करनेकी स्थितिमें है—अन्यथा यह समझा जायगा कि

वह ऐसी चीज बेच रहा है जिसे बेचनेका उसे कोई अधिकार नहीं। बहुतसे लोग यह "आशा करते हैं कि प्रकाशक इन सब बातोंका पता स्वयं लगायेगा" और यदि आवश्यकता हुई तो दुबारा उसी चीजके लिए पैसे अदा करेगा जो उसे लेखकसे मिली है; यह बहुत बड़ा अन्याय है; परन्तु यह व्यवहार किसी-न-किसी रूपमे बहुत काफी बड़े पैमानेपर प्रचलित है।

प्रकाशित पुस्तकोंके सचित्र संस्करण छापनेकी समस्या बिलकुल ही अलग समस्या है। इसमें आपको लेखक और चित्रकार दोनोंका सहयोग प्राप्त करना पड़ता है और कठिनाई केवल यह निर्णय करनेमे होती है कि उनके कामका कितना-कितना महत्त्व है और पारिश्रमिक उन दोनोंके बीच किस अनुपातमे बाँटा जाय। कुछ लेखक यह करते हैं कि वे किसी भी चित्रकारसे चित्र बनवाकर उसे एक निश्चित पारिश्रमिक दे देते हैं; इस दशामें प्रकाशकको केवल लेखकसे ही निबटना पड़ता है। परन्तु अधिकांश उदाहरणोंमे होता यह है कि प्रकाशक चित्रकारका पारिश्रमिक अदा कर देता है और लेखककी रायल्टी तय करते समय इस रकमका ध्यान रखकर रायल्टी उसी अनुपातसे कम कर दी जाती है।

१४. लेखकको मुफ्त प्रतियाँ—प्रायः रायल्टीके सभी समझौतोंमें एक धारा यह समान रूपसे होती है कि पुस्तक प्रकाशित होनेपर लेखकको छ प्रतियाँ उपहारके रूपमे मुफ्त मिलेंगी और इसके बाद वह जितनी भी प्रतियाँ चाहे, पुस्तक-विक्रेताओंको दिये जानेवाले कमीशनके हिसाबसे खरीद सकता है। बहुधा लेखक यह भूल जाते हैं कि वे जो प्रतियाँ इस प्रकार खरीदते हैं उनपर भी उनको दूसरी प्रतियोंकी तरह ही रायल्टी मिलती है—यदि समझौतेमे कोई धारा इसके विरुद्ध हो तो बात दूसरी है। इस प्रकार इन पुस्तकोंके लिए उनको जितना मूल्य देना पड़ता है उसका एक भाग उनको रायल्टीके रूपमें वापस मिल जाता है।

१५. पुस्तकमें किसी व्यक्तिकी मानहानि करना बहुत गम्भीर समस्या है। ल्यूइस सीमूर बनाम हीनेमैन और अन्यलोगवाले मुकदमेमे यह समस्या उभरकर सामने आयी। "आथर्स सोसाइटी" और "पब्लिशर्स एसोसिएशन" के बीच विचार-विनिमयके बाद निम्नलिखित धारा तैयार की गयी और दोनो पक्षोने इसे स्वीकार कर लिया—

इस लिखित समझौते द्वारा लेखक प्रकाशकको यह आश्वासन देता है कि उपर्युक्त रचना किसी प्रकार भी प्रचलित कापीराइट अधिकारका उल्लंघन नही करती और इसमे कोई चीज अश्लील, अशिष्ट या (लेखककी इच्छासे) किसीके प्रति अपमानजनक नही है, और यदि इस आश्वासनके किसी उल्लघन (जिसका प्रकाशकको ज्ञान न हो)के फलस्वरूप प्रकाशकको कोई हानि, क्षति या नुकसान हुआ या उसे कानूनी काररवाईपर पैसा खर्च करना पड़ा या किसी दूसरे उचित रूपमे उससे पैसा खर्च करवाया गया तो लेखक यह सब खर्च भरेगा। इस समझौतेके द्वारा यह भी तय किया जाता है कि निम्नलिखित परिस्थितियोंमे यदि लेखकको या प्रकाशकको या दोनोको कोई हानि, क्षति या नुकसान हुआ या पहुँचाया गया (इसमे ऊपर बताये गये अदालतके खर्च और दूसरे खर्च भी शामिल होंगे) तो लेखक और प्रकाशक दोनो बराबर अशमे इसे बर्दाश्त करेंगे; वे परिस्थितियाँ ये हैं :—

(१) यदि उपर्युक्त रचनामे कोई अश ऐसा पाया गया जो किसी ऐसे व्यक्तिके प्रति अपमानजनक प्रमाणित हो और जिसके विषयमे यह साबित हो जाय कि लेखकका सकेत उस व्यक्तिकी ओर नही था।

(२) यदि उपर्युक्त रचनापर किसीकी मानहानि करनेका आरोप लगाया जाय परन्तु अदालतमे आरोप प्रमाणित न हो सके।

(३) यदि उपर्युक्त रचनापर किसीकी मानहानि करनेके अभियोगमें कानूनी काररवाईकी धमकी दी जाय, मुकदमा दायर किया जाय या कानूनी

कारखाई की जाय और फैसलेसे पहले ही लेखक और प्रकाशककी अनुमतिसे समझौता हो जाय।

इससे तो यह प्रतीत होगा कि यह साबित करनेकी जिम्मेदारी प्रकाशकपर है कि लेखककी इच्छा मानहानि करनेकी थी या नहीं (जो प्रायः असम्भव-सा काम है), जब कि जिम्मेदारी लेखकपर होनी चाहिये कि वह साबित करे कि उसकी इच्छा मानहानि करनेकी नहीं थी (यह अधिक व्यावहारिक बात है)।

हमारे यहाँके समझौतेके फार्मोंकी एक प्रति जिसमें उपर्युक्त धारा शामिल थी, स्वर्गीय श्री बर्नार्ड शॉके हाथ पड गयी। इसके उपरान्त उनके साथ हमारा निम्नलिखित पत्रव्यवहार हुआ जिसे हम उनकी उदारतापूर्ण अनुमतिसे प्रकाशित कर रहे हैं—

जी० लोवेश डिकिन्सनके नाम बर्नार्ड शॉके २ दिसम्बर, १९२९के पत्रका उद्धरण

हॉ, एक बात और। समझौतेके मसविदेमे एक बेतुकी धारा शामिल थी जिसमे यह कहा गया था कि यदि पुस्तकमे कोई ऐसी चीज हुई जिससे किसीकी मानहानि हुई तो लेखक प्रकाशकको किसी प्रकारकी हानि नहीं पहुँचने देगा। यह पुस्तक (प्वाइंट्स आफ व्यू) तो आदिसे अन्ततक धृष्टतापूर्ण तथा राजद्रोही मानहानिका सकलन है (कदाचित् लॉजके विचारोको छोडकर); और फिर लेखक प्रकाशकको मानहानिके अभियोगसे बचानेमे उतना ही असमर्थ होता है जितना कत्लके अभियोगसे। लेखक केवल इतना कर सकते हैं कि वे इस बातका आश्वासन दे कि पुस्तकमे किसी व्यक्तिकी छिपे ढंगसे मानहानि नहीं की गयी है।

स्टैनले अनविनका पत्र बर्नार्ड शॉके नाम, ६ दिसम्बर, १९२९

श्री लोवेश डिकिन्सनने मुझे बताया है कि प्वाइंट्स आफ व्यूके विषयमे जो बातचीत चल रही है उसमे समझौतेमे मानहानिके बारेमे जो शर्त है उसकी आपने कडी आलोचना की है। मै आपसे सहमत हूँ कि यह

विल्कुल ही वेतुकी शर्त है—परन्तु "आथर्स सोसाइटी"ने इसी शर्तको इसी रूपमे स्वीकार किया है। अभी हालमेही हमे इस शर्तके कारण वड़ी मुसीवतका सामना करना पड़ा और हमे वड़ा अफसोस है कि हम इस शर्तको स्वीकार करनेपर राजी क्यो हो गये।

वर्नार्ड शॉका पत्र स्टैनले अनविनके नाम, ९ दिसम्बर, १९२९

इस शर्तके वारेमे कठिनाई यह है कि लोगोको यह नही समझाया जा सकता कि निजी समझौतोके द्वारा देशके प्रचलित कानूनमे हेर फेर नही किया जा सकता। यदि कोई प्रकाशक कत्ल कर दे तो वह दूसरे व्यक्तिको इस आधारपर अभियुक्त नही ठहरा सकता कि उसके पास इस आशयका समझौता मौजूद है जिसपर उस दूसरे व्यक्तिने हस्ताक्षर किये थे। इसी प्रकार यदि वह फौजदारीके कानूनके अनुसार मानहानिका जुर्म करता है तो वह निजी समझौतेके आधारपर लेखकके सिर यह दोष मढ़ कर वच नही सकता। यह वात साफ नही है कि इस प्रकारका समझौता करना स्वतः जुर्म है कि नही। यह एक प्रकार का षड्यन्त्र है और वढ़ते-वढ़ते जुर्मसे उपलव्ध लाभमे साझेकी लालचमे किसी दूसरे व्यक्तिको जुर्म करनेकी शह देनेका रूप भी धारण कर सकता है।

प्रकाशकके लिए केवल लेखकका यह आश्वासन उपयोगी हो सकता है कि पुस्तकमें किसीकी छिपे ढगसे मानहानि नही की गयी है: अर्थात्, ऐसी मानहानि जिसे प्रकाशक साधारण रूपसे पाण्डुलिपिको पढ़-कर न पकड़ सकता हो, और साथ ही लेखक यह आश्वासन दे कि यदि इस प्रकारकी मानहानि हुई और उसपर दीवानी अदालतमे काररवाई की गयी तो लेखक उसकी क्षति को पूरा करेगा।

जहॉतक **प्वाइंट्स आफ व्यू**का प्रश्न है उसमे सभी मानहानि फौजदारी कानूनके अन्तर्गत आती है। उन्हे छापकर आप धृष्टतापूर्ण और राजद्रोही मानहानि प्रकाशित करनेके अपराधी होगे और कोई भी चीज आपको इसके दुष्परिणामसे नही वचा सकती। परन्तु चूकि किसी दुष्परिणामकी आशका नहीं है इसलिए कोई चिन्ता नही है......।

स्टैनले अनविनका पत्र बर्नार्ड शॉके नाम, १२ दिसम्बर १९२९

आधे-साझेके लालचमे दूसरे व्यक्तिको किसी जुर्ममे शह देनेके अभियोगमें सजा पाना तो मेरे लिए बहुत ही अरुचिकर होगा परन्तु प्रकाशक होनेके नाते मै प्रतिदिन इससे भी गभीर खतरे मोल लेता हूँ।

मै आपका मत भलीभॉति समझ गया हूँ और मुझे आशा है कि यदि मुझे और आपको अपने-अपने ट्रेड-यूनियनोकी तरफसे इस शर्तका मसविदा तैयार करनेके लिए नियुक्त किया जाता तो निश्चय ही हम दोनो इस शर्तनामेसे कही अधिक सन्तोषजनक चीज तैयार कर सकते थे, जिसके विरुद्ध आपने उचित रूपसे शिकायत की है। मानहानिके विषयमे ऐसी शर्त तैयार करनेमे, जिसका **कानूनी** महत्त्व हो, जो कठिनाई पडती है उसे दूर करना प्रायः असम्भव है। परन्तु प्रकाशकके लिए कानूनी पहलू कभी-कभी ही सर्वोच्च महत्त्व रखता है, क्योकि व्यवहारमे एक लेखक और एक प्रतिष्ठित प्रकाशकके बीच जो समझौता होता है उससे प्रकाशकपर ही पाबन्दी लगती है। प्रकाशकके लिए इस समझौतेका महत्त्व मुख्यतः निषेधात्मक ही होता है, अर्थात् इसके द्वारा यह सीमा निश्चित हो जाती है कि उससे किस हदतक मॉग की जा सकती है। अधिकाश लेखक (परन्तु सब लेखक नही) आश्चर्यजनक हदतक लापरवाह होते है—ऐसी शर्त जिसका कानूनकी दृष्टिसे कोई महत्त्व नही होता, व्यवहारमे लेखकको सतर्क बनानेके लिए बहुत उपयोगी हो सकती है और इस प्रकार प्रकाशक उसकी लापरवाहीके दुष्परिणामोसे बच सकता है।

'छिपी हुई मानहानि''की आपने जो व्याख्या की है उसे जब मै हालकेही एक झगड़ेके प्रकाशमे देखता हूँ (जिसका फैसला अदालतके बाहर हुआ था) जिसमे मेरी सस्थाको लगभग ५०० पौड भरने पडे थे, तो मुझे एक विचित्र परिस्थितिका आभास होता है। लेखकके लिए मानहानि स्पष्ट थी परन्तु यह बिलकुल उनकी लापरवाही थी कि उन्होंने उसे यो ही प्रकाशित हो जाने दिया। हमारे लिए वह स्पष्ट नहीं थी, परन्तु हम यह

ो नहीं कह सकते कि उसका पता लगाना हमारे लिए असम्भव था। सके अतिरिक्त, यदि लेखकने तुरन्त क्षमा माँगते हुए एक पत्र उन जनको लिख दिया होता तो हर्जानेके दावेसे हम लोग बच जाते परन्तु न्होंने न तो उनकी शिकायतकी स्वीकृति ही भेजी और न हमें सूचना । दी कि उनके पास इस प्रकारकी शिकायत आयी है। शर्तनामेमें चाहे ो भी शर्त शामिल कर ली जाय, पर इस कठिनाईपर विजय पाना सम्भव हीं है परन्तु कोई भी ऐसी चीज जिससे लापरवाह लेखकको अपने उत्तर-ायित्वका जरा भी **आभास** हो जाय, प्रकाशकके लिए काफी उपयोगी ती है।

परन्तु मेरे यह सब लिखनेका अभिप्राय यह नहीं है कि सैद्धान्तिक पसे मैं आपसे सहमत नहीं हूँ। व्यक्तिगत रूपसे मैं इसका स्वागत करूँगा क "आथर्स सोसाइटी" मानहानिवाली शर्तको बदल दे।

उपर्युक्त पत्र-व्यवहारके बाद प्रख्यात वकीलोंने यह मत प्रकट किया कि कुछ परिस्थितियोंमें यदि कोई व्यक्ति मानहानिके जुर्मसे निर्दोष ो तो वह लेखक द्वारा दिये गये इस आश्वासनको कानूनी रूपसे लागू रवा सकता है। इससे बिलकुल अलग सन् १९२५ के कानून-सुधार विवाहित स्त्रियाँ और मानहानिकर्त्ता) के कारण परिस्थिति कुछ सुधर यी है जिसकी धारा ६ के अन्तर्गत मानहानिके सह-अभियोगियोंकी रक्षा कर दी गयी है।

कुछ भी हो, इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि केवल परेशान रनेके लिए मानहानिके जो दावे किये जाते हैं उनके विरुद्ध सुरक्षाका ोई प्रबन्ध हो और इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए "आथर्स सोसाइटी" था "पब्लिशर्स सोसाइटी" दोनों प्रयत्नशील रहे हैं और रहेंगे।

मानहानि सम्बन्धी शर्तके लिए एक दूसरा और नया मसविदा गाइड टु रायल्टी एग्रीमेण्ट्स" में मिल जायगा, जिसका उल्लेख पहले ी किया जा चुका है।

१६. अश्लील मानहानि—इस विषयमें भी प्रकाशककी स्थिति

बहुत असन्तोषजनक है। विशुद्ध अश्लीलता उस समयतक जुर्म नहीं समझी जाती थी जबतक कि आजसे लगभग ९० वर्ष पहले चीफ जस्टिस काकबर्नने यह कसौटी नहीं मुकर्रर कर दी थी कि अश्लीलताकी परख यह है कि "जिस विषय-वस्तुपर अश्लीलताका आरोप लगाया गया है, क्या उसमें यह सम्भावना पायी जाती है कि वह उन लोगोंको पतित और भ्रष्ट बना दे जिनके दिमाग इस प्रकारके नैतिकताहीन प्रभावोंका शिकार हो सकते हैं और जिनके हाथोंमें इस प्रकारके प्रकाशनके पड़ जानेकी सम्भावना है।"

इस व्याख्याके साथ कठिनाई यह है (यद्यपि इसकी सार्थकताकी परख किसी उच्चतर न्यायालयमें होना बाकी है) कि प्रकाशकको व्यवहारमें यह प्रमाणित करना होगा कि उसका हर प्रकाशन स्कूल जानेवाली अबोध बालिकाओंके पढ़नेके लिए पूर्णतः उचित है। कुछ प्रकाशक प्रौढ़ लोगोंके लिए पुस्तकें प्रकाशित करते हैं और यदि हमारे प्रकाशनोंपर अश्लीलताका आरोप लगाया जाय तो चीफ जस्टिस काकबर्नकी नियत की हुई कसौटीपर पूरा उतरना हमारे लिए कठिन हो जायगा; और इससे भी बड़ी मुसीबतकी बात तो यह है कि प्रकाशकको अपनी सफाईमें विशेषज्ञोंकी गवाही दिलानेकी इजाजत नहीं है। प्रकाशक अपनी सफाईमें यह दलील पेश नहीं कर सकता कि सभी प्रमुख साहित्यिक समालोचकोंने एकमत होकर उस पुस्तकको उत्कृष्ट साहित्यिक रचना बताया है जिसके विरुद्ध अश्लीलताका आरोप लगाया जा रहा है, क्योंकि इस प्रकारकी सफाई अमान्य करार दी जा चुकी है (दि वेल आफ लोनलीनेसके मुकदमेमें सर शार्त्रे विरों के फैसलेके अनुसार)। सम्भव है कि सफाई पेश करने या न करनेसे मजिस्ट्रेटके फैसलेमें कोई अन्तर न पड़े, परन्तु सफाई पेश करनेकी इजाजत मिल जानेसे प्रकाशककी स्थितिमें बड़ा अन्तर पड़ सकता है। कमसे कम उस दशामें सारी दुनियाको यह तो मालूम हो जायगा कि क्या उस पुस्तकको साहित्यिक समालोचकोंकी दृष्टिसे भी अश्लील कहना न्यायसंगत है,

क्योंकि ऐसे मामलोंमें उनके निर्णयको स्वीकार करना उचित है, या उस प्रकाशकको केवल इसलिए दण्ड दिया जा रहा है कि मजिस्ट्रेट ऐसे मापदण्डोंके आधारपर फैसला दे रहा है जो उस परिस्थितिपर लागू नहीं होते। (उदाहरणके तौरपर आज कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो विजेटेलीको जोलाकी रचनाओंके अंग्रेजी अनुवाद छापनेपर दण्ड देनेका समर्थन करे या उन अरुचिकर और कटु बातोंका समर्थन करे जो दि नूमन हू डिड के लेखक ग्रान्ट एलेनको ऐसी पुस्तक लिखनेके कारण कही गयी थी ?)

उपर्युक्त बातोंके अतिरिक्त इस सम्बन्धमें कोई निश्चित दण्ड या व्यवहार नहीं है। फिर, यदि कोई पुस्तक कई वर्षोंसे बिना किसी आपत्तिके बिकती रही है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके विरुद्ध बादमें कानूनी कारवाई न की जा सके, या यदि किसी पुस्तकके बारेमें अमेरिकी अदालतमें यह फैसला दे दिया गया है कि वह अश्लील नहीं है तो उसके विरुद्ध कानूनी कारवाई न की जा सके।

अन्ततः, परिस्थितिके बेतुकेपनकी हद यह है कि अश्लील पुस्तक लिखना (या उसे खरीदना) जुर्म नहीं है; ऐसे पुस्तकके लेखकको सजा नहीं दी जाती और वह अपनी पुस्तकके पक्षमें सफाई पेश करनेके लिए कितना ही उत्सुक क्यों न हो परन्तु उसे स्पष्टतः इस बातका अधिकार नहीं है।

१७. पूर्वाधिकार—यह बात अक्सर देखनेमें आयी है कि कई लेखक अपनी कचरा, न बिकनेवाली पुस्तकें या वे पुस्तकें, जिनपर लाभकी कोई आशा नहीं होती, तो एक प्रकाशकसे छपवाते हैं और ज्यों ही उनके पास कोई ऐसी पुस्तक होती है जिसे सभी लोग प्रकाशित करना चाहते हैं तब वे दूसरे प्रकाशकके पास भागते हैं और लुटेरे प्रकाशक भी दूसरोंकी बोई हुई फसल काटनेके फेरमें रहते हैं। इसलिए कई मौकोंपर यह आवश्यक हो जाता है कि प्रकाशक इस बातका अधिकार सुरक्षित कर ले कि लेखक अपनी दूसरी पुस्तक किसी दूसरे प्रकाशकके पास ले

जानेसे पहले उससे पूछ ले कि वह उसे छापना चाहता है या नहीं। कोई भी व्यक्ति उस समयतक परती जमीन लेनेको तैयार न होगा जबतक उसे आगे चलकर पहली फसलकी अपेक्षा दूसरी फसलमें अधिक अच्छा लाभ होनेकी आशा न हो। यह कहना कि आगे चलकर उसे उन लोगोंके साथ खुली प्रतियोगितापर ही सन्तोष करना चाहिये जिन्होंने जमीन तैयार करनेमें कुछ भी कोशिश नहीं की है, अनुचित होगा।

यह बात भी प्रायः सभीको मालूम है कि पूर्वाधिकारोंका बहुधा दुरुपयोग किया जाता है; परन्तु यह भी मानना पड़ता है कि प्रकाशकके पास यह अधिकार होना आवश्यक है। अब जिस प्रश्नका हल ढूँढना है वह यह कि उचित पूर्वाधिकारका रूप क्या हो; इस प्रश्नका उत्तर परिस्थितियोंके अनुसार ही दिया जा सकता है और विशेष रूपसे इस बातको देखकर कि प्रकाशक कितना खतरा मोल ले रहा है। पहले उपन्यासका लेखक अपने अगले दो उपन्यासोंके पूर्वाधिकार भी उसी प्रकाशकको दे सकता है परन्तु यह कहना कि वह अपने अगले पाँच या छ उपन्यास उसी प्रकाशकको देनेके लिए बाध्य हो, मुझे अनुचित प्रतीत होता है। यदि पूर्वाधिकारका शर्तनामा उचित शब्दोंमें तैयार किया जाय तो वह किसी भी पक्षके लिए अन्यायपूर्ण नहीं हो सकता। यदि पहले उपन्यासका प्रकाशक उस पुस्तकके विज्ञापनपर और लेखककी प्रतिष्ठा स्थापित करनेपर बहुत बड़ी रकम खर्च करता है तो लेखकको दूसरी पुस्तकपर उस प्रकाशकसे उतना सन्तोषजनक पारिश्रमिक पानेकी आशा न करनी चाहिये जितना कि किसी दूसरे प्रकाशकसे, जिसे वह रकम खर्च नहीं करनी पड़ी है; क्योंकि इस प्रकारका मौलिक खर्च जबतक दो या तीन पुस्तकोंपर विभाजित न किया जाय तबतक वह न तो न्यायोचित कहा जा सकता है और न उपयोगी ही हो सकता है। व्यवहारमें होता यह है कि प्रकाशकको लेखककी पहली या सबसे ज्यादा बिकनेवाली पुस्तकसे उतना लाभ नहीं होता जितना दूसरी या तीसरी पुस्तकसे होता है जिनमें वह उस फसलको काटता है जो उसने पिछली

पुस्तकके प्रकाशनके समय बोयी थी। कुछ प्रकाशन-संस्थाएँ इस बातसे इतनी भलीभाँति परिचित है कि वे उन उपन्यास लेखकोंको उनके पहले प्रकाशकोंसे छीन लेनेके लिए कोई उपाय उठा नहीं रखतीं जिनकी रचनाओंका या तो बहुत बढ़ा-चढ़ाकर विज्ञापन किया जा चुका हो या किया जा रहा हो।

कुछ क्षेत्रोंमे इस खुली हुई लुटेरेपनकी प्रवृत्तिको "साहस के साथ व्यापार करना" समझा जाता है और कुछ (सब नहीं) साहित्यिक एजेण्ट इस प्रवृत्तिको प्रोत्साहित करते थे और अब भी करते है। परन्तु अब लोग यह बात स्वीकार करते जा रहे है कि इस प्रकारकी चालाकी कुछ एजेण्टोंको तो सम्भवतः लाभ पहुँचा सकती है पर लेखकको या प्रकाशकको या पुस्तक-व्यापारको इससे कोई लाभ नहीं हो सकता। (यह आश्चर्यकी बात नही है कि कुछ साहित्यिक एजेण्टोंने इसे नियम-सा बना लिया है क्योंकि नवयुवक और सफल लेखकोंके साथ सम्पर्क स्थापित करनेकी यह सबसे आसान विधि है।)

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूर्वाधिकारकी शर्त उचित शब्दोंमे लिखी जाय, 'गाइड टु रायल्टी एग्रीमेण्ट्स' मे इसके कई उदाहरण दिये गये हैं।

१८. पुस्तककी प्रतियाँ अप्राप्य होनेसे सम्बन्धित शर्त अन्तिम शर्त है जिसपर हमे विचार करना है। यह समस्या और भी अधिक विवादग्रस्त है, यहाँतक कि कुछ प्रकाशक इस शर्तको उस समयतक शामिल ही नहीं करते जबतक कि उनसे विशेषरूपसे इस विषयमें कहा न जाय। यह तो हम आरम्भमें ही स्वीकार कर लें कि यह बात सर्वथा उचित है कि यदि पुस्तककी सब प्रतियाँ बिक चुकनेके कारण अप्राप्य हों और लेखकके नोटिस देनेपर भी प्रकाशक उसे फिर छापनेका प्रबन्ध न करे तो लेखकको अपनी पुस्तकके सब अधिकार वापस ले लेनेका अधिकार हो; परन्तु, और यही विवादका विषय है, इस अधिकारके वापस होनेसे पहले ये शर्तें पूरी होनी चाहिये : (क) यदि लेखकको कुछ रायल्टी

उसके हिसाबसे अधिक पेशगीके रूपमें दी गयी हो तो वह उसे प्रकाशकको वापस कर दे, (ख) दोनों पक्षोंको मान्य शर्तोंके आधारपर—आधी लागतपर या जिस शर्तपर भी समझौता हो जाय—लेखक वे तमाम वस्तुएँ खरीद ले जो पूर्णतः उसी पुस्तकके लिए बनवायी गयी हो जैसे—मोल्ड या स्टीरियो-प्लेट आदि। "आथर्स सोसाइटी" का कहना यह है कि इस बातका निर्णय लेखककी इच्छापर छोड दिया जाय कि वह इन चीजोंको ऐसी शर्तोंपर खरीद सके जो उसके हितके अनुकूल हो परन्तु वह इसके लिए बाध्य न हो—वास्तव में उनका कहना है कि लेखकको इसपर बाध्य करना उसके साथ अन्याय होगा।

यदि प्रकाशक कोई प्रतिरोध करता है तो उससे साफ कह दिया जाता है कि चूँकि वह नोटिस दिये जानेके बाद भी पुस्तकको दुबारा छापनेपर तैयार नहीं था इसलिए यह बात स्पष्ट है कि उसे उन साधनोंकी (स्टीरियो तथा मोल्ड आदिकी) कोई जरूरत बाकी नहीं रह गयी थी इसलिए उसके शिकायत करनेका कोई कारण नही है। इस तर्कका आधार एक गोरखधन्धेपर है। यदि कोई प्रकाशक किसी पुस्तकको उसका एक संस्करण बिक जानेपर फौरन दुबारा छापनेपर तैयार नहीं होता तो इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि वह उसे आगे चलकर भी कभी नहीं छापेगा। स्वयं मेरी संस्थाने कई ऐसी पुस्तके दुबारा प्रकाशित की है जो तीन-तीन वर्षतक बाजारमे अप्राप्य रही है, और कुछ पुस्तकें तो ऐसी छापी है जो सात-सात और दस-दस वर्षसे भी अधिक समयतक बाजारमें अप्राप्य रही हैं। हमारी संस्थाके इतिहासमें एक वर्ष भी ऐसा नही गुजरा है जब हमने किसी पुरानी पुस्तकको दुबारा न छापा हो। फिर भी "आथर्स सोसाइटी" इसीको न्यायोचित ठहराती है कि प्रकाशकसे वह तमाम साधन बिना किसी संकोच या मुआवजेके ले लेना चाहिये जो उसने विशेषरूपसे केवल उस पुस्तकको दुबारा छापनेके उद्देश्यसे तैयार कराये हों। मै केवल यही कह सकता हूँ कि इस मामलेमें सोसाइटी उतनी न्यायपूर्ण नहीं है जितने कि

उसके सदस्य है, क्योंकि मुझे आजतक कोई लेखक ऐसा नहीं मिला है जिसे मैंने यह परिस्थिति पूरी तरह समझायी हो और उसके बाद भी उसने सोसाइटीके तर्कका समर्थन किया हो।

दो बातें ध्यान रखने योग्य हैं :—

(१) लेखक इस बातकी नोटिस देनेके लिए बाध्य नहीं होता कि वह पुस्तकके सारे अधिकार वापस ले लेना चाहता है।

(२) मुआवजेकी रकम निश्चित करनेका प्रश्न आपसमें समझौतेकी बातचीतके द्वारा तय हो सकता है।

यह बात तो स्वतः स्पष्ट है कि यदि पुस्तकको दुबारा छापनेसे किसी प्रकारका जरा-सा भी लाभ होनेकी आशा हो तो प्रकाशक उसे दुबारा छापनेसे कभी इन्कार नहीं करेगा। अनुभव बताता है कि बहुत धीरे-धीरे बिकनेवाली पुस्तकको, एक संस्करण खत्म होनेके बाद फौरन दुबारा छापना निश्चित रूपसे हानिको आमन्त्रित करना है, जब कि उसके प्रकाशनको एक-दो वर्षके लिए स्थगित कर देनेसे वह व्यापारकी दृष्टिसे लाभदायक हो सकता है और, एक बात और भी, नये संस्करणका स्वागत भी ज्यादा अच्छा हो सकता है। उसके कई कारण है, पुस्तक-विक्रेताओंके पास जो स्टाक होता है वह खप जाता है; पुरानी किताबोंके बाजारमें पुस्तकका विज्ञापन हो जाता है और लोग वहाँ उसकी खोज करने लगते है और पुरानी किताबोंके बाजारमें भी उस पुस्तककी प्रतियाँ खत्म हो जाती है ; प्रकाशकके पास आर्डर जमा हो जाते हैं ताकि जब पुस्तक दुबारा प्रकाशित हो तो उसके लिए माँग पहलेसे मौजूद रहे। इससे काफी अन्तर पड़ जाता है क्योंकि जमा किये हुए आर्डरोंको सप्लाई करनेके अतिरिक्त प्रकाशक बहुधा पुस्तक-विक्रेताओंको कुछ अधिक प्रतियाँ स्टाकमें रखनेपर राजी करनेमें सफल होता है—विशेषरूपसे यदि पुस्तककी माँग बार-बार की गयी हो। इससे उसकी बिक्रीमें विशेष तेजी आ जाती है जो अन्यथा असम्भव होती।

इस प्रकार हम देखते है कि बहुतसे उदाहरणोंमें किसी ऐसी

पुस्तकको दुबारा छापनेका प्रश्न, जो प्रकाशकके पास अप्राप्य हो, इस प्रश्नका रूप धारण कर लेता है कि उसे दुबारा छापनेका उचित समय कौन-सा है। ऐसी समस्याके बारेमें किसका निर्णय अधिक बुद्धिसंगत हो सकता है, लेखकका या प्रकाशकका ?

फिर भी मैं इस बातके अन्तमें वही कहूँगा जो मैंने शुरूमें कहा था, अर्थात् कि यह बात बुनियादी तौरपर न्यायोचित है कि यदि कोई पुस्तक प्रकाशकके पास खत्म हो जाय और नोटिस देनेपर भी वह उस पुस्तकको दुबारा प्रकाशित करनेसे आनाकानी या इन्कार करे तो लेखकको यह अधिकार हो कि वह अपनी पुस्तकके सब अधिकार अपने कब्जेमें ले ले[1]। मैं केवल इतनी बात और कहना चाहूँगा कि चूँकि अधिकांश उदाहरणोंमें असली समस्या पुस्तकको फिरसे प्रकाशित करनेके उचित समयकी होती है, इसलिए यदि लेखक अपनी बातपर (या किसी दूसरे प्रकाशककी रायपर) अड़ा ही रहना चाहता है तो उसे अपने इस निर्णयका भार प्रकाशकके सिर मढ़नेकी आशा न करनी चाहिये।

अभी एक समस्यापर विचार करना बाकी है। बहुधा पुस्तककी छपाई खत्म होनेके तीन माहके अन्दर और उसके प्रकाशनके एक माहके अन्दर ही, जब कि पुस्तकके भाग्यका कोई फैसला नहीं हो पाता, यह फैसला

१. दुर्भाग्यवश यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि युद्धके जमानेमें कुछ लेखकों और साहित्यिक एजेण्टोंने इस शर्तका फायदा उठानेकी कोशिश की और प्रकाशकोंसे वह पुस्तकें वापस ले लेनेकी धमकी दी जो केवल कागजके अभावके कारण ही अप्राप्य थीं। प्रकाशकोंको उनकी धमकीका आशय यह होता था कि 'या तो अपने कागजके सीमित स्टाकमेंसे हमारी पुस्तकपर ज्यादा कागज खर्च करो (अपने दूसरे लेखकोंके हितोंकी बलि देकर) नहीं तो हम अपनी पुस्तक किसी दूसरे प्रकाशकको दे देंगे।' इस अरुचिकर जबरदस्ती, (यदि इसे डकैती नहीं कहा जा सकता तो) के कारण प्रकाशकोंको भी जवाबी कारवाई करनी पड़ी जिसपर "आथर्स सोसाइटी" ने बहुत आपत्ति की।

करना पडता है कि उसके मोल्ड बनवाने हैं कि नहीं। मोल्डके द्वारा आवश्यकता पडनेपर पुस्तकको दुबारा छापनेमें बहुत सुविधा हो जाती है। यह बात लेखकके हितमें है कि नहीं कि प्रकाशकको मोल्ड तैयार करानेमें अपनी पूँजी फँसानेके लिए प्रोत्साहित किया जाय? परन्तु यदि प्रकाशकको यह मालूम हो जाय कि आगे चलकर उनसे फायदा उठानेका अधिकार उससे किसी भी क्षण छीना जा सकता है तो वह अपना पैसा फँसानेके लिए कभी तैयार न होगा। इस दशामें सम्भावना इस बातकी है कि वह साफ कह दे, "मोल्ड नहीं बनवाये जायँगे।" इस प्रश्नपर अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं—"आथर्स सोसाइटी" का दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित है।

इस अनुचित रवैयेके पक्षमें मुख्य तर्क यह पेश किया जाता है कि यदि प्रस्तावित नये संस्करणका आकार दूसरा हुआ तो ये सब साधन बेकार हो जायँगे। परन्तु लेखकको यह अधिकार कैसे मिलता है कि वह पहले प्रकाशकको बगैर मुआवजा दिये ही उसे इन साधनोंके सम्भावित उपयोगसे वंचित कर दे, इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा जाता। स्पष्ट है कि यह मान लिया जाता है कि प्रकाशकोंके कोई अधिकार नहीं होते, या कुछ भी हो उनके दृष्टिकोणपर विचार करना आवश्यक नहीं है।

सम्भव है किसी समय इस प्रकारका रवैया उचित रहा हो, परन्तु आज जितने अन्यायपूर्ण, प्रायः अविश्वसनीय हद्तक अन्यायपूर्ण, समझौते होते हैं उनमें लेखकोंके हितोंको कोई क्षति नहीं पहुँचती। कुछ समझौते जो मेरी नजरसे गुजरे हैं, प्रकाशकके दृष्टिकोणसे भी उतने ही असम्भव और असहनीय होते हैं जितने कि बहुत से वे समझौते जिनके बारेमें "आथर्स सोसाइटी" ने शिकायत की है।

क्या यह उचित नहीं है कि हम लेखकों और प्रकाशकोंकी एक मिली-जुली कमेटी स्थापित कर लें, नियम बनानेके लिए नहीं बल्कि ऐसे सुझाव रखनेके लिए जो दोनों पक्षोंके हितमें न्यायोचित समझे जायँ? इस प्रकारकी कमेटी 'गाइड टु रायल्टी एग्रीमेण्ट्स' में आवश्यक सुधार

करके अपना काम आरम्भ कर सकती है। इस पुस्तकके जिस सुझावके बारेमें भी पब्लिशर्स एसोसिएशनको यह मालूम हुआ है कि "आथर्स सोसाइटी" को उससे विरोध है, वहाँ "आथर्स सोसाइटी" का दृष्टिकोण नोटके रूपमें दे दिया गया है।

लेखकके आदेशपर प्रकाशित पुस्तकके बारेमें समझौता

"जिसकी खाओ उसकी बजाओ", यह स्वीकार करते हुए किसी भी प्रकाशकके पास लेखकके आदेशपर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकोंके विषयमें 'सोसाइटी आफ आथर्स" के प्रस्तावोंपर आपत्ति करनेका कोई न्याय्य कारण नहीं बाकी रहता, अर्थात् उसे उत्पादनकी लागतको उचित सीमाओंके भीतर रखनेके लिए सावधान रहने और विज्ञापन तथा पुस्तकके मूल्यके विषयमें अपना निर्णय देनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकारके समझौतेमें उत्पादनकी लागत तथा विज्ञापनके खर्चका पूरा भार लेखकपर होता है और वही उस पुस्तकके स्टाकका मालिक होता है; प्रकाशकको एक निश्चित रकम और पुस्तककी बिक्रीपर कुछ कमीशन दिया जाता है। इसके बदलेमें उसे अपने संघटनकी सेवाएँ लेखकको प्रदान करनी पड़ती हैं। प्रकाशकको यह अधिकार होता है कि एक निश्चित क्षेत्रके भीतर एक निश्चित समयतक उसे उस पुस्तकके वितरणके पूरे अधिकार प्राप्त होंगे। इसके अतिरिक्त उसे कोई अधिकार नहीं होता। बाकी सभी अधिकार और पुस्तकका स्टाक लेखकके कब्जेमें रहते हैं।

लेखकको सबसे पहले तो इस बातका अधिकार होता है कि वह प्रकाशकसे उन तमाम चीजोंकी लागतका सही-सही अन्दाजा प्राप्त करे, जिनके बारेमें पहलेसे अन्दाजा लगाना सम्भव है; उचित तो यह है कि इस अन्दाजेमें जो विवरण दिये जायँ वे यथासम्भव पूर्ण हों और अनुमानके साथ ही नमूनेका एक पृष्ठ भी भेज दिया जाय जिससे यह मालूम हो जाय कि छपाई किन अक्षरोंमें होगी। इस विवरणमें निम्नलिखित बातें शामिल होनी चाहिये—

(क) कितनी प्रतियाँ छपेंगी और कितनी प्रतियोंपर जिल्द बाँधी जायगी।

(ख) पृष्ठका आकार क्या होगा और पृष्ठोंकी संख्या कितनी होगी।

(ग) किस प्रकारके कागजका प्रयोग किया जायगा।

(घ) जिल्द किस प्रकारकी होगी और यदि कपडेकी जिल्द होगी तो उसपर छपाई साधारण रोशनाईमें होगी या सुनहरे अक्षरोंमें ? क्या जिल्द-पर छपाई करनेके लिए विशेष प्रकारके अक्षर कटवाने होंगे।

(ङ) समाचारपत्रोंमें तथा दूसरे विज्ञापनोंमें कितनी रकम खर्च की जायगी और समालोचनाके लिए पत्रों तथा पत्रिकाओंको कितनी प्रतियाँ भेजी जायँगी।

समझौतेमें निम्नलिखित बातें लिखी होनी चाहिये :—

पुस्तक कितने समयमें छपकर तैयार हो जानी चाहिये (उस समयको छोडकर जो लेखकको प्रूफ पढनेमें लगेगा और यदि प्रूफमें बहुत ज्यादा गलतियाँ हों तो उनको ठीक करनेमें जितना समय लगे वह भी छोड दिया जाय)।

पुस्तकका मूल्य कितना हो (लेखकका हित इसीमें है कि वह इस विषयमें प्रकाशकसे सलाह ले ले)।

बिकी हुई प्रतियोंका हिसाब किस आधारपर लगाया जायगा और बिक्रीकी रकममेंसे प्रकाशकको कितना कमीशन काट लेनेका अधिकार होगा (प्रकाशकको मिलनेवाली रकम इसपर निर्भर होती है कि वह पुस्तक-विक्रेताओं और सफरी एजेण्टोंको कितना कमीशन देता है)।

हिसाब किन-किन तारीखोंको साफ किया जायगा (पुस्तक प्रकाशित होनेके बाद दो वर्षतक हर छठे महीने और उसके बाद हर साल हिसाब साफ करना न्यायसंगत होगा)।

इन समझौतेमें कई और शर्तें शामिल करके प्रकाशक अपनी स्थिति-को शायद सुरक्षित बना सकता है, जैसे—

(क) कुछ निश्चित वर्षोंके बाद उसे इस बातका अधिकार होगा कि

वह या तो बचा हुआ स्टाक लेखकको वापस कर दे या रियायती दरपर बेच दे, लेखकको इन दोनोंमेंसे जो भी तरीका पसन्द हो, आदि।

(ख) उसे पुस्तकका स्टाक प्रेसमें या जिल्दसाजके यहाँ रखनेका अधिकार होगा और यदि उसकी सावधानीके बावजूद आग लग जानेके कारण या किसी दुर्घटनाके कारण कुछ प्रतियाँ नष्ट हो गयीं तो वह उनके लिए जिम्मेदार नहीं होगा परन्तु यदि लेखकका आदेश हो तो उसके खर्चपर वह आगका बीमा करा लेगा।

(ग) उसे गोदामका किराया लेखकके हिसाबमें चढा देनेका अधिकार होगा बशर्ते कि यह किराया बुक बाइण्डर्स एण्ड प्रिंटर्स एसोसिएशनस् द्वारा नियत की हुई दरसे अधिक न हो।

(घ) वह अमेरिकामें कापीराइट अधिकार प्राप्त करनेके बारेमें कोई गारंटी नहीं देगा (लिखनेके समय इस प्रकारका अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता जबतक कि पुस्तक अमेरिकामें अलगसे न छपवायी जाय), परन्तु यदि लेखक चाहेगा तो प्रकाशक या तो किसी अमेरिकी प्रकाशकको अधिकार दे देगा या उसके हाथ संस्करणका कुछ भाग बेच देगा।

(ङ) प्रकाशक "न बिकी हुई प्रतियाँ वापस लेने" के आधारपर पुस्तक-विक्रेताओंको प्रतियाँ भेजनेकी जिम्मेदारी नहीं लेगा और लेखकके आदेशपर जो प्रतियाँ भेजी जायँगी उनकी जिम्मेवारी लेखकपर होगी।

(च) लेखक इस बातकी जिम्मेदारी लेगा कि उसकी पुस्तक किसी दूसरेके कापीराइट अधिकारका उल्लंघन नहीं करती और उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिससे किसीकी मानहानि हो, आदि।

संक्षेपमें हमने समझौतेकी सभी शर्तोंका उल्लेख ऊपर कर दिया है परन्तु विज्ञापनके बारेमें और समालोचनार्थ भेजी जानेवाली प्रतियोंके विषयमें कुछ और बातें कहना आवश्यक है। विज्ञापनपर खर्च की जानेवाली रकम और पत्र-पत्रिकाओंको समालोचनार्थ भेजी जानेवाली प्रतियोंकी संख्या बहुधा पहले ही निश्चित कर ली जाती है और अधिकतर उदाहरणोंमें लेखकके हितमें अच्छा यही होता है कि वह इस बातका

निर्णय करनेमें प्रकाशकके अनुभवका फायदा उठाये कि विज्ञापनकी रकम किस प्रकार खर्च की जाय और समालोचनार्थ प्रतियाँ कहाँ-कहाँ भेजी जायँ। परन्तु इसके साथ ही, कमसे कम सैद्धान्तिक रूपसे, यह सभी अधिकार लेखकको होने चाहिये क्योंकि पिछले जमानेमें, जब बहुतसे पुस्तक-प्रकाशक पत्रिकाओंके भी मालिक होते थे, यह बात देखी गयी कि कुछ बेईमान संस्थाएँ अपनी पत्रिकाओंमें आवश्यकतासे अधिक विज्ञापन देकर काफी रकम हड़प कर जाती थीं। आजकल लेखकके आदेशपर छापी जानेवाली पुस्तकोंके बारेमें जो समझौते किये जाते हैं उनमें कुछमें लेखकको इस बातकी पूरी आजादी दे दी जाती है कि यदि वह चाहे तो विज्ञापनका प्रबन्ध स्वयं करा ले और अधिकांश उदाहरणोंमें आजकल लेखकके माँगनेपर प्रकाशक उसकी स्वीकृतिके लिए उसके पास उन पत्र-पत्रिकाओंकी सूची भेज देता है जिसमें विज्ञापन देनेका इरादा होता है और उन पत्र-पत्रिकाओंकी सूची भी जिनके पास समालोचनार्थ प्रतियाँ भेजनेका इरादा होता है।

प्रकाशकके पारिश्रमिककी समस्या बहुत ही विवादग्रस्त समस्या है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसमें दो चीजें शामिल होती हैं : प्रकाशनका पारिश्रमिक, जो बहुधा पुस्तकको छापकर तैयार करनेकी लागतके अनुमानमें ही शामिल कर दिया जाता है, परन्तु कभी-कभी यह रकम अलगसे वसूल की जाती है, और पुस्तककी बिक्रीपर कमीशन। आम तौरपर लेखकोंको प्रकाशक उतनी ही सेवाएँ प्रदान करता है जितना कि उसे पैसा मिलता है। कई मौकोंपर अत्यन्त प्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्थाओं द्वारा लेखकके आदेशपर प्रकाशित की गयी पुस्तकोंके समझौते और हिसाब दिखाये गये हैं या मुझसे उनपर राय ली गयी है। हर उदाहरणमें यह स्पष्ट था कि लेखकने जितने कामके लिए पैसे दिये थे उससे कहीं ज्यादाका फायदा उसे हुआ था। एक उदाहरणमें तो लेखकने बहुत ही जमकर शिकायत की थी। उनका विचार यह था कि प्रकाशक सरासर "उन्हें धोखा दे रहा" था और उसने उनके ऊपर

हजारों कमा लिये थे क्योंकि उनकी पुस्तकके छ या सात संस्करण निकल चुके थे और उन्हे एक पाई भी नही मिली थी। बहुत ध्यानसे छान-बीन करनेपर पता चला कि प्रकाशकने बिक्रीपर १० प्रतिशत कमीशनके अतिरिक्त और कुछ नहीं लिया था (अर्थात् उस पुस्तकपर अपने दफ्तरके खर्चका भी केवल आधा भाग)। कोई मुनाफा न होनेका कारण यह था कि पुस्तक इतने मूल्यपर प्रकाशित की जाती थी कि पूरा संस्करण बिक जानेपर लागतके अतिरिक्त केवल थोडी-सी ही रकम हाथ लगती थी। जब मैंने पूछा कि पुस्तकका मूल्य इतना कम किसके कहनेसे रखा गया था तो लेखकने उत्तर दिया कि उनकी यह दृढ़ भावना थी कि पुस्तकका मूल्य किसी भी दशा मे ३ शिलिंग ६ पेससे अधिक न हो क्योंकि उनके विचारमे इससे उनकी ख्यातिको बहुत लाभ होगा।

मै यह उदाहरण इसलिए दे रहा हूँ कि यह बात स्पष्ट हो जाय कि यदि इस लेखक जैसा ख्यातिप्राप्त इञ्जीनियर, जो हर प्रकारका हिसाब लगानेमे निपुण था, परिस्थितिका इतना गलत अन्दाजा लगा सकता है तो दूसरोंके गलती करनेकी सम्भावना तो और भी ज्यादा है।

जो लोग प्रकाशनके रहस्योंसे परिचित नहीं है वे यह समझते है कि जिस पुस्तकको प्रकाशित करवानेके लिए लेखक स्वयं पैसे देता है उससे प्रकाशक कुछ मुनाफा तो जरूर ही कमाता होगा। वास्तवमें, अच्छी संस्थाओंको, जिनका संघटन बहुत विस्तृत होता है और उसपर बहुत काफी रकम खर्च होती है, लेखकके आदेशपर प्रकाशित की जानेवाली पुस्तकोंपर कोई लाभ नहीं होता। इसका यह सीधा-सादा कारण है कि ऐसे प्रकाशकोंका दफ्तरका खर्च प्रायः हमेशा उनके कुल व्यापारके २० प्रतिशतसे भी अधिक होता है, और कितने लेखक ऐसे होते हैं जो अपने आदेशपर पुस्तक छपवाकर प्रकाशकको २० प्रतिशत कमीशन देते हों। यदि १५ प्रतिशतसे एक कौड़ी भी ज्यादा माँगी जाय तो उसे "लूट" कहा जायगा।[१] यह कमी कुछ हदतक उस रकमसे पूरी हो जाती

१. यदि लेखककोंकी रायल्टीकी तरह प्रकाशकोंका कमीशन भी पुस्तकके प्रकाशित मूल्यपर लगाया जाय तो बड़ी सुविधा हो जाय।

है जो प्रकाशनके पारिश्रमिकके रूपमें अनुमानमें शुरूमें ही जोड़ दी जाती है। परन्तु क्या वह रकम उस तमाम काम, पत्र-व्यवहार, मुलाकातों तथा टेक्निकल निरीक्षणका पर्याप्त मुआवजा है जो प्रकाशनके दौरानमें प्रकाशकको करना पड़ता है? यदि प्रकाशकको उसका एक-तिहाई भी दे दिया जाय जितना कि वकीलको दिया जाता तो उसे अपने-आपको सौभाग्यशाली समझना चाहिये।

तब फिर अच्छे प्रकाशक "लेखकके आदेशपर" पुस्तक छापनेको क्यों तैयार हो जाते हैं? इसका उत्तर यह है कि बहुतसे प्रकाशक इन्कार भी कर देते हैं और जितनी छपती भी है वह उन पुस्तकोंका केवल बहुत छोटा भाग होता है जो प्रकाशकोंके पास इस प्रकार प्रकाशित किये जानेके लिए भेजी जाती हैं। यदि पूछा जाय कि "वे एक भी पुस्तक इस प्रकार क्यों छापते हैं?" तो इसका उत्तर यह होगा कि "इसके कई कारण हैं।" पहला और सबसे बड़ा कारण तो यह है कि शायद वह पुस्तक ऐसी हो जो प्रकाशकको प्रशंसाका पात्र बना दे या उपयोगी सम्पर्क स्थापित करनेमें सहायता दे। दूसरा यह कि यद्यपि लेखकके आदेशपर प्रकाशित पुस्तकसे दफ्तरके खर्चका उस पुस्तकपर खर्च होने-वाला पूरा भाग वसूल न भी हो, फिर भी उसमें कुछ ऐसे खर्च तो आंशिक रूपसे वसूल हो ही जाते हैं (जैसे किराया) जो हर हालतमें होते ही हैं; दूसरे शब्दोंमें इस प्रकारके प्रकाशनोंमें एक "सहारा" मिल जाता है, विशेष रूपसे ऐसी संस्थाओंको जिनके पास अपना छापा-खाना या जिल्दसाजीका अपना प्रबन्ध होता है।

सारांश यह कि अच्छी संस्थाओं द्वारा लेखकके आदेशपर छापी जाने-वाली पुस्तकोंका अनुपात बहुत ही थोड़ा होता है और इस प्रकारके प्रकाशनोंका स्वीकार करनेका बहुधा कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण और उप-योगी कारण अवश्य होता है। जिन संस्थाओंकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक नहीं होती वे बिलकुल ही दूसरे कारणोंसे ऐसे प्रकाशन स्वीकार कर लेती हैं। ऐसी संस्थाओंको अपने संघटनपर प्रायः नहींके बराबर ही खर्च

खर्च करनी पडती है और वे केवल लेखकके पैसेका फायदा उठाकर कमसे कम कामके बदले बहुत जल्दी कुछ मुनाफा कमा लेना चाहती है।

जीवनके दूसरे क्षेत्रोंकी तरह प्रकाशनके बारेमे भी यह बात सत्य है कि दीर्घकालकी दृष्टिसे देखते हुए बहुधा सर्वोत्तम चीज ही, जो इसी कारण मेहगी भी होती है, सबसे सस्ती पडती है।

यह बात लेखकोंके हितमे ही होगी कि वे अपना प्रकाशक चुनते समय उतनी ही सावधानी से काम ले जितनी कि वे डाक्टर या वकील चुनते समय बरतते है (कोई भी बुद्धिमान् आदमी डाक्टर या वकीलको उसकी कम फीसके कारण नहीं चुनता), और सबसे बड़ी बात यह कि जिन संस्थाओंके बारेमे वे कुछ भी न जानते हो उनकी आर्थिक दशाके बारेमे अच्छी तरह पूछ-ताछ किये बिना उन्हे अपना पैसा न सौंप दे।

यदि कोई प्रकाशक किसी विशेष पुस्तकके प्रकाशनमे पैसा लगानेका भार उठानेसे आनाकानी करे तो यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि उसे उस पुस्तकके व्यापारकी दृष्टिसे लाभदायी होनेके विषयमे शंका है। इसलिए ऐसी परिस्थितिमे किसी लेखकको अपने ऊपर यह भार लेकर खतरा मोल न लेना चाहिये। हॉ, यदि वह अपनी पूँजीका बहुत बड़ा भाग दॉवपर लगानेको तैयार हो तो बात दूसरी है। जो प्रकाशक लेखकमे पूँजी लगानेका जरा भी इशारा करे उससे दूर रहना ही अच्छा है।

यहॉ यह बता देना उचित होगा कि दो-तीन चालाक लोग मिलकर प्रकाशक होनेका स्वॉग भरते है और पुस्तक-उद्योगको बहुत हानि पहुॅ-चाते हैं। ऐसे लोगोंके बारेमे यदि पहलेसे ही "आथर्स सोसाइटी" के दफ्तरमे (या किसी जिम्मेदार पुस्तक-विक्रेतासे) पूछ-ताछ कर ली जाय तो लेखक इनके चंगुलमे फॅसनेसे बच सकते है।

मै तो अनुभवहीन लेखकोंको अपनी पुस्तक अपने पैसेमे प्रकाशित करानेमे हमेशा निरुत्साहित करता रहता हूॅ। यदि किसी रचनामे वास्त-विक गुण हों और लेखक पूरी जानकारीके साथ खतरा उठानेको तैयार

हो और अपने पैसेका नुकसान बर्दाश्त कर सकता हो तो बात दूसरी है।

यह अध्याय बहुत ही लम्बा हो गया है परन्तु इसे समाप्त करनेसे पहले मैं एक बात और कह देना चाहता हूँ।

हम ऊपर यह देख चुके हैं कि लेखक और प्रकाशकके बीच बाकायदा लिखा-पढ़ीका समझौता होना कितना आवश्यक है। हम यह भी देख चुके हैं कि एक अच्छे प्रकाशकके साथ बुरा समझौता कर लेना बुरे प्रकाशकके साथ सोलह आने लाभदायक समझौतेकी अपेक्षा कहीं ज्यादा अच्छा है। हम यह भी देख चुके हैं कि समझौतेकी शर्तें किस प्रकार लिखी जानी चाहिये, परन्तु हमने एक दिलचस्प बातका उल्लेख नहीं किया है कि व्यवहारमें समझौतेसे केवल प्रकाशकपर ही पाबन्दी लग जाती है। मैं यह नहीं चाहता कि मेरी इस बातका गलत अर्थ लगाकर कुछ लोग नाराज हो जायँ। प्रकाशक ऐसी बातोंको पूरा करनेकी जिम्मेदारी लेता है जिन्हें पूरा करनेपर उसे आसानीसे मजबूर किया जा सकता है और लेखक बहुधा ऐसी बातोंकी जिम्मेदारी लेता है जिन्हें पूरा करनेपर उसे आसानीसे मजबूर नहीं किया जा सकता। प्रकाशकोंके पास व्यापार करनेका एक निश्चित स्थान होता है, और किसी भी प्रतिष्ठित प्रकाशकके खिलाफ बिना किसी कठिनाईके कानूनी काररवाई की जा सकती है और इस जानकारीके साथ कि, और सब बातें समान होते हुए, लोगोंकी सहानुभूति लेखकके ही प्रति होगी, और इस विश्वासके साथ कि यदि अदालतने हर्जानेका फैसला दिया तो वह प्रकाशकसे वसूल किया जा सकता है। इसके विपरीत, लेखकोंका कोई निश्चित स्थान नहीं होता, आज यहाँ तो कल वहाँ, या सम्भव है कि वे विदेशमें रहते हों, और यदि उनका स्थान निश्चित होगा तब भी यदि प्रकाशक उनके विरुद्ध कोई कानूनी काररवाई करे तो उसका दावा कितना ही न्यायोचित क्यों न हो, सब लोग उसे अन्यायी ही कहेंगे और उसे जितना लाभ होनेकी आशा होगी, आखीरतक उसे उससे कहीं ज्यादाका नुकसान हो जायगा। परन्तु यद्यपि इस दृष्टिसे यह

मामला एकतरफा ही क्यों न हो, फिर भी लिखा-पढ़ीमें समझौता करा लेनेसे प्रकाशककी बड़ी सुरक्षा हो जाती है, क्योंकि उससें यह सीमा निश्चित हो जाती है कि उससे क्या-क्या माँगें की जा सकती है।[१]

इसके साथ ही, इस बातपर आवश्यकतासे अधिक जोर दिये बिना या पूरी लेखक जातिके खिलाफ आरोप लगाये बिना, मेरा यह बता देना प्रकाशकोंके प्रति न्याय करना होगा कि शायद ही कोई प्रकाशन-संस्था ऐसी हो जो काफी समयसे व्यापार कर रही हो और जिसे कमसे कम बीस-पचीस अनुभव ऐसे न हुए हों जिनमे या तो लेखकोंने समझौतेकी शर्तोंको पूरा न किया हो या उनको भंग न किया हो और प्रकाशकोंको उनका यह व्यवहार कितना ही कटु क्यों न प्रतीत हुआ हो फिर भी उन शर्तोंको पूरा करवानेके लिए कोई कदम उठानेमे असमर्थ न रहे हों। बुरे लोग, सारेके सारे, केवल प्रकाशकोंमे ही नहीं पाये जाते, यद्यपि आम जनताको बुरे प्रकाशकोंका ही ज्ञान हो पाता है।

---

१. इस पुस्तकके लिखे जानेके बाद मेरा ध्यान एक सुझावकी ओर आकर्षित कराया गया है जो स्वर्गीय मेजर जी० एच० पटनमने कई वर्ष पहले रखा था, जिसका मै पूरी तरह समर्थन करता हूँ। यह सुझाव **'आथर्स एण्ड पब्लिशर्स'** नामक पुस्तकके सातवे सस्करण (१८९७) के १२१ वे पृष्ठपर दिया हुआ है : "मुझे विश्वास है कि आगे चलकर किसी समय किसी प्रकारकी साहित्यिक अदालत या पचकी स्थापना सम्भव हो, जिसके सामने प्रकाशकों और लेखकोंके बीच उठनेवाली विभिन्न समस्याएँ पेश की जा सकें। इस प्रकार जिन समस्याओंपर विचार किया जायगा उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण वे होगी जो किसीके विश्वासका या न्यायका स्पष्ट उल्लघन होते हुए भी निश्चित रूपसे इकरारनामेका उल्लघन या कानूनका उल्लघन नहीं कही जा सकती।"

पाँचवाँ अध्याय

मुद्रण तथा जिल्दबन्दी

यदि मुझमें ऐसा प्रयास करनेकी योग्यता होती भी तब भी एक अध्यायके अन्दर उन विविध तथा अत्यन्त कौशलपूर्ण क्रियाओंके पूरे वृत्तान्तकी एक झलक भी दे सकना असम्भव होता जिनका प्रयोग पुस्तक तैयार करनेमें किया जाता है, जैसे कागज बनाना, ब्लाक बनाना, छपाई तथा जिल्दसाजी। और इसकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि इन सभी विषयोंके बारेमें साधारण लोगोंके समझने योग्य पुस्तकें भी मौजूद हैं और विस्तारपूर्ण गूढ़ ग्रन्थ भी, जिनसे लेखक मेरी दी हुई जानकारीकी अपेक्षा कहीं अधिक अधिकृत तथा विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकता है। इस अध्यायमें केवल इस बातका प्रयास किया गया है कि लेखक उन क्रियाओंको अच्छी तरह समझ सके जिनके सम्पर्कमें उनके आनेकी सम्भावना है।

यदि हम प्रत्येक क्रियाको अलग-अलग लें तो शायद हमारा काम ज्यादा आसान हो जायगा, यद्यपि व्यवहारमें इनमेंसे कई क्रियाएँ एक साथ काम करती रहती हैं।

छपाई : पहले एक अध्यायमें हम उस क्रियाके बारेमें बतला चुके हैं जिसे पाण्डुलिपिका "कास्टिंग ऑफ" कहते हैं अर्थात्, उसके शब्दोंको गिनकर यह हिसाब लगाना कि यदि पुस्तक किसी विशेष ढगके अनुसार छापी जाय तो कितने पृष्ठोंमें आयेगी, और इस हिसाबमें "छोटे टाइप" आदि सभी बातोंका ध्यान रखना। परन्तु वहाँ हमने एक प्रश्नपर विचार नहीं किया था जो इससे भी पहले उठता है, अर्थात् मुद्रक चुननेका प्रश्न। जो लोग इस उद्योगसे अनभिज्ञ हैं उनके निकट तो हर प्रेसवाला किताब छाप सकता है परन्तु जिस प्रकार हर दर्जी अचकन कपड़े नहीं सी सकता उसी प्रकार हर प्रेसवाला पुस्तक भी नहीं छाप सकता। प्रेसवाला या तो पुस्तक छापनेवाला होता है या नहीं होता।

यदि आप चाहते हैं कि आपकी पुस्तक ठिकानेकी छपे तो ऐसे व्यावसायिक मुद्रकोंसे आपको बचना चाहिये जो कभी-कभी ही कोई किताब छाप देते है (शायद कोई स्थानीय सूचना-संग्रह अथवा कोई सूची-पत्रके प्रकारकी चीज)। जो संस्थाएँ पुस्तके छापनेकी विशेषज्ञ होती है उन्हे मोटे तौरपर हम दो श्रेणियोमे बॉट सकते है—(१) निपुण परन्तु बहुधा प्रेरणाहीन, (२) अकुशल परन्तु सस्ती।

पहली श्रेणीकी अधिकतर संस्थाएँ प्रान्तोमे पायी जाती है और शायद उपन्यासोको छोडकर अन्य बहुत-सी पुस्तकोकी छपाई इन्हींमे होती है। उनके यहॉकी कीमतोंमें भी ज्यादा अन्तर नही होता—कुछ तो इस वजहसे कि विचारपूर्वक लागतका अनुमान लगानेके कारण उनको यह अन्दाजा हो गया है कि उनका खर्च कितना होता है[1], परन्तु मुख्यतः इस कारण कि वहॉ मजदूरीकी दरमे अधिक अन्तर नही है। मुद्रकके बिलका कमसे कम आधा भाग मजदूरीका होता है, इसलिए मूल्यका निर्धारण मुख्यत. मजदूरीकी दरपर ही निर्भर होता है। परन्तु यह एकमात्र उपकरण नही है, क्योंकि प्रायः इतना ही महत्त्व इस बातका भी है कि काम कितनी पूरी तरह और कितनी कुशलतासे किया जाता है।

यह स्पष्ट है कि यदि पूरी क्रियाका एक अंश छोड दिया जाय या टाल दिया जाय तो मजदूरीमे काफी कमी हो सकती है और द्वितीय श्रेणीके मुद्रकोंकी गणना इसी प्रकारके मुद्रकोंमें होती है। इस प्रकारके मुद्रक अधिक संख्यामे छोटे-छोटे शहरोंमे पाये जाते है। उनके उत्पादनकी मात्रा बहुत ही थोडी होती है और उपन्यास जैसी सीधी-सादी पुस्तकोंके अतिरिक्त उन्हे प्रायः किसी और प्रकारकी पुस्तक छापनेका काम नहीं सौंपा जाता। यदि उनको कोई दूसरा काम सौंप दिया जाय

---

१. आशा है कि किसी दिन दूसरे प्रकाशक भी उनका अनुसरण करेंगे और आपसमे खुलकर एक दूसरेको अपने अनुभवोसे परिचित कराएंगे।

तो परिणाम बहुत ही भयानक हो सकता है, क्योंकि वे प्रूफ पढ़नेके लिए योग्य प्रूफ-रीडरोंपर पैसा नहीं खर्च करते, लागतका अनुमान लगानेके लिए उनके पास कोई कुशल आदमी नहीं होता और वे छपाईसे पहले "तैयारी" (मेकिंग रेडी) में काफी समय नहीं लगाते जिसके बिना संतोषजनक फल प्राप्त करना असम्भव होता है। कुछ प्रकाशक जिस हदतक ऐसी संस्थाओंपर भरोसा करते हैं, उसपर मुझे बहुत आश्चर्य होता है। मेरे विचारमें यह एक गलत किस्मकी मितव्ययिता है और ऐसे मुद्रकको खोजनेमें, जो पुस्तकके मूल्यमें एक-दो पैसेकी कमी कर देगा, बेशुमार समय और शक्ति नष्ट करनेकी प्रवृत्तिका आधार एक गलत धारणापर है, वह यह कि छपाईकी लागतमें मुद्रक अपने मुनाफेकी जरूरतसे ज्यादा गुञ्जाइश रखता है। पुस्तके छापनेवाली कुछ संस्थाएँ ऐसी हैं जो कुछ विशेष परिस्थितियोंके कारण काफी मुनाफा कमाती हैं, परन्तु वे नियम नहीं, नियमका अपवाद हैं। इस विषयपर मुझे अन्दरूनी जानकारी प्राप्त है और मैं पूरे विश्वासके साथ इसके बारेमें कह सकता हूँ। इसके अतिरिक्त घटिया प्रेसोंमें छपाई करवानेसे छपाईका स्तर बहुत गिर जाता है। ऐसी संस्थाओंका मुकाबला करनेका अच्छी संस्थाओंके पास केवल एक ही उपाय है कि वे अपने कामको पूरी लगनके साथ न करें और उन्हें अपना स्तर ऊँचा उठानेमें प्रोत्साहित करनेके बजाय बहुधा इसीके लिए मजबूर किया जाता है।

बहुत-से लेखकोंका यह विचार है कि जिस प्रकाशकके पास अपना प्रेस होता है उसे बहुत सुविधा हो जाती है। परन्तु यह एक भ्रम है। बल्कि यह उल्टे उसके हितके खिलाफ भी हो सकता है। किसी प्रेसको कम खर्चपर चलानेके लिए और फलतः उससे मुनाफा कमानेके लिए यह आवश्यक है कि उसे नियमित रूपसे लगातार पाण्डुलिपियाँ मिलती रहें। कोई भी संस्था, वह चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो, इस बातका दावा नहीं कर सकती कि प्रेसकी सभी मशीनोंको लगातार

कामपर लगाये रखनेके लिए नियमित रूपसे पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती रहेंगी। जरा-सी ढील-ढाल होनेपर मशीन बेकार पडी रहती है या अपने प्रेसका पूरा-पूरा उपयोग करनेके लिए प्रकाशकको यह लालच होता है कि वह किसी ऐसे प्रकाशनको हाथमे ले ले, जिसे छापनेसे वह साधारण परिस्थितिमें इन्कार कर देता। इस प्रकार व्यापारके छपाई और प्रकाशनके पहलुओंमें लगातार खींचा-तानी चलती रहती है। आदर्श व्यवस्था तो यह होती है कि प्रकाशन-संस्था पूर्णतः स्वतन्त्र हो, परन्तु एक या अधिकसे अधिक दो प्रेसोसे उसका बहुत निकटका सम्बन्ध हो और इसके साथ ही उसे यह आजादी भी हो कि उन प्रेसोंमें काम अधिक होनेपर वह किसी दूसरे प्रेसमें भी अपना काम करवा सकती है। परन्तु प्रकाशन-उद्योगके हमारे कई दूसरे प्रकाशक मेरे इस मतका विरोध करेंगे और असीमित प्रतियोगिताके पक्षमे अपना मत प्रकट करेंगे।

पाण्डुलिपि तैयार करना : प्रकाशक चाहे जितना अच्छा मुद्रक पसन्द करे परन्तु "पाण्डुलिपिको छपाईके लिए तैयार करना" उसके लिए आवश्यक होता है। यह काम कितने विस्तृत रूपसे किया जाय और इसपर कितना समय खर्च किया जाय, यह इसपर निर्भर होता है कि मुद्रक किस प्रकारका है और लेखक कितना अनुभवी है।

आजकल अधिकतर पाण्डुलिपियाँ टाइप की जाती हैं, परन्तु बहुत थोड़े टाइपिस्ट ऐसे होते हैं जो उन न्यूनतम आवश्यकताओंको भी पूरा करते हों जो पुस्तककी टाइप की हुई पाण्डुलिपि तैयार करनेके लिए वांछनीय होती हैं। उदाहरणके लिए, यह कहना अनुचित न होगा कि मुद्रकोंकी तरह उनका भी "एक बँधा हुआ नियम" हो ताकि नामसूचक संज्ञाएँ एक ही ढंगसे लिखी जायँ और दीर्घ अक्षरका प्रयोग समान रूपसे किया जाय; वे इस बातका ध्यान रखे कि जिस शब्द या वाक्यके नीचे एक लाइन खींच दी जायगी वह (इटैलिक) तिरछे टाइपमें और

जिसके नीचे दो लाइने खींच दी जायँगी वह छोटे आकारके दीर्घ अक्षरोंमे और जिसके नीचे तीन लाइने खींच दी जायँगी वह बडे आकारके दीर्घ अक्षरोंमें छापा जायगा; उद्धरणोंके बीचमें केवल एक लाइनकी जगह छोडी जाय और उन्हे थोड़ा हाशिया (इण्डेण्ट) छोडकर टाइप किया जाय; और यद्यपि यह बात स्वतः स्पष्ट मालूम होगी पर उन्हें इस बातका भी ध्यान रखना चाहिये कि वे मुखपृष्ठ और विषय-सूची भी उचित ढंगसे टाइप कर दें। यदि कोई टाइपिस्ट इस पुस्तकको पढ़े तो मैं उससे प्रार्थना करूँगा कि वह किसी अच्छी छपी हुई पुस्तकके आरम्भके पृष्ठ ध्यानसे देखकर यह मालूम कर ले कि इसके अतिरिक्त और क्या बातें आवश्यक हैं, जैसे द्वितीय मुखपृष्ठ (या जैसा कि उसे आम तौरपर, परन्तु गलत ढंगसे अर्ध-मुखपृष्ठ या हाफ-टाइटिल कहते हैं) और मुख-पृष्ठके पीछेवाला पृष्ठ, जिसपर पुस्तकके विभिन्न संस्करणोंकी तारीखें तथा पुस्तक-सम्बन्धी अन्य सूचना और कापीराइटकी सूचना आदि दी होती है। यदि यह मालूम हो कि पुस्तकोंमे चित्र भी होंगे तो एक सादा पृष्ठ छोड़कर उसपर "चित्रोंकी सूची" शीर्षक टाइप कर दिया जाय। इसी प्रकार "भूमिका" अथवा "प्रस्तावना" शीर्षक लिखकर भी सादे पृष्ठ जोड़ दिये जायँ—यदि इनके लिखनेकी आयोजना हो पर पाण्डुलिपि देते समयतक लिखकर तैयार न किये जा सके हों। इन सब बातोंका महत्त्व आजकल और भी बढ़ गया है, क्योंकि इन पृष्ठोंकी पृष्ठसंख्या भी मूल विषयके क्रममें ही दी जाती है।

कुछ प्रकाशक एक आदमी ऐसा रखते हैं जिसका काम केवल यह होता है कि वह पाण्डुलिपिको छपाईके लिए तैयार कर दे और जहाँतक सम्भव हो, बादमें गलतियाँ सुधारनेकी सम्भावनाको न्यूनतम कर दे। आजकल अब कि कम्पोजिंगका काम मशीनके द्वारा होने लगा है, और मशीन चलानेवालोंको बड़ी-बड़ी तनख्वाहें देनी पड़ती हैं तथा मशीनकी लागत भी काफी होती है, ध्यानपूर्वक सम्पादित पाण्डुलिपियोंके कारण बहुत काफी बचत हो सकती है।

पृष्ठ किस आकारका हो, इसका निर्णय कई बातोंपर निर्भर होता है। प्रायः सभी उपन्यास क्राउन आक्टेवो (अठपेजी) साइजपर छापे जाते है, अर्थात् ७½ इञ्च लम्बे और ५ इञ्च चौड़े पृष्ठपर, और इनकी छपाई जिस कागजपर होती है उसके आकारको डबल क्राउन कहते हैं, अर्थात् २० इञ्च चौड़ा और ३० इञ्च लम्बा। इसी प्रकार जीवन-चरित्र बहुधा डिमाई आकारके कागजपर छापे जाते है, यदि पुस्तक बहुत ही बड़ी हो तो इससे भी बड़ा आकार पसन्द किया जा सकता है। नीचे हवालेके लिए तीन या चार वे आकार दिये गये है जो बहुधा प्रयोग किये जाते है।

यदि कागज विशेष रूपसे बनवाया जाय तो इनके बीचके आकार भी पसन्द किये जा सकते है। उदाहरणके लिए, कोई प्रकाशक अपने उपन्यास २०×३० इञ्च आकारके कागजके बजाय २१×३१ इञ्च आकारके कागजपर छपवाकर उनके रूपको निखार सकता है। मेरी संस्थामे भी बहुधा २१¾×३२ इञ्च आकारका कागज प्रयोग किया जाता है जो क्राउन और डिमाई आकारोंके बीचका होता है (इसे लार्ज क्राउन आकार कहते हैं)।

नाम	पृष्ठका आकार	कागजका आकार जो बहुधा प्रयोग किया जाता है।	बहुधा किस प्रकारकी पुस्तकके लिए प्रयुक्त होता है।
फुलस्केप	४¼×६¾	२७×३४ (क्राउ फुलस्केप)	पाकेट एडीशन
क्राउन	५×७½	२०×३० (डबल क्राउन)	उपन्यास
डिमाई	५⅝×८¾	२२½×३५ (डबल डिमाई)	जीवन-चरित्र, यात्रा-वर्णन, इतिहास, आदि
रायल	६¼×१०	२५×४० (डबल रायल)	

परन्तु स्टैण्डर्ड आकारसे भिन्न जितने कागज होते है, वे कितने ही आकर्षक क्यों न होते हों, पर उन्हें विशेष रूपसे बनवाना पड़ता है

और अच्छा ही हो कि लेखक यह बात भलीभाँति समझ लें कि विशेष आकारका कागज बनवानेका क्या अर्थ होता है। एक टनसे कम मात्रामें विशेष आकारका कागज प्राप्त करना प्रायः असम्भव होता है और इसमें कमसे कम एक-दो मासका समय लग जाता है। इसके अतिरिक्त मात्रामें १० प्रतिशततकका हेर-फेर हो जाता है, जैसे यदि आप २,००० प्रतियोंके लिए कागजका आर्डर दें तो सम्भव है कि आपको केवल १,८०० प्रतियोंका कागज मिले या आपको २,२०० प्रतियोंका कागज लेनेपर बाध्य होना पड़े। सम्भव कि पहला संस्करण छापते समय ये सब बातें असुविधाजनक न हों, परन्तु यदि दूसरा संस्करण जल्दीमें छापना हो या केवल बहुत थोड़ी-सी प्रतियाँ ही छापनी हों तो इन बातोंका परिणाम बहुत ही हानिकारक हो सकता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रकाशक अपनी पसन्दके आकारका कागज काफी मात्रामें अपने स्टाकमें क्यों नहीं रखते। इसका उत्तर यह है कि बहुत-से प्रकाशक रखते हैं, परन्तु इससे कठिनाई केवल आंशिक रूपसे दूर होती है, क्योंकि यदि आकार ठीक हो भी तब भी सम्भव है कि कागजका वजन और उसकी मात्रा उचित न हो, और ये भी उतना ही बदलते रहते हैं जितना कि आकार। इसके अतिरिक्त यह कठिनाई भी होती है कि पहलेसे पूरी तरह सोच-विचार कर लेनेके बाद भी सम्भावना इसी बातकी होती है कि कागज किसी दूसरे मुद्रकके यहाँ रखा हो और फौरन मँगवानेके लिए उसे ढोनेका खर्च अलगसे देना पड़ता है।

क्राउन तथा डिमाई आकारके कागजोंके प्रयोगसे ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं, क्योंकि इस आकारका कागज हर समय किसी भी बड़े कागज-विक्रेताके यहाँ, किसी भी वजनका और कितनी ही मात्रामें, मिल सकता है। इसलिए व्यवहारमें सबसे ज्यादा यही दो आकार इस्तेमाल किये जाते हैं, यद्यपि लार्ज क्राउन आकारका पृष्ठ बहुधा इनमें-से अधिक अच्छा लगता है।

टाइप कौन-सा इस्तेमाल किया जाय और पृष्ठके कितने हिस्सेपर छपाई की जाय : पृष्ठका आकार निर्धारित कर लेनेके बाद इन प्रश्नोंपर विचार करना पडता है। अभी बहुत थोडे ही समय पहलेतक तमाम किताबोंकी छपाई हाथकी कम्पोजिंग द्वारा होती थी; धीरे-धीरे मशीनो द्वारा कम्पोजिंगका चलन बढ़ता जा रहा है। अंग्रेजीकी पुस्तकोंमें तो अधिकांशकी कम्पोजिंग मशीनो द्वारा ही होती है।

किताबोंकी छपाईके लिए जो मशीन आजकल सबसे ज्यादा इस्तेमाल होती है वह है मोनोटाइप मशीन। इस मशीनके दो हिस्से होते हैं। पहला हिस्सा, जो एक बडे टाइप-राइटरकी शक्लका होता है, कागजकी एक पट्टीपर सूराख बना देता है और यह पट्टी एक रोल या चर्खीके रूपमे लिपटती रहती है। दूसरी मशीनमे कागजका यह रोल जैसे-जैसे खुलता जाता है वैसे ही वैसे पियानोलाके सिद्धान्तके अनुसार हर अक्षर और शब्दोंके बीचकी जगह अलग-अलग ढलकर तैयार होती जाती है और आपके जाने बिना ही प्रायः चमत्कारिक ढंगसे, यह मशीन इन अक्षरोंको उचित क्रमसे पंक्तियोंमे सजा देती है। लाइनोटाइप और टाइपोग्राफ मशीनोंमे पूरी पंक्ति एक ही टुकड़ेमे ढलकर तैयार होती है, जिसे 'स्लग' कहते हैं और बादमे यदि उस पंक्तिमें अर्ध-विरामका भी परिवर्तन करना होता है तो पूरी पंक्तिको दुबारा ढालना पड़ता है।

किताबोंकी छपाईमें कम्पोजिंगके लिए पहले-पहल जब मशीनोंका प्रयोग किया गया तो परिणाम बहुधा बहुत निराशाजनक होता था, परन्तु अब भाँति-भाँतिके श्रेष्ठतम आकृतिके टाइप इन मशीनोंपर ढाले जा सकते हैं।

आजसे चालीस वर्ष पहले जिन लोगोंको भवन निर्माणकलाकी दो शैलियोंके मिश्रणको देखकर धक्का-सा पहुँचता था, वही लोग बिना किसी आपत्तिके उस छपाईको स्वीकार कर लेते थे जिसमे आधे दर्जन जातिके अक्षरोंका मिश्रण होता था। बडे सौभाग्यकी बात है कि इंग्लैण्डमें छपाईके अक्षरों (टाइप)के बारेमे अब उस जमानेकी-सी हालत

बाकी नहीं रह गयी है और निरन्तर ऐसे अच्छे टाइपोंकी माँग बढ़ती जा रही है जिनकी अपनी एक निश्चित विशिष्टता हो। पुराने रूप (फेस) के टाइपका या पुरानी शैलीका प्रयोग किया जाय कि नहीं, यह बात अपनी अपनी पसन्दपर निर्भर होती है और इस बातपर भी कि वह विशेष टाइप उस विशेष कामके लिए उपयुक्त है या नहीं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि टाइप ऐसा हो जो आसानीसे पढ़ा जा सके और देखनेमें भी सुन्दर हो। उन तमाम टाइपोंमें, जिन्हें समयका प्रवाह बदलनेमें असफल रहा, ये गुण पाये जाते हैं।

फिर भी, बहुत सतर्क रहनेकी जरूरत होती है क्योंकि किसी टाइप-में छपा हुआ खूबसूरतसे खूबसूरत पृष्ठ भी किसी दूसरी जाति (फान्ट) के टाइपमें शीर्षक लगा देनेसे तबाह हो सकता है। इसलिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि उचित प्रकारका टाइप पसन्द किया जाय बल्कि यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि पूरी पुस्तकमें एक ही जाति-का टाइप इस्तेमाल किया जाय।

टाइपका आकार बदलता रह सकता है; हिन्दीकी किताबोंमें टाइपके जो आकार बहुधा प्रयोग किये जाते हैं, वे निम्न-लिखित हैं—

पाइका, जिसे अब १२ प्वाइंट कहते हैं।

छोटा पाइका, जिसे अब १२ प्वाइंट कहते हैं।

सादा पाइका, जिसे अब १२ प्वाइंट कहते हैं।

लांग प्राइमर सादा, जिसे अब १० प्वाइंट कहते हैं।

पृष्ठके कितने भागपर छपाई की जाय, इसका फैसला करते समय खर्च और सुन्दरता दोनों बातोंका ध्यान रखना पड़ता है। इनमें-से अधिकतर लोग यह बात पसन्द करते हैं कि हाशिये चौड़े-चौड़े हों और टाइपके बीचमें काफी जगह छूटी हो, परन्तु यदि पुस्तककी उपयोगिता इसपर निर्भर हो कि कमसे कम कीमतमें ज्यादासे

ज्यादा पाठ्य-सामग्री दी जाय, तो पुस्तकोंकी उपयोगिता और चौड़े हाशिये तथा टाइपके बीचमें काफी जगह, दोनोंको साथ नहीं निभाया जा सकता। उदाहरणके लिए, एवरीमैन लाइब्रेरीकी पुस्तकें, जो उपयोगिताकी दृष्टिसे आदर्श पुस्तकें हैं, बिलकुल "ठोस छपी" होती है (अर्थात् उनमें पंक्तियोंके बीचमें लेड[1] नही डाले जाते) और उनके हाशिये भी बहुत ही असन्तोपजनक होते है, परन्तु इन कारणोंसे उन पुस्तकोंकी निन्दा नहीं की जा सकती। फिर भी, यह बात अत्यन्त आवश्यक है कि पृष्ठके छपे हुए भागका आकार निश्चित करते समय हाशियोंकी चौड़ाई, पंक्तियोंके बीचमें काफी जगह और शब्दोंके बीच समान अन्तर रखनेकी ओर उचित ध्यान दिया जाय। इसी कारण यह आवश्यक है कि मुद्रक नमूनेका जो पृष्ठ भेजे वह उसी आकारके कागज-पर हो जिस आकारका पुस्तकका पृष्ठ होगा. परन्तु यह सम्भव नहीं है (लेखकोंको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये) कि नमूनेके पृष्ठके कागजकी किस्म (क्वालिटी) और वजन भी वही हो जो वास्तवमें छापते समय प्रयोग किया जायगा, और नमूनेका पृष्ठ भेजते समय कागज पसन्द कर लेना बहुत जल्दी करना होगा।

पृष्ठपर छपे हुए भागकी स्थिति निश्चित करते समय, अर्थात् इसी बातको यदि दूसरे ढंगसे कहा जाय तो पृष्ठके ऊपर, नीचे और बगलमें हाशियोंकी चौड़ाई निर्धारित करते समय बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये और इस सम्बन्धमें किसी प्रकारकी ढील-ढाल न करनी चाहिये। इस क्रियाको छपाईकी विशेष शब्दावलीमें "इम्पोजीशन" कहते हैं; इस क्रियामें केवल एक अकेले पृष्ठको जमानेका नहीं बल्कि पूरे ताव (शीट) को जमानेका सवाल होता है; और एक पृष्ठ सम्भवतः पूरे

---

१. लेडोंकी चौड़ाई 'प्वाइंट'के हिसाबसे नापी जाती है। पृष्ठ ११२ पर टाइपोंका आकार देखिये। एक प्वाइंटका लेड एक इञ्चके बहत्तरवें भागके बराबर होता है। इस पुस्तकमें तीन प्वाइंटके लेड लगे हैं।

तावका सोलहवाँ भाग हो जाता है। यह समस्या शुरू-शुरूमें देखनेमें जितनी सरल मालूम होती है, वास्तवमें उससे कहीं ज्यादा जटिल होती है। और हम शीघ्र ही इसकी चर्चा करेंगे।

गेली प्रूफ—टाइपको 'इम्पोज' करनेसे पहले, उसे कम्पोज करनेका सवाल आता है; और कम्पोजिंग चाहे हाथसे की जाय या मशीनसे, उसे आरम्भसे ही पृष्ठोंके रूपमें अलग-अलग नहीं बल्कि लम्बी लम्बी गेलियोंके रूपमें बनाया जाता है और इसी रूपमें भेजा जाता है। यदि इसकी सम्भावना हो कि प्रूफमें बहुत काफी काट-छाँट की जायगी या नयी चीजें जोड़ी जायँगी, जिनके कारण पेज बनानेमें काफी परिवर्तन करने पड़ेंगे, अर्थात् एक पेजका मैटर अगले या पिछले पृष्ठपर ले जाना होगा, तो इस प्रकारके प्रूफ, जिन्हें "गेली" या "स्लिप" प्रूफ कहते हैं, आवश्यक हो जाते हैं। यद्यपि लेखकोंमें यह धारणा आम है, परन्तु यदि विषय-वस्तुमें सुधारोंके कारण किसी विशेष पृष्ठके शब्दोंकी संख्यामें बहुत ज्यादा अन्तर न हो, जैसा कि बहुधा होता है—गेली प्रूफसे कोई विशेष बचत नहीं होती। इसके अतिरिक्त, यदि किसी अध्यायके अन्तमें चीजें जोड़ी या निकाली गयी हों तो ये परिवर्तन पेजप्रूफमें भी उतनी ही आसानीसे किये जा सकते हैं जितनी आसानीसे गेली प्रूफमें। इसलिए आज-इंग्लैण्डमें यह आम चलन है कि पहला प्रूफ पेजकी शक्लमें भेजा जाता है। इस चलनकी व्यापकता इस कारण और भी बढ़ गयी है कि मुद्रकको प्रूफ यदि पहले गेलीके रूपमें और उसके बाद पेजके रूपमें देने पड़ते हैं तो वह "मेकिंग अप"की मदमें ज्यादा रकम वसूल करता है। "सीधे-सीधे पेज बनवा लेने"के लाभ अनेक हैं और अधिकतर उदाहरणोंमें इसके कारण होनेवाली असुविधाएँ नगण्य होती हैं। कुछ पुस्तकें तो हमेशा ही ऐसी होंगी जिनमें गेली प्रूफ भेजना आवश्यक होगा परन्तु ये पुस्तकें एकाध ही होंगी। पेजप्रूफसे इस्तेमाल करनेमें बड़ी सुविधा होती है, वे स्पष्ट [illegible] पूर्वसूचनाके लिए

बड़ी आसानीसे दिये जा सकते है, समाचारपत्रोंके लिए वे बहुत उपयोगी होते है; और सबसे बडी बात तो यह है कि उनमें खर्चकी बचत बहुत होती है। इसके अतिरिक्त दो अन्य लाभ भी है। पहला यह कि पहली बार प्रूफ पढते समय ही अनुक्रमणिका तैयार की जा सकती है (इससे असंगतियोंका पता लगानेमे सुविधा हो जाती है); दूसरा लाभ यह है कि पेज बनानेके दौरानमे मुद्रकसे कोई गलती होनेकी चिन्ता नही रह जाती। परन्तु यदि गेली प्रूफ न दिये जा रहे हो तो कई छोटी-छोटी बातोपर पहलेसे ध्यान दे लेना आवश्यक होता है। प्रेसके लिए पाण्डुलिपि तैयार करनेका महत्त्व ऊपर बताया जा चुका है; यदि पुस्तकमे पृष्ठोका संख्याक्रम इसी समय दिया जा रहा हो तो विशेष रूपसे सावधान रहनेकी आवश्यकता होती है, खास तौरपर उस दशामें जब आरम्भके पृष्ठोकी संख्या भी पुस्तककी मूल सामग्रीके क्रममे ही रखी जानेवाली हो।

"आरम्भके पृष्ठों" से मतलब उन आठ या सोलह पृष्ठोसे होता है जो पुस्तकके शुरूमे होते हैं, जिनमे अर्ध-मुखपृष्ठ (हाफ-टाइटिल या बास्टर्ड टाइटिल), मुखपृष्ठ, पुस्तकसे सम्बन्धित सूचना, समर्पण, विषय-सूची, प्रस्तावना, आदि शामिल होते है। पुस्तकके इस भागके संयोजन या 'ले-आउट' के लिए, विशेष रूपसे मुखपृष्ठके 'ले-आउट' के लिए टाइपोंको सजानेकी विशेष कुशलताकी आवश्यकता होती है। पुस्तकके आरम्भके इन पृष्ठोंपर केवल एक नजर डालनेसे ही पता चल जाता है कि पुस्तकका प्रकाशन किसी कुशल और अनुभवी आदमीके हाथमे था या नहीं। विषय-सूची, चित्रोंकी सूची, प्रस्तावनाओं और भूमिकाओं आदिके लिए एक निश्चित क्रम मुकर्रर है। कुछ बातोंके बारेमें कुछ मतभेद है परन्तु स्वर्गीय डाक्टर वेलिंजरने जो नियम निर्धारित किये हैं उनका अनुसरण करना आम तौरपर उपयोगी होता है। ६ अप्रैल, १९२२ के दि टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेण्टमें उनका एक बड़ा दिलचस्प पत्र प्रकाशित हुआ था, जिसमें उन्होंने लिखा था :

यदि प्रस्तावना दो या तीन पृष्ठसे बड़ी हो तो उसे भूमिका समझना चाहिये। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय तो पुस्तकके प्रारम्भिक पृष्ठोंके लिए यह क्रम बिना किसी असुविधाके अपनाया जा सकता है: १. मुखपृष्ठ (जिसके पीछे पुस्तक-प्रकाशनकी तारीख तथा अन्य सूचना दी होती है); २. प्रस्तावना; ३. विषय-सूची, ४. चित्रोंकी सूची, ५. भूमिका; ६. मूल विषय।

कई प्रकाशक टाइटिल पेजपर अपनी मुहर या "ट्रेड मार्क" छापते हैं; यह निश्चयके साथ नहीं कहा जा सकता कि इसके लिए यह सबसे उचित स्थान है क्योंकि इसके कारण कुछ हदतक एक नीरसता आ जाती है और अक्सर इसके कारण पृष्ठको सुन्दर ढंगसे सजानेमें बाधा पड़ सकती है। अर्ध-मुखपृष्ठ इसके लिए ज्यादा उचित है परन्तु यहाँ भी यह बहुत ही प्रमुख होकर सारे पृष्ठपर छा जायगा। यदि इस सम्बन्धमें कोई आम नियम निर्धारित करना आवश्यक ही हो तो इस मुहरके लिए पुस्तकके अन्तमें जो परम्परागत स्थान है वही सबसे ज्यादा उपयुक्त होगा।

प्रकाशनकी तारीख मुखपृष्ठपर दी जाय या उसके पीछे, इस बातका ज्यादा महत्त्व नहीं है, महत्त्वकी बात यह है कि प्रकाशनकी तारीख दी अवश्य जाय। यदि यह बात निश्चित हो कि पुस्तक दुबारा कभी प्रकाशित न होगी तो मुखपृष्ठपर ही तारीख देना अधिक तर्कसंगत होगा। परन्तु यदि पुस्तककी पुनरावृत्तियोंमें उस पुस्तकके प्रकाशनके बारेमें पूर्णतम सूचना अनिवार्य रूपसे देना वांछनीय समझा जाय—और मैं दृढ़तापूर्वक इसके पक्षमें हूँ कि यह सूचना दी जानी चाहिये—तो पहले संस्करणमें ही प्रकाशनकी तारीख मुखपृष्ठके पीछे देना बुद्धिमानी होगी।

यदि तारीख मुखपृष्ठपर होगी और दूसरी आवृत्ति जल्दी ही छपनी पड़ी, तो पुरानी तारीखके बजाय नयी तारीख डाल दी जायगी और पुस्तकके प्रकाशनसे सम्बन्धित सूचना देनेका ध्यान भी न रहेगा। यदि

मुखपृष्ठके पीछे प्रकाशनकी तारीख इस प्रकारके किसी रूपमे दे दी जाय कि

प्रथम बार १९४५ में प्रकाशित

तो दूसरी आवृत्तिके प्रकाशनके समय यदि किसीको पुस्तकके प्रकाशनके बारेमे सूचना देनेका ध्यान न भी रहे तो केवल ये शब्द जोड देनेसे कि "पुनरावृत्ति : १९४६" अपने-आप प्रकाशन सम्बन्धी आवश्यक सूचना प्राप्त हो जायगी। इसलिए यदि तमाम लाइब्रेरियन और दूसरे लोग, जिनके लिए प्रकाशन सम्बन्धी सूचनाका विशेष महत्त्व होता है, इस बातपर जोर दें कि प्रकाशनकी तारीख मुखपृष्ठके पीछे छापी जाय तो यह बात उनके हितमे होगी।

अब सवाल आता है "आवृत्ति" और "संस्करण" शब्दोंके प्रयोगका। इस बातपर जितना जोर दिया जाय, कम है कि "आवृत्ति" शब्दका प्रयोग केवल पुस्तकके (जिसमें प्रथम प्रकाशनमें किसी प्रकारका भी परिवर्तन न किया गया हो) दुबारा छपनेतक ही सीमित रखा जाय, और इसी प्रकार "संस्करण" शब्द उस समयतक प्रयोग न किया जाय जबतक नये प्रकाशनमे संशोधन न किये गये हों, या कुछ चीजे जोडी न गयी हों या पुस्तकका आकार न बदला गया हो। (यदि पुस्तक किसी दूसरी कीमतपर प्रकाशित की जा रही हो, या किसी ऐसी पुस्तकका कोई भाग, जो बाजारमें बिक रहा हो, किसी दूसरे रूपमें प्रकाशित किया जा रहा हो, तो उसे "पुनःप्रकाशित" कहना ही सबसे अच्छा होगा।) लेकिन यदि "संस्करण" शब्द प्रयुक्त किया गया हो तो यह समझ लेना गलती होगी कि पुस्तकमें बहुत काफी परिवर्तन किये गये हैं। यदि किसी पुस्तकमें "काफी सामग्री जोड़ी गयी हो" तो हमें विश्वास रखना चाहिये कि प्रकाशक इस बातका उल्लेख अवश्य कर देगा। पुस्तककी एक आवृत्ति या संस्करणकी कितनी ही प्रतियाँ छापी जा सकती हैं, सम्भव है कि एक पुस्तक जिसकी पाँचवीं आवृत्ति प्रकाशित हुई हो, फिर भी उसकी उतनी प्रतियाँ न बिकी हो जितनी एक

ऐसी पुस्तककी जिसकी, कोई भी पुनरावृत्ति प्रकाशित न हुई हो। आजकल अधिकतर मुद्रक १,००० से कम प्रतियोंके लिए भी १,००० प्रतियोंके हिसाबसे छपाई लेते हैं, इसलिए इससे कम प्रतियाँ छपवाना लाभदायक नहीं होता। इसलिए एक जमानेमें ५०० प्रतियोंका संस्करण छाप लेना एक आम बात थी लेकिन अब किसी पुस्तकको उस समयतक दुबारा प्रकाशित करना लाभदायक नहीं समझा जाता जबतक कि उसकी १,००० प्रतियाँ न छापी जा सकें; कुछ महँगी और बड़ी-बड़ी रचनाओंके १,००० प्रतियोंसे कमके संस्करण कभी-कभी प्रकाशित कर लिये जाते हैं। यूरोपमें, और विशेष रूपसे जर्मनीमें, एक संस्करणका मतलब बहुधा १,००० प्रतियोंसे होता है, और यदि कोई प्रकाशक किसी पुस्तककी ५,००० प्रतियाँ छापता है, तो वह उन्हें १—५ संस्करण कह सकता है।

मुखपृष्ठके पीछेवाले पृष्ठके और भी कई इस्तेमाल हैं। इसी पृष्ठपर "सर्वाधिकार सुरक्षित" या "कापीराइट" आदि प्रकारकी सूचनाएँ और इन सबसे महत्त्वपूर्ण चीज, अर्थात् मुद्रकका नाम-पता आदि दिया होता है। इसी पृष्ठपर कुछ लोग जिस देशमें पुस्तक प्रकाशित की गयी हो उसका नाम लिखना पसन्द करते हैं। मुद्रकका नाम-पता लिखना तो हर हालतमें अनिवार्य है[1]; लेकिन इस बातका वास्तविक महत्त्व प्रकाशकको उस समय मालूम होता है जब पुस्तकोंका आयात और निर्यात किया जाता है और उनपर उस देशका नाम नहीं छपा होता जहाँ वे प्रकाशित की जाती हैं; इसी समय अनुभवहीन प्रकाशकको ब्रिटिश मार्क नियम या अमेरिकी आयात-निर्यात सम्बन्धी नियमोंका ज्ञान होता है।

---

१. भारतमें प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन ऑफ बुक्स् ऐक्ट १८६७ के अनुसार पुस्तकके मुद्रकका ही नहीं, वरन् प्रकाशकका भी नाम तथा पता पुस्तकपर अवश्य छपा रहना चाहिये। [illegible] प्रकाशकके नामके बदले उसका पद (मन्त्री, म[illegible] आदि) दे देना भी पर्याप्त है।

पुस्तकके प्रारम्भिक पृष्ठोमे समर्पण, संक्षिप्त प्रस्तावनाएँ आदि शामिल करनेकी समस्या बहुत ही सीधी-सादी होती है, बशर्ते कि उनके बारेमे उचित समयपर विचार कर लिया जाय ; परन्तु यदि छपाईकी सारी सामग्री तैयार कर ली गयी हो और इन चीजोके लिए पृष्ठ न छोड़े गये हो तो यह समस्या अत्यन्त जटिल साबित हो सकती है और बिलकुल आखिरी वक्तपर इनके बारेमे फैसला करनेसे मुद्रकके यहाँ पुस्तककी छपाईमे काफी विलम्ब भी हो सकता है। इसलिए यदि कोई सन्देह हो तो प्रारम्भिक पृष्ठोके लिए दो पृष्ठ अधिक छोड देना अच्छा होगा, क्योकि यदि इन पृष्ठोकी आवश्यकता न हुई तो पुस्तकके आरम्भमे दो पृष्ठ सादे छोड़े जा सकते है। परन्तु यदि पहलेसे गुंजाइश न रखी गयी और बादमे जरूरत पडी तो उसे अलगसे छापकर खास तौरपर सिलाना होगा या आर्ट पेपरपर छपे हुए चित्रकी तरह अलगसे चिपकाना होगा।

शीर्षकोके बारेमे भी पहलेसे ध्यान देना आवश्यक होता है; किसी गम्भीर विषयकी रचनाके समझदार पाठकको शायद किसी दूसरी चीजसे इतनी उलझन नही होती जितनी इस चीजसे कि पुस्तकका नाम दाये और बाये दोनो पृष्ठोपर आदिसे अन्ततक छपा हो। इससे बचनेके लिए प्रकाशक बहुधा अपने मुद्रकको स्थायी रूपसे यह आदेश दे देता है कि जबतक विशेष रूपसे कोई नया आदेश न दिया जाय तबतक शीर्षकोके बारेमे इस नियमका पालन किया जाय कि बाये पृष्ठपर पुस्तकका नाम और दायें पृष्ठपर अध्यायका नाम छापा जाय। यह अत्यन्त उपयोगी और सुविधाजनक नियम है और इसका एक बहुत बडा फायदा यह है कि मुद्रक छपाई फौरन पूरी कर सकता है। इसके अतिरिक्त इससे इस बातमे भी सुविधा होती है कि जिल्द बँधनेसे पहले पुस्तकके छपे हुए फार्म आसानीसे पहचाने जा सकते हैं; डाक्टर वैलिंजरने भी इस बातपर जोर दिया है। लेकिन कुछ लेखक यह बात ज्यादा पसन्द करते हैं कि हर अध्यायका नाम बायें पृष्ठपर शीर्षकके रूपमे दिया जाय

और दायें पृष्ठके शीर्षकमें उस पृष्ठ-विशेषकी विषय-वस्तुका विवरण क्रमिक रूपसे दिया जाय। इस योजनापर अमल करते समय दायें पृष्ठोंके शीर्षकोंका स्थान खाली छोड देना पडता है और लेखक प्रूफ देखते समय उन खाली स्थानोंको भर देता है। इसका अर्थ यह होता है कि भूल-सुधारकी मदमें जितनी रकम रखी जाती है उसमें वृद्धि हो जाती है और यह बात लेखक और प्रकाशकके बीच बिलकुल साफ हो जानी चाहिये कि इस कामको "भूल-सुधार"में शामिल किया जायगा या नहीं। शीर्षकोंके बारेमें जो भी तरीका अपनाया जाय, परन्तु जो लेखक अपने अध्यायोंके नाम बहुत लम्बे-लम्बे रखते हैं, यदि वे पाण्डुलिपिके साथ ही यह भी बता दें कि पृष्ठोंके ऊपर शीर्षकके रूपमें उन अध्यायोंका नाम संक्षिप्त रूपमें किस प्रकार दिया जाय, तो मुद्रकको बड़ी सुविधा हो जायगी। बहुधा मुद्रक इस बातमें बहुत निपुण होते हैं कि सबसे उचित संक्षिप्त रूप क्या होगा, परन्तु चूँकि बहुधा इसका अर्थ यह होता है कि अध्यायके नामके किसी एक भागको अधिक महत्त्व दिया जाय, इसलिए इस बातका फैसला स्वयं लेखक ज्यादा अच्छी तरह कर सकता है, और यदि यह फैसला कम्पोजिंग शुरू करनेसे पहले कर लिया जाय तो बहुत अच्छा है।

बहुधा लेखक यह सुझाव रखते हैं कि मुद्रकके काम शुरू करनेके लिए वे पाण्डुलिपिका एक भाग पहले दे देंगे। ऐसा करना बहुत कम उदाहरणोंमें उपयोगी सिद्ध हो सकता है, मेरे विचारमें तो यह कभी भी वांछनीय नहीं है। यदि पाण्डुलिपिके शब्द गिनकर पृष्ठोंकी संख्या आदिका अनुमान लगा लिया गया है और लेखकको पाण्डुलिपि केवल भाषा सुधारनेके लिए वापस दे दी गयी है, या किसी ऐसे कामके लिए दे दी गयी है जिससे पुस्तककी लम्बाईमें परिवर्तन होनेकी सम्भावना नहीं है तो पाण्डुलिपिके एक भागके मिलनेपर ही काम आरम्भ किया जा सकता है। पाण्डुलिपिकी एक किस्त मिलते ही काम आरम्भ कर देना, अधिकतर उदाहरणोंमें कच्ची नींवपर मकान बनानेके समान होगा और

इसमें समय भी बहुत खराब होगा; साथ ही प्रायः निश्चित रूपसे खर्च भी ज्यादा आयगा।

छपाईकी आधुनिक मशीनें—कागजके एक तावके एक तरफ पुस्तकके (यदि ३२ नहीं तो) कमसे कम १६ पृष्ठ छापनेके लिए बनायी जाती हैं। इसलिए यदि पुस्तक १६-१६ पृष्ठोंके भागोंमें पूरी तरह विभाजित की जा सके तो सबसे ज्यादा लाभदायक होगा—अर्थात् पुस्तककी पृष्ठ-संख्या १६ का कोई गुणनफल हो। इसलिए जब हम कहते हैं कि अमुक उपन्यास दस शीट (फार्म) का है तो उसका अर्थ होता है कि उसमें १० × १६ = १६० पृष्ठ हैं।

ताव इस हिसाबसे छापा जाता है कि उसे तह किया जा सके (फोल्डिंग) और तावको जितनी बार तह किया जाता है उसीपर यह निर्भर होता है कि उसमें ४ पृष्ठ होंगे या ८ या १६ या ३२-३२ पृष्ठ एक तावपर या ज्यादासे ज्यादा १६-१६ पृष्ठोंके दो तावोंपर छापे जा सकते हैं। यही कारण है कि अधिकतर पुस्तकोंमें पृष्ठोंकी संख्या सम-संख्या होती है (पृष्ठोंपर छपी हुई संख्यासे यह बात भले ही प्रतीत न होती हो), और यह संख्या बहुधा ३२ का और नहीं तो १६ का तो गुणनफल अवश्य ही होती है।

अच्छा, अब इस बातकी उपयोगिता मान लेनेके बाद कि पुस्तकमें, जहाँतक सम्भव हो, इतने पृष्ठ हों कि उन्हें "सुविधापूर्वक छापने" के लिए १६-१६ पृष्ठोंके टुकड़ोंमें बाँटा जा सके (चार या आठ फालतू पृष्ठोंकी छपाईको हम "असुविधाजनक छपाई" कहेंगे), यह आवश्यक हो जाता है कि पृष्ठका आकार ऐसा चुना जाय जिससे यह वांछित फल प्राप्त हो जाय। यह बात तो आसानीसे समझमें आ जायगी कि हर पृष्ठमें एक पंक्ति बढ़ा देनेसे पृष्ठोंकी कुल संख्या कम हो जायगी, या हर पृष्ठकी चौड़ाई एक 'एम' कम कर देनेसे पृष्ठोंकी संख्या बढ़ जायगी, परन्तु हम यह भी देख चुके हैं कि एक ही साइजके दो जातिके टाइप बराबर जगह

नहीं घेरते ; कुछ जाति (फाण्ट) के टाइप चौड़ी आकृतिके होते हैं और ज्यादा जगह घेरते हैं और इस प्रकार पृष्ठोंकी संख्या बढ़ जाती है। इसलिए यदि पूरी पाण्डुलिपि मुद्रकके पास हो और उसमें ज्यादा परिवर्तन न किया जानेवाला हो तो पुस्तकके बारेमें बहुत ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। उदाहरणके लिए, काम शुरू करनेसे पहले मुद्रकको यह मालूम होना चाहिये कि पुस्तकमें अनुक्रमणिका होगी कि नहीं और यदि होगी तो उसके लिए कितने पृष्ठ छोड़ने होंगे। पृष्ठोंकी संख्याका अनुमान ज्यादा लगाना, कम अनुमान लगानेकी अपेक्षा बेहतर है, क्योंकि यदि कुछ पृष्ठ बच गये तो उन्हें विज्ञापनों आदिमें भरा जा सकता है परन्तु यदि दो पृष्ठकी सामग्री ज्यादा हुई तो उन्हें खास तौरपर अलगसे छापना पड़ेगा, और यदि अलगसे छपे हुए पृष्ठोंकी संख्या चारसे कम हुई तो उन्हें पुस्तकके अन्तमें चिपकाना पड़ेगा।

टाइपोंके अन्तरका उदाहरण देनेके लिए नीचे हम तीन नमूने दे रहे हैं। ये तीनों भिन्न आकारके टाइप हैं।

ये कुछ पंक्तियाँ बारह प्वाइंट काले पाइका टाइपमें कम्पोज की गई है, जो काफी मोटा टाइप होता है। देखिये कि एक पंक्तिमें कितने शब्द और अक्षर आते हैं।

ये कुछ पंक्तियाँ बारह प्वाइंट सादा पाइका टाइपमें कम्पोज की गयी है, जो अपेक्षाकृत कम चौड़ा होता है। इसलिए इस टाइपके प्रयोग करनेसे एक पंक्तिमें कितने अक्षर अधिक समाये जा सकते हैं।

[illegible]

इसमें समय भी बहुत खराब होगा; साथ ही प्रायः खर्च भी ज्यादा आयगा।

छपाईकी आधुनिक मशीनें—कागजके एक पुस्तकके (यदि ३२ नहीं तो) कमसे कम १६ पृष्ठ छा जाती हैं। इसलिए यदि पुस्तक १६-१६ पृष्ठोंके भागोंमें जित की जा सके तो सबसे ज्यादा लाभदायक होगा— पृष्ठ-संख्या १६ का कोई गुणनफल हो। इसलिए जब अमुक उपन्यास दस शीट (फार्म) का है तो उसका उसमें १० × १६ = १६० पृष्ठ है।

ताव इस हिसाबसे छापा जाता है कि उसे त (फोल्डिंग) और तावको जितनी बार तह किया जात निर्भर होता है कि उसमें ४ पृष्ठ होंगे या ८ या १६ य तावपर या ज्यादासे ज्यादा १६-१६ पृष्ठोंके दो तावोंप हैं। यही कारण है कि अधिकतर पुस्तकोंमें पृष्ठोंकी होती है (पृष्ठोंपर छपी हुई संख्यासे यह बात भले हो), और यह संख्या बहुधा ३२ का और नहीं तो अवश्य ही होती है।

अच्छा, अब इस बातकी उपयोगिता मान जहाँतक सम्भव हो, इतने पृष्ठ हों कि उन्हें " लिए १६-१६ पृष्ठोंके टुकड़ोंमें बाँटा जा सके पृष्ठोंकी छपाईको हम "असुविभाजनक छपाई" हो जाता है कि पृष्ठका आकार ऐसा चुना जाय प्राप्त हो जाय। यह बात तो आसानीसे समझमें आ एक पंक्ति बढ़ा देनेसे पृष्ठोंकी कुल संख्या कम हो चौड़ाई एक 'एम' कम कर देनेसे पृष्ठोंकी संख्या ब यह भी देख चुके हैं कि एक ही साइजके दो जाति

उसी पंक्तिमें एक डैश देकर पुस्तकका मूल विषय शुरू कर दिया जाता है।

प्रूफ—यद्यपि आम तौरपर कागजके एक तावपर १६ या कभी-कभी ३२ पृष्ठ छापे जाते हैं परन्तु प्रूफ प्रायः हमेशा १६-१६ पृष्ठोंके खण्डोंमें भेजे जाते हैं, और जब पुस्तककी जिल्द बाँधी जाती है तब उसमें १६-१६ पृष्ठोंके ही खण्ड जोड़े जाते हैं (इससे अधिक पृष्ठोंके खण्डोंकी सिलाई करनेमें कठिनाई होती है)। इनमेंसे हर खण्डके पहले पृष्ठपर नम्बर डाल दिया जाता है, कभी-कभी तो साधारण गिनतियोंमें परन्तु बहुधा वर्णमालाके अक्षरोंमें। अधिकांश लोगोंने कभी-न-कभी पुस्तकोंके १७ वें, ३३ वें, ४९ वें, ६५ वें आदि पृष्ठोंपर वर्णमालाके अक्षर अथवा अंक छपे देखे होंगे, परन्तु उन लोगोंको छोड़कर जो पुस्तक-प्रकाशनकी क्रियासे परिचित हैं, थोड़े ही लोग ऐसे होंगे जिन्होंने इन अक्षरोंका महत्त्व समझा हो। ये अक्षर इसलिए डाले जाते हैं कि सिलाई-से पहले पुस्तकके भेजे हुए फार्मोंको क्रमसे एकत्र करनेमें सुविधा हो। इन अक्षरोंका, जिन्हें प्रेसकी भाषामें "सिगनेचर" कहते हैं, एक और फायदा भी होता है; इनके द्वारा पुस्तकके हर खण्डका अलग-अलग नाम हो जाता है। जब प्रकाशक किसी लेखकके पास प्रूफ भेजते समय साथ-में यह सूचना भेजता है कि वह उनकी पुस्तकके "क" और "ख" सिग-नेचरोंके प्रूफ उनकी स्वीकृतिके लिए भेज रहा है, तो बहुतसे लेखकोंको प्रकाशककी यह बात रहस्यमय मालूम होती है; लेकिन इसका मतलब केवल यह होता है कि दो खण्डोंके—१ से १६ पृष्ठतक और १७ से ३२ पृष्ठतकके प्रूफ लेखकके पास भेजे जा रहे हैं।

प्रूफ प्रायः हमेशा साधारण कागजपर छापे जाते हैं; यह कागज सस्ता होता है और इसपर स्याहीसे लिखना सम्भव होता है। प्रूफ उस कागजपर नहीं छापे जाते जिसपर पुस्तक वास्तवमें छापी जानेवाली होती है, वह कागज बहुधा स्याहीसे लिखनेके योग्य नहीं होता। इनके अलावा प्रूफ हाथकी मशीनसे तैयार किये जाते हैं और

यहीं पर कुछ दूसरे सवाल भी पैदा होते हैं जैसे हाशियेमें टिप्पणी देनेका सवाल (मार्जिनल नोट)[१], इसके कारण लागत काफी बढ जाती है क्योंकि जो कम्पोजिंग ज्यादा करवानी पडती है उसका खर्च तो होता ही है, उसके अलावा या तो पृष्ठका क्षेत्रफल बढ जाता है जिसके कारण पेजकी "मेकिंग-अप" की लागत बढ जाती है (कम्पोजीटरको पृष्ठके क्षेत्रफलके हिसावसे पैसे दिये जाते हैं), या यदि इसके लिए पृष्ठकी चौडाई कम की जाय तो पृष्ठोंकी संख्या बढ जाती है। दूसरा तरीका है "कट-इन नोट" का। इससे पृष्ठका क्षेत्रफल तो नहीं बढता परन्तु इसके कारण कम्पोजिंग बहुत पेचीदा हो जाती है और आखीरमें यह तरीका मार्जिनल नोटसे भी महँगा पडता है। इन तरीकोंके स्थानपर जो सस्ते उपाय इस्तेमाल किये जा सकते है, वे है "क्रास-हेड" (बीचमें रहनेवाला), "शोल्डर-हेड" (बिलकुल शुरूसे चलनेवाला) और "साइड-हेड" (थोड़ा हटकर चलनेवाला) जिनके नमूने नीचे दिये जा रहे है।

कट इन नोट

छपाईकी लागत

(क्रास हेड)

छपाईकी लागत

(शोल्डर-हेड) हमेशा एक अलग पंक्ति, बिल्कुल सिरेसे।

छपाईकी लागत—यह एक साइड-हेडका नमूना है। एक 'एम' का इन्डेण्ट देकर, उसी पक्तिसे बाकी मैटर कम्पोज किया जाय, अलग पंक्ति नहीं। कुछ पुस्तकोंमें कई उप-शीर्षक होते है। पहले तो पृष्ठके बीचमें अपेक्षाकृत बड़े अक्षरोंमें; दूसरा किसी अन्य टाइपमें एक अलग पंक्तिके रूपमें "शोल्डर-हेड" की स्थितिमें और तीसरा इटैलिक टाइपमें, जिसके बाद

१. इसके लिए 'साइड नोट' शब्दका प्रयोग भी किया जाता है, पर वह कुछ अस्पष्ट है इसलिए उसके प्रयोगसे बचना चाहिये।

उसी पंक्तिमें एक डैश देकर पुस्तकका मूल विषय शुरू कर दिया जाता है।

प्रूफ—यद्यपि आम तौरपर कागजके एक तावपर १६ या कभी-कभी ३२ पृष्ठ छापे जाते है परन्तु प्रूफ प्रायः हमेशा १६-१६ पृष्ठोंके खण्डोंमें भेजे जाते हैं, और जब पुस्तककी जिल्द बाँधी जाती है तब उसमें १६-१६ पृष्ठोंके ही खण्ड जोड़े जाते हैं (इससे अधिक पृष्ठोंके खण्डोंकी सिलाई करनेमें कठिनाई होती है)। इनमेंसे हर खण्डके पहले पृष्ठपर नम्बर डाल दिया जाता है, कभी-कभी तो साधारण गिनतियोंमें परन्तु बहुधा वर्णमालाके अक्षरोंमें। अधिकांश लोगोंने कभी-न-कभी पुस्तकोंके १७ वें, ३३ वें, ४९ वें, ६५ वें आदि पृष्ठोंपर वर्णमालाके अक्षर अथवा अंक छपे देखे होंगे, परन्तु उन लोगोंको छोड़कर जो पुस्तक-प्रकाशनकी क्रियासे परिचित हैं, थोड़े ही लोग ऐसे होंगे जिन्होंने इन अक्षरोंका महत्त्व समझा हो। ये अक्षर इसलिए डाले जाते हैं कि सिलाई-से पहले पुस्तकके भेजे हुए फार्मोंको क्रमसे एकत्र करनेमें सुविधा हो। इन अक्षरोंका, जिन्हें प्रेसकी भाषामें "सिगनेचर" कहते हैं, एक और फायदा भी होता है, इनके द्वारा पुस्तकके हर खण्डका अलग-अलग नाम हो जाता है। जब प्रकाशक किसी लेखकके पास प्रूफ भेजते समय साथ-में यह सूचना भेजता है कि वह उनकी पुस्तकके "क" और "ख" सिग-नेचरोंके प्रूफ उनकी स्वीकृतिके लिए भेज रहा है, तो बहुतसे लेखकोंको प्रकाशककी यह बात रहस्यमय मालूम होती है; लेकिन इसका मतलब केवल यह होता है कि दो खण्डोंके—१ से १६ पृष्ठतक और १७ से ३२ पृष्ठतकके प्रूफ लेखकके पास भेजे जा रहे हैं।

प्रूफ प्रायः हमेशा साधारण कागजपर छापे जाते हैं; यह कागज सस्ता होता है और इसपर स्याहीसे लिखना सम्भव होता है। प्रूफ उस कागजपर नहीं छापे जाते जिसपर पुस्तक वास्तवमें छापी जानेवाली होती है, वह कागज बहुधा स्याहीसे लिखनेके योग्य नहीं होता। इसके अलावा प्रूफ हाथकी मशीनसे तैयार किये जाते हैं और

उनमे लेखकको केवल यह देखना होता है कि तमाम अक्षर ठीक हैं; प्रूफमे यह देखना कि छपाई समरूप है कि नही, समय खराव करना है। इन दोनो बातोपर जितना जोर दिया जाय, कम है। इस सम्बन्धमें हर प्रकाशकके पास लेखकोंके अत्यन्त विनणपूर्ण पत्र अक्सर आते रहते है, बहुतसे लेखक प्रूफ मिलते ही प्रकाशकके पास यह आशा प्रकट करते हुए पत्र भेज देते हैं कि पुस्तककी छपाईके लिए ज्यादा अच्छा कागज प्रयोग किया जाय और छपाईके साफ-सुथरे होनेकी ओर अधिक ध्यान दिया जाय।

प्रूफ कितनी संख्यामे भेजे जायँगे यह अलग-अलग मुद्रकपर निर्भर होता है या फिर प्रकाशकके आदेशपर। अधिक्तर मुद्रक तीन प्रूफ मुफ्त देते हैं, परन्तु यदि अधिक प्रूफोकी आवश्यकता हो तो मुद्रक उसके लिए थोडी-सी रकम अलगसे वसूल करते है। प्रकाशकको खुद भी कई कामोके लिए प्रूफकी आवश्यकता होती है, उदाहरणके लिए (१) यह अनुमान लगानेके लिए कि पुस्तककी छपाईके लिए कितना कागज मॅगाना होगा; (२) अपने सफरी एजेण्टोके पास भेजनेके लिए; (३) विज्ञापनके लिए; (४) अमेरिकी संस्करणके प्रकाशन तथा अनुवादके अधिकार वेचनेके उद्देश्यसे अमेरिकी और विदेशी प्रकाशकोको भेजनेके लिए; (५) यदि कवरके लिए किसी डिजाइनकी आवश्यकता हो तो चित्रकारको देनेके लिए, (६) स्वयं पुस्तककी विषय-वस्तुका निरीक्षण करनेके लिए और सम्भवतः वकीलको देनेके लिए कि वह देख ले कि पुस्तकमे कोई चीज ऐसी तो नहीं है जिसके कारण कोई मानहानिका मुकदमा चला दे। लेखकके पास आम तौरपर दो प्रूफ भेजे जाते है। एक प्रूफपर भूल-सुधारके निशान लगे होते है और यह मुहर लगी होती है कि "वापस भेज दीजिये", दूसरा प्रूफ सादा होता है जो लेखक अपने पास अपने इस्तेमालके लिए रख लेता है, और यदि आवश्यकता हो तो वह उसीकी सहायतासे अनुक्रमणिका तैयार करता है। जिस प्रूफपर भूल-सुधारके चिह्न लगे होते है वह मुद्रकके

प्रूफ-रीडर द्वारा पहले ही पढ़ा हुआ प्रूफ होता है, जिसके विस्तृत ज्ञान और तीक्ष्ण दृष्टिकी बदौलत बहुत-से लेखक बहुत बड़ी-बड़ी गलतियोंसे बच गये हैं।

मुद्रकके प्रूफ-रीडरका यह कर्तव्य है कि वह अपनी नजरमें गुजरनेवाली तमाम गलतियोंकी ओर ध्यान आकर्षित कराये और उन तमाम बातोंकी ओर भी जिनके बारेमें कोई शंका हो। प्रूफके हाशियेमें प्रश्न-सूचक चिह्न देखकर कई लेखक प्रूफ-रीडरकी "धृष्टता" पर क्रुद्ध हो जाते हैं (यह शब्द मैंने एक लेखकके पत्रमेंसे लिया है); वास्तवमें इस चिह्नका अभिप्राय केवल यह होता है कि लेखक उस अंश-विशेषको ध्यानपूर्वक पढ़ ले। सम्भव है कि वहाँपर वाक्य-रचना शिथिल हो गयी हो, या वाक्यका अर्थ स्पष्ट न हो, शायद कोई असंगति रह गयी हो या मुद्रकके प्रूफ-रीडरके विचारमें लेखकसे अनजाने ही कोई भूल हो गयी हो। यदि लेखककी रायमें पुस्तकका वह अंश वैसा ही ठीक है जैसा कि छपा हुआ है तो वह प्रश्न-सूचक चिह्नको काटकर मुद्रकके प्रूफ-रीडरको उसके उत्तरदायित्वसे मुक्त कर सकता है। परन्तु प्रश्न-सूचक चिह्नको ज्योंका त्यों न छोड़ देना चाहिये और न ही प्रकाशकको इस आशयका पत्र भेजना चाहिये कि उसने (प्रकाशकने) अमुक विषयपर लेखकके विचारोंपर आपत्ति क्यों की है। प्रश्न-सूचक चिह्नके द्वारा मुद्रकका प्रूफ-रीडर केवल लेखकका ध्यान किसी विशेष वाक्य या पैराग्राफकी ओर आकर्षित कराता है और वह केवल यह जानना चाहता है कि क्या अमुक वाक्य या पैराग्राफ लेखकने जान-बूझकर उस रूपमें लिखा है; यह चिह्न लेखकके विचारोंके बारेमें शंका करनेके ध्येयसे नहीं लगाया जाता।

लेखक द्वारा भूल-सुधार—पुस्तकके अन्तमें परिशिष्ट २ में दिखाया गया है कि प्रूफमें गलतियोंपर निशान लगानेका उचित तरीका क्या है, लेकिन सुधार और परिवर्तन किस प्रकार सूचित किये जाते हैं। इस बातसे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि भूल-सुधार

करनेमे वहुत काफी खर्च आता है, और आजकल तो यह खर्च और भी वढ गया है क्योंकि अधिकतर पुस्तकोंकी कम्पोजिंग हाथके द्वारा न होकर मशीनो द्वारा की जाती है; और पुस्तक-प्रकाशनके पूरे क्रममें शायद ही कोई दूसरा क्षेत्र ऐसा हो जहाँ खर्च की हुई रकमका प्रतिफल इतना कम मालूम होता हो। (केवल एक ही चीज ऐसी है जो कम्पोज किये हुए टाइपमे परिवर्तन करनेसे भी बदतर है और वह है स्टीरियो-प्लेटमे भूल सुधारना; उसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।) चूंकि भूल-सुधारका खर्च इस आधारपर लगाया जाता है कि उसमे कितने घण्टे समय लगा, इसलिए लेखकोंको यह जानना जरूरी है कि किस प्रकारके सुधार सबसे अधिक असुविधाजनक और कष्टदायी होते है। इस समस्याकी ओर वहुधा जितना ध्यान दिया जाता है उससे कही अधिक ध्यान देनेकी जरूरत है। पहली वात जिसे निरन्तर ध्यानमे रखना चाहिये, यह है कि हर अक्षर सीसेका एक टुकड़ा होता है जिसे न तो खींचकर वड़ा किया जा सकता है और न दवाकर छोटा। यदि कुछ शब्द काट दिये जाते हैं तो बीचमें खाली जगह वच जाती है, जिसे किसी-न-किसी तरह भरना ही होता है। यदि काटे गये शब्दोंकी जगह उतने ही अक्षरोंके शब्द जोड़ दिये जायँ तो असुविधा भी न्यूनतम होती है और खर्च भी; इसके विपरीत, यदि काटे गये शब्दोंके स्थानपर कुछ भी न जोडा जाय तो या तो उस खाली स्थानके वाद आनेवाले तमाम अक्षरोंको उस समयतक चालना पडता है जबतक कि पैराग्राफके अन्ततकका मैटर खिसका न दिया जाय, या लगातार कई पंक्तियोंके शब्दोंके वीच ज्यादा जगह छोडकर खाली जगह भर न दी जाय। इसे प्रेसकी भाषामें कहते हैं "स्टिकमें दुवारा टाइप चालना", क्योंकि इस दशामें कम्पोज किया हुआ मैटर बने हुए फार्ममेंसे निकालना पड़ता है और कम्पोजीटरको उसपर नये सिरेसे मेहनत करनी पड़ती है।

यदि इस प्रकारके सुधार वहुत वड़ी संख्यामे किये जाते है और कई पंक्तियोंका मैटर काट दिया जाता है या जोड़ दिया जाता है तो

बहुत ही असाधारण कठिनाईका सामना करना पड़ता है और एक पृष्ठसे कुछ मैटर दूसरे पृष्ठपर ले जाना पड़ता है। यदि इस प्रकारके परिवर्तन अध्यायके अन्तमें हों तो बात दूसरी है, क्योंकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वहाँपर जगहकी कोई कमी नहीं होती और मैटरको यथानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार किसी पैराग्राफको तोड़कर एक नया पैराग्राफ बनानेमें भी कई लाइनोंको चालना पड़ता है। इसलिए उन लेखकोंको, जिन्हें इस कामका ज्यादा अनुभव नहीं है, हमेशा अपने-आपसे दो प्रश्न कर लेने चाहिये : क्या अमुक भूल-सुधार सचमुच आवश्यक है? क्या मैंने यह सुधार इस ढंगसे किया है कि उसमें न्यूनतम कठिनाई हो?

भूल-सुधारके लिए मुद्रक जो रकम वसूल करता है वह बहुधा मतभेदका कारण बन जाती है क्योंकि इस मदपर किसी प्रकारकी देख-रेख रखना असम्भव है और कुछ चालाक मुद्रक छपाईके खर्चका अनुमान बताते समय तो उसमें कुछ "रियायत" कर देते हैं लेकिन उस कमीको इस प्रकार पूरा कर लेते हैं। कुछ और मुद्रक, जानबूझकर या गलतीसे, इस रकममें अपनी गलतियाँ सुधारनेका खर्च भी शामिल कर लेते हैं। इस कठिनाईसे बचनेके तीन उपाय हैं. पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह कि काम किसी ईमानदार और प्रतिष्ठावान मुद्रकको दिया जाय जिसे अपनी प्रतिष्ठाका ध्यान हो; दूसरा यह कि लेखक गलतियोंपर निशान लगाते समय मुद्रककी गलतियाँ किसी अलग ढंगसे इंगित करें, उदाहरणके लिए दूसरे रंगकी स्याहीसे; तीसरा यह कि प्रकाशक इस बातपर जोर दे कि जब भी प्रूफ सुधार कर भेजे जायें तो उनके साथ मुद्रक एक पर्चेपर उन प्रूफोंके सुधारनेपर होनेवाले खर्चका हिसाब भी भेजे। नीचे हम इस प्रकारकी पर्चीका नमूना छाप रहे हैं। इस पर्चीकी सहायतासे प्रकाशकको इस बातका अन्दाजा होता रहेगा कि इस कामपर कितनी रकम खर्च हो रही है और वह उसकी रोक-थाम कर सकेगा।

भूल-सुधार और परिवर्तन

पुस्तकका नाम - - —

सिगनेचर (फार्म नं०) - -

इस कामके लिए कम्पोजीटर और प्रूफ-रीडरका खर्च

अनविन ब्रदर्स लिमिटेडके लिए

तारीख -

यह तो स्पष्ट ही है कि कुछ फार्मोंपर भूल-सुधारके खर्चकी जाँच करना पूरी किताबके भूल-सुधारोंके खर्चकी जाँच करनेकी अपेक्षा ज्यादा आसान है।

ऐसे तमाम उदाहरणोंमे जब भूल-सुधार बहुत ज्यादा हो और लेखकके लिए इस मदमे जितनी रकम रखी गयी है उससे ज्यादा खर्च होनेकी सम्भावना हो, तो सबसे अधिक बुद्धिमानीकी बात यही है कि गलतियाँ सुधरवानेसे पहले उनपर आनेवाले खर्चका अनुमान लगवा लिया जाय। ऐसा करनेसे लेखकको यह निश्चय करनेका मौका रहेगा कि क्या इन सुधारोंके बिना भी काम चल सकता है, या लेखक अनुमान देखकर गलतियाँ सुधरवानेकी अनुमति दे सकता है, या उनपर आनेवाले खर्चका खुद अनुमान लगवा सकता है; और प्रकाशकको भी इस बातका सन्तोष रहेगा कि उसने वह परिस्थिति ही पैदा नहीं होने दी जिसके कारण बहुधा लेखकोंको शिकायत करनेका मौका मिलता है।

पृष्ठोंको फार्मके रूपमें जमाना (इम्पोजीशन) :—पुस्तकके पहले सोलह पृष्ठ फार्मके रूपमें जमा लेनेके फौरन ही बाद हर अच्छा मुद्रक इम्पोजीशनके ठीक होनेकी स्वीकृति प्राप्त करनेके लिए एक विशेष प्रूफ भेजता है। कई मुद्रक तो इस प्रूफके साथ ही एक पर्ची भी भेजते हैं, जिसका नमूना नीचे दिया जा रहा है—

[illegible]

कृपया बताइये, क्या इस ढंगके हाशियोंसे [illegible] आप सन्तुष्ट हैं? यह भी बताइये कि क्या आपको [illegible] [illegible] कौंडिंग मशीनकी सुविधाके अनुसार [illegible] [illegible] [illegible] (इम्पोजीशन [illegible]) चाहते हैं।

आपका उत्तर आनेतक काम [illegible] रहेगा। कृपया अपना उत्तर शीघ्र भेज दीजिये।

[illegible] ब्रदर्स लिमिटेड

इस पर्चोंमें जो [illegible] [illegible] किये गये हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हाशियोंकी चौड़ाईका [illegible] सौन्दर्यपर बहुत ज्यादा असर पड़ता है। व्यवहारमें यह देखा गया है कि जिस पुस्तकमें हाशियों-की चौड़ाई उचित होती है उसमें पृष्ठके नीचेका हाशिया ऊपरके हाशियेका दुगना चौड़ा होता है और दोनों बगलके हाशियोंकी और दो पृष्ठोंके बीचमें हाशियेका जितना भाग दिखाई देता है उसकी चौड़ाई पृष्ठके ऊपर और नीचेके हाशियोंकी चौड़ाईके योगकी आधी होती है। किताब या तो नीचेसे पकड़ी जाती है या बगलकी तरफसे, ऊपरकी तरफसे कभी नहीं पकड़ी जाती। इस प्रकार हमें इस बातका एक सबूत और मिलता है कि जो चीज "व्यवहारमें ठीक" होती है वही देखनेमें भी सुन्दर होती है।

परन्तु इम्पोजीशनके बाद जो प्रूफ आपकी स्वीकृतिके लिए भेजा जाता है उसमें हाशियोंकी चौड़ाई अक्षरशः इस नियमके अनुसार नहीं होता क्योंकि जिल्द बाँधते समय पृष्ठोंके सिरे काटनेके लिए थोड़ी-सी गुंजाइश रखनी पड़ती है और बीचके हाशियेमें भी थोड़ी सी गुंजाइश इसलिए रखा जाता है कि फार्मोंको सिलनेके बाद कागजका [illegible] भाग सिलाईमें दब जाता है। पुस्तक जितनी ही मोटी होती है, सिलाईमें दब जानेवाला भाग भी उतना ही ज्यादा होता है।

सिरोंकी काट-छॉट (आजकल अपेक्षाकृत बहुत कम पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनके सिरे बिलकुल ही न काटे जाते हों) इसपर निर्भर होती है कि फार्मोंकी तह (फोल्डिंग) किस प्रकारकी है। और यहींपर हमें मुद्रकके दूसरे प्रश्नका जवाब देना पड़ता है, जो वास्तवमें बहुत पहले ही दे दिया जाना चाहिये।

अभीतक फार्मोंकी फोल्डिंग हाथसे की जाती थी किन्तु आजकल अधिकतर मशीनोंके द्वारा की जाने लगी है। फोल्डिंगके ये दोनों तरीके बिलकुल एक जैसे नहीं है और इसीलिए मुद्रकके लिए यह जानना आवश्यक है कि फार्म किस तरह तह किये जायँगे, तभी वह पृष्ठोंको फार्मके रूपमें जमा सकता है, अर्थात् उन्हें 'इम्पोज' कर सकता है। यदि आप इम्पोजीशनके प्रश्नको समझना चाहते हैं, तो एक कागजका टुकड़ा लेकर उसे तीन बार तह करके १६ पृष्ठका एक खंड बना लीजिये तो समझनेमें बड़ी सुविधा होगी। इसके बाद सिरोंको काटे विना पृष्ठोंपर अक्षरोंमें एकसे सोलहतक नम्बर डाल दीजिये। जब आप कागजको खोलेंगे तो आपको यह देखकर बडा आश्चर्य होगा कि सब पृष्ठ इस प्रकार तितर-बितर हो गये हैं कि आप कभी सोच भी नहीं सकते थे कि उनका क्रम इतना अस्त-व्यस्त हो जायगा—३२ पृष्ठोंके खंडमें तो पृष्ठोंका क्रम और भी आश्चर्यजनक हदतक गडबड हो जाता है (१६४ पृष्ठ देखिये)।

हाथकी फोल्डिंगमें विना कटे हुए अधिकांश सिरे, जिन्हे जिल्दसाजीकी विशिष्ट शब्दावलीमें "बोल्ट" कहते हैं, पृष्ठके ऊपरकी तरफ होते हैं, और बाज मशीनोंकी फोल्डिंगमें ये बोल्ट यानी बिना कटे हुए सिरे पृष्ठके नीचेकी तरफ होते हैं। इस प्रकार हाथकी फोल्डिंगवाले फार्मोंमें ऊपरकी तरफ ज्यादा कटाई की जाती है और मशीनकी फोल्डिंगवाले फार्मोंमें किताबके नीचेकी तरफ ज्यादा कटाई की जाती है, (ताकि तमाम सिरे कटकर अलग-अलग हो जायँ और कोई दो पन्ने आपसमें जुड़े न रह जायँ)। मशीनकी फोल्डिंग यद्यपि सिद्धान्तमें तो सर्वथा

निर्विकार होती है परन्तु व्यवहारमें वह उतनी ठीक और सुथरी नहीं होती जितनी हाथकी फोल्डिंग होती है।

प्रूफको दुबारा देखना :—यदि लेखक द्वारा इंगित भूल-सुधार थोड़े और स्पष्ट हों तो प्रूफको "दुबारा देखने" की आवश्यकता नहीं रह जाती, और इस दशामें लेखकको चाहिये कि वह प्रूफ वापस भेजते समय उनपर "प्रेस" लिखकर दस्तखत कर दे। यदि किसी फार्ममें ज्यादा गलतियाँ सुधारनी हों तो उस फार्मपर "दुबारा देख लो" लिखकर बाकी हिस्सेपर "प्रेस" लिखा जा सकता है।

यदि प्रूफ दुबारा न देखना पड़े तो समय भी बचता है और खर्च भी कम होता है, और अधिकांश उदाहरणोंमें दुबारा प्रूफ देखनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती, अलावा पहले और आखरी फार्म (सिगनेचर) के जिनमें प्रारम्भिक पृष्ठ और अनुक्रमणिका होते हैं। जबतक पूरी पुस्तकके पेज-प्रूफ न तैयार हो जायें तबतक अनुक्रमणिका तो तैयार ही नहीं की जा सकती; इसलिए आखरी फार्मका, और उसमें जितनी भी सामग्री हो उसका, जो प्रूफ "दुबारा देखने" के लिए भेजा जाता है वह वास्तवमें अनुक्रमणिकाका पहला प्रूफ होता है।

पूरी सावधानीके बावजूद भी कुछ गलतियाँ नजरसे छूट ही जाती हैं। यदि प्रूफ कुशलतापूर्वक देखे गये हैं तो इस प्रकारकी गलतियाँ बहुत ज्यादा न होनी चाहिये। ये गलतियाँ कितनी ही परेशान करनेवाली क्यों न हों परन्तु 'भूल-सुधार' की सूची अलगसे छापकर पुस्तकमें लगानेसे कहीं अच्छा है कि उन गलतियोंको कहीं लिख लिया जाय और दूसरे संस्करणमें सुधार दिया जाय, क्योंकि यद्यपि भूल-सुधारकी सूची प्रायः बहुत ही आवश्यक होती है परन्तु कोई भी पाठक उसकी ओर ध्यान नहीं देता।

लेखक कभी कभी यह सुझाव रखते हैं कि वे प्रूफ फ़ौरन सीधे मुद्रकके पास वापस भेज देंगे (और कभी-कभी भेज भी देते हैं)। इन इक्के-दुक्के उदाहरणोंको छोड़कर जब कि प्रकाशक स्वयं इस प्रकारका

प्रबन्ध करना आवश्यक समझे, समय बचानेके इस प्रयत्नमें प्रायः हमेशा जरूरतसे ज्यादा समय नष्ट हो जाता है। मुद्रक या तो प्रूफ प्रकाशकके पास वापस भेज देता है या उनको छापनेसे पहले प्रकाशकको पत्र लिखकर पूछता है, क्योंकि अपने कामके पैसे तो उसे प्रकाशकसे वसूल करने होते है और इसीलिए वह प्रकाशकके अलावा किसी दूसरेके आदेशपर काम नहीं कर सकता। इस बातके अलावा भी, जबतक प्रकाशकको यह न मालूम हो कि प्रूफ वापस आये कि नहीं, कब वापस आये, किस दशामे वापस आये, तबतक वह केवल गलतियोको सुधारनेपर खर्च होनेवाली रकमका कोई हिसाब नहीं रख सकता, बल्कि उस पुस्तकके प्रकाशनकी पूरी प्रगतिका उसे कोई अन्दाजा नहीं रह सकता।

बडी प्रकाशन संस्थाओंमें इस बातकी ओर अत्यधिक ध्यान देना पडता है कि प्रूफ मुद्रकके पाससे लेखकके पास जाते रहे और वापस आते रहे। साधारणतया, प्रूफके भेजने और वापस आनेका ब्यौरा एक विशेष कापी-बुकमे रखा जाता है, ताकि प्रकाशक फौरन बता सके कि जो पुस्तक छप रही है उसका कौन-सा फार्म कहाँ और किस स्थितिमे है और इस बातका प्रबन्ध कर सके कि पुस्तकके छपनेमे आवश्यक विलम्ब न होने पावे।

परन्तु इस चीजपर नियन्त्रण रखनेका एक तरीका और भी है जिसका उल्लेख यहाँ कर देना चाहिये। पुस्तकें छापनेवाले अधिकतर मुद्रक अपने बडे-बडे ग्राहकों (प्रकाशकों) के पास प्रति सप्ताह "कामकी प्रगति" के बारेमे रिपोर्ट भेजते है। इन रिपोर्टोंसे प्रकाशक यह पता लगा सकता है कि कौन-सी पुस्तक किस स्थितिमे है, कागज प्रेसमें पहुँच गया है कि नहीं, और यदि काम कहीं अटक गया है तो उसका कारण क्या है। "कामकी प्रगतिकी रिपोर्ट" मे बहुत प्रभावकारी ढंगसे आवश्यक नियन्त्रण रखा जा सकता है और प्रकाशक तथा मुद्रक दोनों ही बहुतसे आवश्यक पत्र-व्यवहारसे बच जाते हैं।

छपाई :—जिसे पहले 'प्रेस-वर्क' कहते थे और चूँकि अब बहुत समयसे यह काम मशीनोंके द्वारा होने लगा है इसलिए अब इसे "मशीनिंग" कहते हैं—अब हमें इस क्रियापर विचार करना है। प्रायः सभी पुस्तकोंकी छपाई "फ्लैट-बेड" मशीनोंपर की जाती है, अर्थात् इनमें कम्पोज किया हुआ टाइप एक चपटे धरातलपर रहता है; इसके विपरीत, अधिकतर समाचार-पत्र रोटरी प्रेसोंमें छापे जाते हैं, अर्थात् टाइप, या यों कहना चाहिये कि टाइपसे ढाली गयी प्लेटें, एक बेलनाकार धरातलमें रहती है। कुछ सस्ती किताबें अब रोटरीपर छपने लगी हैं, परन्तु उनकी चर्चा करनेकी जरूरत नहीं। छपाईका सुथरापन और समरूपता अधिकांश मात्रामें इस बातपर निर्भर होती है कि टाइपका धरातल कितना समतल है। मशीनका आधार बिलकुल समतल होता है, कम्पोजीशन-रोलरोंको, जिनके द्वारा स्याही लगायी जाती है, बहुत आसानीसे ठीक स्थितिमें लगाया जा सकता है, परन्तु फिर भी इसकी सम्भावना रहती है कि टाइपके हजारों छोटे-छोटे टुकड़े सचमुच एक ही धरातलमें न हों। छपाईकी मशीनके सिलिण्डरके धरातलको इस प्रकार ठीक स्थितिमें लाना कि फर्मे और टाइपके हर भागपर बराबर दबाव पड़े, और इसके अलावा मशीनमें अन्य छोटे-मोटे परिवर्तन करना—इस पूरी क्रियाको प्रेसकी भाषामें "मेकिंग रेडी" कहते हैं। यदि काम पूरी जिम्मेदारी और लगनके साथ किया जाय तो यह सबसे ज्यादा मेहनतका काम है। सस्ते प्रेसोंमें इसी कामको उचित ध्यान न करके और अच्छी स्याही न लगाकर पैसोंकी बचत की जाती है।

फिर भी यदि लेखक यह बात ध्यानमें रखें तो अच्छा होगा कि जिस प्रकार मोटरके रबरके टायर [illegible] सड़क- केसे [illegible] छोटे-छोटे टुकड़े खींच लेते हैं, इसी प्रकार स्याहीके रोलर भी [illegible] टाइपफेसमें घुसकर [illegible] खींच लेते हैं और दूसरे अक्षरोंके [illegible] होने नहीं पाता। विशेषकर [illegible]

के, जो धातुके बहुत ही नाजुक टुकडोके रूपमें होते हैं, इस प्रकार खिंच जानेकी विशेष सम्भावना रहती है। यदि किसी कविताकी पंक्तिके अन्तमें कोई पूर्ण-विराम या अर्ध-विराम गायब हो तो यह न सोचना चाहिये कि प्रेसवालेने जान-बूझकर शैतानी की है। मै एक लेखकको जानता हूँ जिन्हे पूरा विश्वास था कि यह सब प्रेसवालेकी शरारतके ही कारण होता है। यदि टाइप रोलरो द्वारा न भी खिंचे, तब भी कभी-कभी यह होता है कि वे टूट जाते है।

सिद्धान्त तो यह है कि यदि छपाईके दौरानमें कोई अक्षर इधर-उधर हो जाय तो कम्पोजीटरसे उसे ठीक करवाकर उस पृष्ठका प्रूफ मुद्रकके प्रूफ-रीडरके पास निरीक्षणके लिए भेज दिया जाय; परन्तु व्यवहारमे होता यह है कि जो आदमी मशीनपर काम करता है वह अपने कामको चालू रखनेके लिए बहुधा उस अक्षरको अपनी "समझ" के अनुसार उसको उचित स्थानपर लगा देता है। बहुधा उसका निर्णय ठीक होता है, परन्तु यदि उसका अन्दाजा ठीक न बैठा तो छपाईमें ऐसी भयङ्कर गलतियाॅ पैदा हो जाती है जिनकी कि लेखक शिकायत करते हैं—ओर उनका शिकायत करना उचित भी है, क्योकि जो प्रूफ लेखकने देखकर भेजा था उसमें वे गलतियाॅ नही थीं। आश्चर्यकी बात यह नहीं है—और लेखको और प्रकाशकोंको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये—कि इस प्रकारकी गलतियाॅ हो जाती हैं, बल्कि आश्चर्यकी बात तो यह है कि अच्छे प्रेसोंमे इस प्रकारकी गलतियाॅ अपेक्षाकृत बहुत ही कम होती हैं।

इससे भी गम्भीर समस्या है आधुनिक छपाईमे स्याहीका रंग कालेके बजाय "स्लेटी" रहनेका। इसके कई कारण हो सकते है : सम्भव है कागज बहुत स्याही सोखता हो या बहुत ही मोटा हो; सम्भव है खराब स्याही इस्तेमाल की गयी हो; या सम्भव है कि मुद्रकसे पुस्तक जल्दी छापकर देनेको कहा गया हो जिसके कारण उसने मजबूर होकर पतली स्याही इस्तेमाल की हो ताकि वह जल्दी सूख जाय। कुछ भी हो, इस

समस्याकी ओर निरन्तर ध्यान देनेकी आवश्यकता है, क्योंकि ऐसा न करनेसे पुस्तक देखनेमें बहुत ही खराब लगेगी।

कागज :—हाथका और मशीनका बना हुआ कागज और उच्चकोटिके लिखनेके कागज अब भी रूई और लिनेनके बनते हैं, लेकिन ये दोनों पदार्थ, चिथड़ोंके रूपमें भी, इतने मँहगे पड़ते हैं कि साधारण व्यापारिक कामोंके लिए प्रयोग नहीं किये जा सकते। इसीलिए बहुत दिनोंसे इनके बजाय कई वानस्पतिक पदार्थोंका प्रयोग किया जाने लगा है। पुस्तकोंकी छपाईका कागज तैयार करनेके लिए आजकल जो दो पदार्थ सबसे ज्यादा इस्तेमाल किये जाते हैं उनमें एक तो एस्पार्टो नामक घास है जो स्पेन और उत्तरी अफ्रीकामें बहुतायतसे पायी जाती है और दूसरा है लकड़ीकी लुगदी, जो या तो रासायनिक लकड़ीके रूपमें मिलती है या मेकैनिकल लकड़ीके रूपमें। मेकैनिकल लकड़ी सबसे घटिया दर्जेकी होती है।

सर्वोत्तम जातिके एण्टीक कागज, विशेष रूपमें "फेदरवेट" (चिड़ियाके पर जैसा हल्का), प्रायः हमेशा एस्पार्टो घाससे तैयार किये जाते हैं। और आधुनिक किताबें अधिकतर एण्टीक कागजपर ही छापी जाती हैं, वह चाहे 'लेड' (Laid) हो या 'वोव' (Wove)। (दूसरे महायुद्धके दिनोंमें जब एस्पार्टो मिलनेमें कठिनाई होती थी तब अपने देशमें उगायी जानेवाली घासोंका बहुत प्रयोग किया जाता था।)

न मालूम क्यों, युद्धसे पहलेके दिनोंमें आम पढ़नेवाले पुस्तकका मूल्य उसकी मोटाईके अनुसार आँकते थे; वे उसकी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाईको उसकी साहित्यिक विषय-वस्तुकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। जब किताब अध आधा इंच मोटी होती थी तब उन्हें "इन दामोंमें बहुत मँहगी" मालूम होती थी, और जब वही किताब मोटे कागजपर छाप कर एक इंच मोटी बना दी जाती थी तब इन्हीं दामोंमें "इसके पैसे वसूल हो जाते थे।" आप इसे अक्लमन्दीकी बात कहें या बेवकूफी, लेकिन इन दोनोंमें अन्तर केवल इतना होता है कि मोटा कागज ज्यादा हवादार

समय उसमें हवाकी मात्रा कुछ ज्यादा रख दी जाती है। यह तो बिलकुल वैसी ही बात है जैसे कोई यह कहे कि फेंट देनेसे अंडेकी सफेदीका मूल्य बढ जाता है क्योंकि फेंटी हुई सफेदी ज्यादा जगह घेरती है। मजबूत दबे हुए कागजकी किताबकी जिल्द भी मजबूत बँधती है, वह टिकाऊ भी ज्यादा होती है और मोटे कागजकी पुस्तककी अपेक्षा हर हालतमें अच्छी होती है। मोटे कागजपर छपाई करते समय टाइपके अक्षरोंमें, मशीनपर, और स्याहीके रोलरोंपर एक भूसी-सी जम जाती है, जिसके कारण छापनेवालेको बडी कठिनाई होती है और छपाई भी उतनी साफ नहीं होती।

यदि पुस्तकके मूल विषयके बीच-बीचमें रेखा-चित्र छापने हो तो उसके लिए चिकना कागज इस्तेमाल करना पड़ता है, जैसे "मशीन फिनिश" (M. F.) कागज जो चिकना होते हुए भी चमकदार नहीं होता। आजकल ऐण्टीक और मशीन फिनिशके बीचका एक कागज बनने लगा है जिसे "सैटिन सर्फेस" ऐण्टीक कहते है। यदि चित्र अलग पृष्ठोंपर छापे जाते हैं तो बहुधा और भी चिकने कागजकी आवश्यकता पड़ती है, अर्थात् "आर्ट" या "इमीटेशन आर्ट" कागजकी। आर्टपेपरकी चमक कागजपर चीनी मिट्टीकी तह जमाकर प्राप्त की जाती है; यह चमक आँखके लिए भी बुरी होती है और चित्रकारके लिए तो यह कागज बिलकुल मुसीबत होता है। फोटो-चित्रों या "हाफटोन" ब्लाकोंकी साफ छपाईके लिए अच्छी तरह दबा हुआ एस्पार्टो कागज काफी अच्छा होता है और यह कागज देखनेमें भी अच्छा होता है।

जिन भिन्न आकारोंमें कागज तैयार किया जाता है, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कागजकी मात्राका माप-दण्ड 'रीम' होता है, जिसमें यों तो ५०० ताव होते है लेकिन यह संख्या ४८० और ५१६ के बीच बदलती रहती है। किताबें छापनेके कागज प्रायः हमेशा ५१६ शीटके रीमोंमें मिलते हैं। इससे मुद्रकको छपाईके दौरानमें खराब होनेवाले कागजकी गुंजाइश निकल आती है और यह निश्चित हो जाता है

कि यदि १००० प्रतियोंके लिए कागज मँगाया गया है तो उसमें १००० से कम प्रतियाँ नहीं निकलेंगी बल्कि कुछ ज्यादा ही निकल सकती हैं।

पहले छपाईका कागज मुद्रक ही सप्लाई करता था, लेकिन आजकल प्रायः सभी प्रकाशक अपना कागज स्वयं खरीदते हैं और थोक व्यापारीको यह आदेश दे देते हैं कि वे कागज कहाँ भेजें। कागजके पहुँचते ही, बादमें किसी प्रकारकी गड़बड़से बचनेके लिए, मुद्रक हमेशा उस कागजका एक ताव नमूनेके लिए प्रकाशकके पास भेज देता है और उसके साथ ही एक छपी हुई पर्ची भी भेजता है जिसपर कागजका आकार और कितना कागज प्राप्त हुआ, लिखा होता है।

प्रेसका पुर्जा

सेवामें

आज हमें मेसर्स

से आपकी नामक

पुस्तकके लिए आकार

और पाउण्ड कुल

रीम कागज प्राप्त हुआ है। साथमें कागजका एक शीट नमूनेके लिए भेजा जा रहा है।

यदि ऊपर दिया हुआ विवरण ठीक हो तो साथ लगे हुए नमूनेके शीट हस्ताक्षर करके,

अर्नाचिन ब्रदर्स लिमिटेड

के पास अवश्य वापस भेज दीजिये।

यह स्वाभाविक ही है कि [illegible] मुद्रकों [illegible] बहुत महत्त्व है और यदि उसे कोई शंका [illegible] यह उसकी [illegible]

कागजके थोक व्यापारियोंकी एक संस्था (स्पाइसर्स) ऐसी भी है जहाँ एक विशेषज्ञ स्थायी रूपसे रहता है जो कागजसे सम्बन्धित समस्याओंके बारेमें ग्राहकोंको उचित और निःशुल्क सलाह देता है।

कागज कितनी मात्रामें आवश्यक होगा, इसका हिसाब लगाना हर उस आदमीके लिए टेढी खीर होती है जो इस समस्यासे परिचित नहीं होता, क्योंकि यह गलती बड़ी आसानीसे हो सकती है कि आप आवश्यक मात्राका आधा या दुगना कागज मँगा लें। केवल यही बात नहीं है कि भिन्न-भिन्न पुस्तकोंके लिए भिन्न-भिन्न संख्यामें शीटोंकी आवश्यकता होती है वल्कि एक रीममें कितने शीट निकलेंगे, यह भी इसपर निर्भर होता है कि कागज क्वाड साइजका है या डवल साइजका। उदाहरणके लिए एक ३२० पृष्ठका उपन्यास लें लीजिये : इसकी १,००० प्रतियाँ छापनेके लिए क्वाड क्राउन आकारके (३०×४०) १० रीम, डवल क्राउन आकार (२०×३०) के २० रीम कागजकी जरूरत पडेगी। १,००० शीटका आधुनिक माप-दण्ड यदि स्वीकार कर लिया जाय तो कागजका हिसाव लगानेकी कठिनाई बहुत कम हो जायगी, (इस समय पुस्तक-प्रकाशकोंके लिए जो कागज तैयार किया जाता है उसमें यह माप-दण्ड प्रयोग नहीं किया जाता), परन्तु इसके बाद भी लोग "पृष्ठ" और "पन्ने" के वीच गडवड़ कर जायँगे।

चित्र :—चित्रोंके छापनेके असंख्य तरीके हे, परन्तु जो तरीके ज्यादा मँहगे हैं उनपर विचार करना अनावश्यक है, क्योंकि आमतौर-पर जो पुस्तकें व्यापारकी दृष्टिसे छापी जाती हे उनमें उन तरीकोंसे काम नहीं लिया जाता। इस क्षेत्रमें निरन्तर प्रगति हो रही है; नयी-नयी विधियाँ मालूम की जा रही है या पुरानी विधियोंमें सुधार करके उन्हें विलकुल ही नया रूप दिया जा रहा है। अधिक मूल्यकी किताबोंमें जो दो मँहगे तरीके प्रयोग किये जाते हैं वे हैं "फोटोग्रेव्योर" और "कोलोटाइप"; इन दोनों तरीकोंसे चित्रोंकी छपाई अत्यन्त सन्तोषजनक होती है और जब छपाई

काफी अधिक संख्यामें करनी होती है तो फोटोग्रेव्योरकी विधि काममें लायी जाती है ताकि रोटरी मशीनपर छपाई की जा सके; लेकिन दुर्भाग्यवश, आमतौरपर सस्ती और अपेक्षाकृत बहुत कम सन्तोषजनक विधियोंका ही प्रयोग करना पड़ता है।

कुछ प्रकारकी रंगीन छपाईके लिए, हाथसे खींचे गये चित्रोंपर आधारित लिथोग्राफी—अर्थात् पत्थर द्वारा छपाई—का प्रयोग अब भी किया जाता है; परन्तु आजकल चित्रोंकी छपाई अधिकतर हाफटोन या लाइन ब्लाकोंके द्वारा की जाती है।

हाफटोन विधि :—यह विधि प्रायः हर प्रकारके चित्रोंकी छपाईके लिए काममें लायी जा सकती है, विशेष रूपसे उन चित्रोंकी छपाईके लिए जिनमें हल्के और गहरे रंगोंका उतार-चढ़ाव होता है, जैसे फोटोग्राफ, वाटर-कलरके चित्र और कला-चित्र आदि। लेकिन इस विधिमें एक बहुत बड़ी असुविधा यह है कि उत्तम परिणामके लिए चमकदार "आर्ट-पेपर" का प्रयोग आवश्यक हो जाता है और यदि पूरी पुस्तक इस कागजपर छापी जाय तो वह बहुत मँहगी पड़ेगी और वजनमें भारी भी होगी। इसीलिए बहुधा चित्रोंको मूल पुस्तकसे अलग छापना पड़ता है और उस दशामें इन चित्रोंको (यदि सम्भव हो तो) दो फार्मोंके बीचमें या किसी एक फार्मके ठीक मध्यवाले पृष्ठोंके बीचमें डालना पड़ता है।

हाफटोन ब्लाक द्वारा छापे गये चित्र आसानीसे पहचाने जा सकते हैं। इस प्रकार छापे गये चित्रको यदि आप ध्यानसे देखें तो आप उसमें छोटे-छोटे बिन्दु देख सकते हैं, दैनिक पत्रोंमें छपे हुए चित्रोंमें वे बड़ी आसानीसे देखे जा सकते हैं, और यदि बहुत महीन स्क्रीनका प्रयोग किया गया हो और वे बिन्दु आँखसे नहीं दिखाई पड़ें तो उन्हें किसी विशालकाचसे देखा जा सकता है।

आधुनिक प्रेसोंमें अधिकांश रंगीन चित्र या तो लिथोग्राफ द्वारा छापे जाते हैं या इसी विधिसे छापे जाते हैं। इस विधिमें तीन या चार

भूत रंगों, अर्थात् पीले, नीले और लालके लिए तीन ब्लाक प्रयुक्त किये जाते है। चार या अधिक ब्लाकोंका प्रयोग करनेसे निस्सन्देह छपाई ज्यादा साफ होती है और रंगोका उतार-चढाव भी ज्यादा स्पष्ट हो जाता है, परन्तु इसमे खर्च बहुत बढ जाता है। यह बात तो आसानीसे समझमे आ जायगी कि कई ब्लाकोंको एक दूसरेके ऊपर छापनेमें, (जिसे छपाईकी भाषामे "रजिस्टरिंग" कहते है,) जितने ज्यादा रंगोके ब्लाक छापे जायँगे, कठिनाई भी उतनी ही बढ जायगी। इसलिए यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि एक ही चित्रको दो रंगोमे छापनेमें, दो चित्रोंको अलग-अलग दो रंगोमे छापनेकी अपेक्षा ज्यादा खर्च आता है। क्योंकि एक चित्रको दो रंगोमें छापनेमे दो चित्रोको अलग-अलग छापनेकी अपेक्षा ज्यादा सावधानी बरतनी पडती है। इसलिए यह स्वाभाविक बात है कि यदि लागतमे कमी करना अभीष्ट हो तो रंगोकी संख्या न्यूनतम रखनी पड़ती है। रंगीन छपाईमे इस बातसे बहुत अन्तर पड़ जाता है कि पीला, नीला और लाल रंग किस क्रमसे छापे जाते है और इन रंगोका कौन-सा शेड प्रयोग किया जाता है। इसलिए यह एक नियम-सा बना दिया गया है कि ब्लाक-मेकर मुद्रककी सुविधाके लिए तमाम रंगोके ब्लाकोंके "क्रमवत प्रूफ" ब्लाकोंके साथ भेजता है। ब्लाक-मेकरको यह आदेश दे देना चाहिये कि वह ब्लाकोंके प्रूफ वैसे ही कागज-पर निकाले जैसे कागजपर छपाई की जानेवाली है। ऐसा करनेसे इन प्रूफोंको छपे हुए ब्लाकोंकी तुलनाके लिए मान-दण्डके रूपमे प्रयोग किया जा सकता है।

यदि चित्रके नीचे उसका "विवरण" या "शीर्षक" छापना होता है तो मुद्रक उसका एक कामचलाऊ (रफ) प्रूफ निकाल कर भेजता है ताकि यह देख लिया जाय कि कोई अक्षर गलत तो नही लगा है। जब यह चलता प्रूफ किसी अनुभवहीन लेखकके पास गलतियाँ देखनेके लिए भेजा जाता है, तो प्रायः हमेशा वह बहुत क्रुद्ध होकर जवाब भेजता है और आशा प्रकट करता है कि पुस्तकके छपकर तैयार होनेपर चित्र

उतने गंदे न छपे होंगे जितने वे प्रूफमें दिखाई देते हैं। इसलिए एक-बार फिर इस बातपर जोर देना आवश्यक है कि ये प्रूफ केवल शब्दोंकी गलतियाँ देखनेके लिए भेजे जाते हैं। इसलिए गलतियाँ इंगित करनेके लिए ये प्रूफ ऐसे कागजपर निकाले जाते हैं जिसपर स्याहीसे आसानीसे लिखा जा सके। इसके अतिरिक्त, छपाईकी इस मंजिलमें ज्यादा सावधानीसे छपाई करनेमें समय व्यर्थ नष्ट करनेसे कोई लाभ नहीं हो सकता।

लाइन ब्लाककी विधि :—यह विधि ज्यादा सस्ती होती है, और जहाँ भी सम्भव हो इसीका प्रयोग करना अच्छा होता है। फोटोग्राफ या वाशड्राइंगोंकी छपाईके लिए यह विधि बिलकुल बेकार होती है परन्तु साधारण ड्राइंगों, रेखा-चित्रों और कुछरूड-चित्रोंकी छपाईके लिए या सीधे-सादे रंगीन चित्रोंकी छपाईके लिए, जिनमें रंग आपसमें बहुत घुलते-मिलते नहीं, यह बहुत उपयोगी होती है।

विज्ञानकी पाठ्य-पुस्तकोंके चित्रोंकी छपाईके मामलेमें हालमेंही बहुत ज्यादा उन्नति हुई है और इसका श्रेय वैज्ञानिक और कलाकारके आदर्श सहयोगको दिया जाना चाहिये। वे चित्रको इस ढंगसे बनाते हैं कि वह स्वतः स्पष्ट हो जाय और चित्रको समझनेके लिए दुबारा पुस्तककी पाठ्य-सामग्रीकी सहायता न लेनी पड़े, उदाहरणके लिए कालेजोंमें पढ़ाई जानेवाली नक्षत्र-शास्त्रकी किसी अच्छी पाठ्य-पुस्तकमें दिये गये नक्षत्र-त्रिभुजके चित्रकी तुलना लैन्सलाट हागबेनकी साइन्स फार द सिटिज़न नामक पुस्तकमें इसी विषयके बारेमें दिये हुए चित्रसे करके देख लीजिये। इस नये तरीकेमें लेखक और कलाकारके बीच निकटतम सहयोग होना आवश्यक है।

मुझे इस बातपर हमेशा आश्चर्य हुआ है कि उन अनेक कला-कारोंमें से, जो पुस्तकोंमें छपनेके लिए चित्र बनाकर अपनी रोजी कमाते हैं कितने कम ऐसे होते हैं जो इस माध्यमकी विशेषता तथा अभाव [illegible] जिनके द्वारा उनकी कृति सर्वसाधारणतक पहुँचती है। उदाहरणके

लिए, यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि उपन्यासोके आवरण-पृष्ठोंके लिए जो डिजाइन बनाये जाते है उनमेसे बहुत थोड़े ही ऐसे होते है जो तीन हाफटोन ब्लाकोंके बजाय तीन लाइन ब्लाकोंके द्वारा छापे जा सकें। केवल यही बात नही है कि लाइन ब्लाककी छपाई ज्यादा सस्ती होती है, बल्कि इस कामके लिए वह ज्यादा प्रभावकर भी होती है और उसे अनिवार्य रूपसे चमकदार आर्टपेपरपर नही छापना पड़ता है। यही कारण है कि रेखा-चित्र पुस्तककी मूलसामग्रीके साथ ही छापे जा सकते हैं और आम तौरपर छापे जाते है; इसके विपरीत, हाफटोन चित्र, जैसा कि हम पहले बता चुके है, बहुधा अलगसे आर्टपेपरपर छापे जाते है; यदि पूरी पुस्तक आर्टपेपरपर छापी जाय तो बात दूसरी है लेकिन उस दशामें किताब पत्थर जैसी भारी हो जायगी। (वास्तवमे, यदि १३३ लाइनोंका स्क्रीन प्रयोग किया जाय और छापते समय काफी दबाव रखा जाय तो हाफटोन ब्लाक और टाइप 'कैलेण्डर्ड एस्पार्टो' जातिके कागज-पर छापे जा सकते है।)

जब कभी पुस्तककी पाठ्य-सामग्रीके साथ ही चित्र छापने हो तो यह आवश्यक है कि इन तमाम चित्रोंके गेली-प्रूफ पहलेसे दे दिये जायँ, क्योंकि पहलेसे यह निश्चित कर देना प्रायः कभी भी सम्भव नही होता कि कौन-सा चित्र कहाँपर छापा जाय।

आफसेट विधि :—छपाईकी एक विधि और भी है जिसका अभीतक उल्लेख नही किया गया है और जो दिन-प्रति-दिन अधिक प्रचलित होती जा रही है। उसे "आफसेट" विधि कहते हैं जो किसी छपी हुई पुस्तक, या चित्रों, मानचित्रों, पेंसिल-ड्राइंगोंके फोटो चित्र छापनेमें विशेष रूपसे उपयोगी होती है। यह भी एक प्रकारकी लीथोकी छपाई होती है, जिसमें पत्थरके स्थानपर जस्तेकी पतली-सी चादर इस्तेमाल की जाती है, जो रोटरी मशीनके सिलिण्डरपर लपेटी जा सकती है। पत्थरके स्थानपर धातुके प्रयोगके कारण फोटोग्राफीका फायदा उठानेका मौका मिल गया और इसकी बदौलत यह सम्भव हो

लिए, यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि उपन्यासोके आवरण-पृष्ठोंके लिए जो डिजाइन बनाये जाते है उनमेसे बहुत थोड़े ही ऐसे होते हैं जो तीन हाफटोन ब्लाकोके बजाय तीन लाइन ब्लाकोके द्वारा छापे जा सकें। केवल यही बात नहीं है कि लाइन ब्लाककी छपाई ज्यादा सस्ती होती है, बल्कि इस कामके लिए वह ज्यादा प्रभावकर भी होती है और उसे अनिवार्य रूपसे चमकदार आर्टपेपरपर नही छापना पडता है। यही कारण है कि रेखा-चित्र पुस्तककी मूलसामग्रीके साथ ही छापे जा सकते हैं और आम तौरपर छापे जाते है; इसके विपरीत, हाफटोन चित्र, जैसा कि हम पहले बता चुके है, बहुधा अलगसे आर्टपेपरपर छापे जाते है; यदि पूरी पुस्तक आर्टपेपरपर छापी जाय तो बात दूसरी है लेकिन उस दशामें किताब पत्थर जैसी भारी हो जायगी। (वास्तवमे, यदि १३३ लाइनोका स्क्रीन प्रयोग किया जाय और छापते समय काफी दबाव रखा जाय तो हाफटोन ब्लाक और टाइप 'कैलेण्डर्ड एस्पार्टो' जातिके कागज-पर छापे जा सकते है।)

जब कभी पुस्तककी पाठ्य-सामग्रीके साथ ही चित्र छापने हो तो यह आवश्यक है कि इन तमाम चित्रोके गेली-प्रूफ पहलेसे दे दिये जायँ, क्योंकि पहलेसे यह निश्चित कर देना प्रायः कभी भी सम्भव नही होता कि कौन-सा चित्र कहाँपर छापा जाय।

आफसेट विधि :—छपाईकी एक विधि और भी है जिसका अभीतक उल्लेख नहीं किया गया है और जो दिन-प्रति-दिन अधिक प्रचलित होती जा रही है। उसे "आफसेट" विधि कहते हैं जो किसी छपी हुई पुस्तक, या चित्रो, मानचित्रो, पेंसिल-ड्राइंगोके फोटो चित्र छापनेमें विशेष रूपसे उपयोगी होती है। यह भी एक प्रकारकी लीथोकी छपाई होती है, जिसमें पत्थरके स्थानपर जस्तेकी पतली-सी चादर इस्तेमाल की जाती है, जो रोटरी मशीनके सिलिण्डरपर लपेटी जा सकती है। पत्थरके स्थानपर धातुके प्रयोगके कारण फोटोग्राफीका फायदा उठानेका मौका मिल गया और इसकी बदौलत यह सम्भव हो

गया कि अत्यन्त नाजुक और जटिल चित्रोको भी प्लेटोपर उतारा जा सके। बादमे धीरे-धीरे यह पता चला कि यदि धातुपरसे डिजाइन पहले रबरकी एक चिकनी चादरपर छाप ली जाय और फिर उस परसे कागजपर छापी जाय तो छपाई अत्यन्त साफ और देखनेमे सुन्दर होती है। आफसेटमे यही किया जाता है। जिस चित्र या मैटरकी छपाई करनी होती है उसे पहले एक सिलिण्डरपर चढी हुई रबरकी चादरपर उतार लिया जाता है और उसपरसे वह कागजपर छाप लिया जाता है। रबरकी सतह चिकनी होनेके कारण उसपर किसी खुरदुरी सतहकी अपेक्षा चित्र या छपे हुए मैटरका अक्स ज्यादा अच्छा आता है और उसका धरातल पूर्णतः चिकना होनेके कारण स्याही भी कम लगानेकी आवश्यकता पडती है। इस प्रकार इस बातका भी खतरा नही रह जाता कि स्याही गीली रह जानेके कारण पुस्तकके दूसरे पृष्ठ गन्दे हो जायँ, जिसे छपाईकी भाषामे "सेट आफ" कहते है; इसके अलावा रबरका धरातल लचकीला होनेके कारण वह दबकर कागजके छोटे-छोटे दानोके भीतरतक पहुँच सकता है और औसत खुरदुरी सतहवाले कागजपर भी लकीरें बीच-बीचमे टूटी हुई नही मालूम पडतीं।

चूँकि इस विधिमें फोटोग्राफी का प्रयोग किया जाता है इसलिए किसी चीजका बिलकुल सच्चा प्रतिरूप (फैक्सीमिली) छापनेके लिए यह विधि बहुत उपयोगी है। लेकिन यदि किसी अंशमें या किसी पृष्ठपर गलतियाँ हों तो उस हिस्सेको या उस पृष्ठको दुबारा कम्पोज करके और उसका फोटो लेकर गलती सुधारी जा सकती है। परन्तु इस प्रकार सुधारे गये हिस्सोंकी छपाईमे बडी सावधानीसे काम लेनेकी आवश्यकता होती है (कामचलाऊ प्रूफसे काम नहीं चल सकता) और यह आवश्यक है कि छपाई करते समय जो कागज इस्तेमाल किया जाय वह यथासम्भव उस पुस्तकके कागजके ही समान हो जिसका कि प्रतिरूप छापा जा रहा है। इसके अतिरिक्त नया मैटर पुराने मैटरपर बहुत ही सफाईसे और बिलकुल ठीक स्थानपर चिपकाना चाहिये क्योंकि यदि चिपकाते समय

वह जरा-सा भी तिरछा हो गया तो छपनेके वाद बहुत ही भद्दा लगेगा। इस विधिका एक फायदा और भी है, जिसकी ओर बहुधा बहुत कम ध्यान दिया जाता है, वह यह कि फोटो लेते समय टाइपका चित्र मूलसे छोटा (या बडा) भी लिया जा सकता है और इस प्रकार डिमाई आक्टेवो आकारकी पुस्तक क्राउन-आक्टेवो आकारमे (या इसके विपरीत) छापी जा सकती है।

आफसेट लिथोग्राफीकी विधिसे हाफटोन ब्लाकोंकी रंगीन छपाई करनेमें एक फायदा यह है कि इसमे लेटरप्रेस हाफटोनकी तरह आर्ट-पेपरका प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। लेकिन इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जो चीज हाफ-टोन ब्लाकोंकी सहायतासे तीन रंगोंके ब्लाकोंसे छापी जा सकती है, उसी चीजको फोटो-लिथोग्राफीकी विधिसे कमसे कम चार रंगोंमे छापना पडेगा। एक रंग तो ज्यादा जरूर लगाना पडता है पर फोटो-लिथोग्राफीकी छपाई बहुत सुन्दर होती है। एक वात और ध्यानमे रखनी चाहिये, वह यह कि फोटो-लिथोग्राफीमें कॉचके जो निगेटिव इस्तेमाल किये जाते हैं, या इधर फिल्मके जो निगेटिव इस्तेमाल किये जाने लगे हैं, उन्हें आसानीसे सुरक्षित रखा जा सकता है और जब भी इन्हें दुवारा इस्तेमाल किया जायगा, इनमे किसी प्रकारकी खराबी नहीं पायी जायगी, जब कि हाफटोन ब्लाक बडी आसानीसे घिस जाते है या खराब हो जाते हैं।

फोटो-लिथोग्राफीका भविष्य बहुत उज्ज्वल है, परन्तु इसमे अत्यन्त निपुण ढंगसे काम करनेकी आवश्यकता होती है, जिसके लिए यह जरूरी होता है कि काम करने वालोंकी ट्रेनिंगकी ओर बहुत ध्यान दिया जाय। फोटो-लिथोग्राफीकी विधिसे छपाई करनेका दावा करनेवाली ऐसी संस्थाएँ बहुत ही थोडी हैं, और शायद इनकी संख्या बहुत ही थोडी रहेगी भी, जो सचमुच अव्वल दर्जेका काम करती हों।

ब्लाक बनवाना :—इस क्षेत्रमे परिस्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक है। इंग्लैण्डके प्रमुख ब्लाक बनानेवालोंने प्रति वर्गइञ्चके हिसाबसे एक

दर निश्चित कर ली है जिसमें वे रत्तीभर भी कमी करनेको तैयार नहीं हैं। समाचारपत्रों और पत्रिकाओंके लिए जल्दीमें काम करनेकी जो दर निश्चित की गयी है (जिसमें बहुधा मजदूरोंको ओवरटाइमके रेटपर मजदूरी देनी पड़ती है) वह पुस्तकोंके कामके लिए उचित नहीं हो सकती क्योंकि यह काम उसकी अपेक्षा धीरे-धीरे किया जाता है। यह दर कितनी अनुचित है, इसका अन्दाजा इस बातसे हो जायगा कि हालैण्डसे (जहाँ मजदूरीकी दर बहुत ऊँची है) ब्लाक बनवाकर हवाई डाकके द्वारा (जिसमें बहुत ज्यादा खर्च लगता है) लन्दन मँगवाना इंग्लैण्डके ब्लाक बनानेवालोंकी दरसे सस्ता पड़ता है। इस परिस्थितिका एक दिलचस्प और निराशाजनक पहलू यह है कि यदि कोई स्वतन्त्र संस्था अपने मजदूरोंको ट्रेड यूनियन द्वारा निर्धारित मजदूरी देती है लेकिन अपने मुनाफेकी गुंजाइश कम रखकर सस्तेमें काम करनेपर तैयार हो जाती है तो उसे इस बातका खतरा रहता है कि उस उद्योगकी ट्रेड यूनियन उसपर दबाव डालेगी कि वह अपनी दर बढ़ा दे। इसलिए, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि पुस्तक-प्रकाशकोंको बहुधा अपनी इच्छाके विरुद्ध विदेशोंसे ब्लाक बनवानेपर मजबूर होना पड़ता है।

ब्लाकोंकी कीमतका हिसाब लगानेके लिए केवल यह आवश्यक होता है कि ब्लाकका क्षेत्रफल वर्गइञ्चोंमें मालूम करके उसे प्रति वर्गइञ्चकी दरसे गुणित कर दिया जाय, उदाहरणके लिए :—

एक चित्र ५ इञ्च × ४ इञ्च का = २० वर्गइञ्च

एक चित्र ५ इञ्च × ३ इञ्च का = १५ वर्गइञ्च

कुल ३५ वर्गइञ्च

और यदि दर १ शिलिंग प्रति वर्गइञ्च हो तो दो ब्लाकोंकी कीमत ३५ शिलिंग होगी। लेकिन एक बात ध्यानमें रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है। मौजूदा दरके अनुसार, यदि किसी ब्लाकका क्षेत्रफल १४ वर्ग इञ्चसे कम हो तो उसकी कीमत भी १४ वर्गइञ्चके हिसाबसे ही लगायी जायगी।

पुस्तकोंको दुबारा छापनेके तरीके :—किसी पुस्तकको दुबारा छापनेका सबसे सस्ता तरीका यह है कि पहली छपाईके लिए जो मैटर कम्पोज किया गया है उसे छापनेके बाद वैसे ही रख लिया जाय और दुबारा आवश्यकता पडनेपर उसे इस्तेमाल किया जाय। अमेरीकामे बहुत ही थोड़ी किताबें ऐसी होती है जो टाइपके द्वारा छापी जाती हो, क्योंकि वहाँ यह तरीका प्रचलित है कि टाइपको कम्पोज करके उसकी एलेक्ट्रो-प्लेटे बनवा ली जाती हैं और फिर इन प्लेटोसे छपाईकी जाती है। एलेक्ट्रो-टाइपिगकी विधि अमेरीकामें इंग्लैण्डकी अपेक्षा बहुत ज्यादा इस्तेमाल की जाती है। इस विधिमे मोमके साँचेपर ताँबेकी एक पतली-सी तह जमा दी जाती है और फिर उसपर एक धातु-मिश्रणकी तह जमायी जाती है, जिसमे ९३ भाग सीसा, ४ भाग ऐण्टीमनी और ३ भाग टीन होता है। यह तरीका स्टीरियोप्लेटे बनानेकी अपेक्षा बहुत महँगा पडता है, जिसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

इंग्लैण्डके अधिकतर मुद्रक कम्पोज किया हुआ टाइप छपाई खत्म होनेके बादसे तीन महीनेतक रखनेके लिए पैसा नही लेते है, और प्रायः सभी मुद्रक इससे ज्यादा दिनोतक भी रखनेके लिये तैयार हो जाते हैं, लेकिन उसके लिए वे प्रति १६ पृष्ठ ६ पेंस प्रति माहके हिसाबसे किराया वसूल करते हैं (यदि पृष्ठका आकार डिमाई आक्टेवोसे बडा हो तो ८ पेंस)। आजसे बीस-पचीस वर्ष पहले भी इस प्रकार टाइपको रख छोड़ना एक गम्भीर समस्या थी, क्योंकि इसका अर्थ वास्तवमें यह होता था कि मुद्रककी उतनी पूँजी फँसी रहती थी। अब चूँकि कम्पोजिग मशीनोंके द्वारा होने लगी है इसलिए कम्पोज किया हुआ मैटर रखे रहनेका अर्थ केवल यह होता है कि उतनी धातु बेकार फँसी रहती है, क्योंकि आज-कल छपाई पूरी हो चुकनेके बाद कम्पोज किया हुआ मैटर फिर गलाकर धातुमे परिवर्तित कर दिया जाता है। फिर भी बडे-बडे प्रेसोमें बहुत बडी मात्रामें धातुकी आवश्यकता रहती है और तीन माह पूरे होनेके बाद प्रकाशकसे यह माँग की जाती है कि वह मुद्रकको टाइपको गलाकर

धातुमें परिवर्तित करनेकी इजाजत दे दे। इस परिस्थितिमें प्रकाशकको कई बातोंपर विचार करना पडता है। यदि इस बातकी सम्भावना नहीं होती कि पुस्तकका कोई और संस्करण निकलेगा तो वह कम्पोज किये हुए टाइपको विछिन्न (डिस्ट्रीब्यूट) करनेकी इजाजत दे देगा। यदि वह यह समझता है कि इस बातका फैसला निश्चित रूपसे अगले एक या डेढ महीनेमें हो जायगा तो सम्भवतः किराया देकर कम्पोज किया हुआ मैटर रखे रहनेको कह देगा। यदि उसे यह विश्वास हुआ कि यद्यपि निकट भविष्यमें पुस्तककी पुनरावृत्ति नहीं निकाली जायगी परन्तु आगे चलकर कई वर्षोंतक उस पुस्तकके संस्करण निकलते रहेंगे तो वह कम्पोज किये हुए टाइपके 'मोल्ड' बनवा लेनेका आदेश दे देगा। 'मोल्ड' तैयार करनेका तरीका यह है कि पेपियरमाशीपर कम्पोज किये हुए टाइपका साँचा तैयार कर लिया जाता है और बादमें आवश्यकता पडने पर उससे स्टीरियोप्लेटें ढाली जा सकती हैं।

स्टीरियोप्लेटें विशेष स्टीरियो धातुकी बनाई जाती हैं जिसमें अधिक भाग सीसेका होता है। इसीलिए वे जरा नर्म होती है और उनसे असीमित संख्यामें प्रतियाँ नहीं छापी जा सकतीं। जब बहुत अधिक प्रतियाँ छापनेके लिए उन्हें सख्त बनानेकी आवश्यकता होती है तो बहुधा उनके धरातलपर निकिलकी तह जमा दी जाती है। यदि प्लेटें तैयार करनेकी क्रियामें सावधानीसे काम लिया जाय तो एक साँचे (मोल्ड) से दो प्लेटें तैयार की जा सकती है।

इस बारेमें कोई आम नियम बनानेमें तो गलती कर जानेकी सम्भावना है, क्योंकि किसी पुस्तकको कम्पोज करवानेका खर्च और तरीका निश्चित नहीं होता। लेकिन आम तौरपर यह कहा जा सकता है कि साँचे तैयार करवाने और फिर उनसे स्टीरियोप्लेटें तैयार करवानेमें कम्पोजिंगकी तुलनामें तीन-चौथाई खर्च आता है, यदि यह मान लिया जाय कि कम्पोजिंग बहुत सीधी-सादी है। इसलिए जबतक एक ही प्लेटसे कई पुनरावृत्तियाँ न निकाली जायँ तबतक बहुत ज्यादा बचत नहीं होती।

जितनी संख्यामें पुस्तकें प्रकाशित होती है उनकी तुलनामें ऐसी पुस्तकोंकी संख्या, जिनकी तीसरी पुनरावृत्ति निकलती हो; इतनी थोडी होती है कि प्रकाशक 'मोल्ड' बनवानेमे अपनी पूँजी फँसानेसे हिचकिचाते है। ऐसा करनेके लिए उनकी राहमे अनेक बाधाएँ आती हैं। पहली बाधा तो यह है कि सम्भव है कि लेखक 'मोल्ड' का खर्च दिये बिना ही पुस्तकके प्रकाशनके अधिकार वापस लेना चाहे। दूसरी बाधा यह होती है कि सम्भव है कि लेखक पुस्तकमे विस्तृत रूपसे परिवर्तन करना चाहे, जिस दशामे मोल्ड बिलकुल बेकार हो जाते हैं, क्योंकि परिवर्तन स्टीरियोप्लेटमे करने होते है। यदि आप यह बात ध्यानमें रखे कि ये प्लेटे ठोस धातुकी बनी होती है और उनका आकार उतना ही बडा होता है जितना कि पृष्ठका होता है और उनमे कोई परिवर्तन करनेके लिए यह आवश्यक होता हैं कि गलत हिस्सोंको काटकर निकाल लिया जाय और उनके स्थानपर नया मैटर बहुत सफाईसे टॉका लगाकर जोड दिया जाय, तब यह बात आपकी समझमे आसानीसे आ जायगी कि ऐसा करनेसे प्रकाशक आनाकानी क्यों करता है।

प्रकाशकके लिए सौभाग्यवश अब फोटो-लिथोग्राफीकी सुविधा भी प्राप्त है, जो आफसेट विधिका ही एक विकसित रूप है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसलिए, यदि पुस्तकके पृष्ठोका फोटो-चित्र लेकर उसे दुबारा प्रकाशित करना अभीष्ट हो तो मोल्ड (साँचे) बनवानेकी अब आवश्यकता नहीं रह गयी है और यदि लेखकका पुस्तकमें बहुत ज्यादा परिवर्तन करनेका विचार हो तो मोल्ड बनवानेसे कोई बचत भी नहीं होती। लेकिन जिन पुस्तकोंकी कई पुनरावृत्तियाँ निकलनेकी सम्भावना होती है, उनके लिए अभी भी स्टीरियोप्लेटोंका प्रयोग किया जाता है। जिस पुस्तककी स्टीरियोप्लेटे मौजूद होती हैं उसे बहुत ही थोडे समयमें छापा जा सकता है, जब कि फोटो-लिथोग्राफीकी विधिमें बहुधा अधिक समय लगता है।

कदाचित् यह बता देना उपयोगी होगा कि इंग्लैण्डके मुद्रक कम्पोज

है। इसीलिए आजकल प्रकाशक न बिकनेवाली पुस्तकोंको औने-पौने बेच देनेके लिए बड़ी जल्दी तैयार हो जाते है। पूँजी इस रूपमे फँसाकर रखना तो यों भी काफी हानिकारक होता है, परन्तु इस परिस्थितिमे तो केवल पूँजी ही नही फँसी रहती बल्कि ऊपरसे कुछ खर्च भी करना पड़ता है।

इस समस्याका सम्बन्ध एक हदतक लेखकोंसे भी है; क्योकि यदि कोई प्रकाशक किसी पुस्तकके बचे हुए स्टाकको कम दामोंपर थोकमे बेच देने या फालतू फार्मोंको, जिनपर जिल्द बँधवानेसे कोई भी लाभ होनेकी आशा नही की जा सकती, नष्ट कर देनेकी उत्सुकता प्रकट करता है तो बहुतसे लेखक उसे बहुत ही नीच समझते है। वे यह बात भूल जाते है कि पुस्तकका पहला संस्करण छपे कई वर्ष बीत चुके हैं और उसकी बिक्री बिलकुल रुक चुकी है। छठे अध्यायमे 'बचे हुए स्टाककी थोक बिक्री'वाले खण्डमे इस प्रश्नपर अधिक विस्तारसे चर्चा की जायगी।

किताबोंके स्टाक कई रूपोंमे रखे जाते हैं। या तो मुद्रक खुले हुए फार्मोंके बण्डल बनाकर उन्हे गोदाममे रख देता है, या जिल्दसाज फार्मोंकी फोल्डिंग करके उन्हे क्रमवत् लगाकर २० से लेकर १०० प्रतियोंतकके बण्डलोंमे बाँधकर रख देता है, ताकि आवश्यकता पड़नेपर उन्हे फौरन जिल्द बाँधनेके लिए दिया जा सके। यदि किताबोंपर जिल्द बाँध भी ली गयी हो तब भी उन्हे बड़ी सावधानीसे बण्डलोंमें बाँधकर, उनपर उनके नाम आदिकी पर्ची लगाकर रखना पड़ता है, नही तो वे शीघ्र ही मैली हो जाती है और फिर उन्हे बेचनेमें कठिनाई होती है।

जो पुस्तकें खुले हुए फार्मोंके रूपमें रखी जाती है, यदि उनके हर फार्मका अलग एक बण्डल हो तो उनमेसे पुस्तककी पूरी एक प्रति निकालनेमें बड़ा समय लग जाता है, गोदामके रखवालेको अल्मारीपरसे हर एक बण्डल उतारना ही नहीं पड़ता बल्कि हर बण्डलको खोलकर दुबारा बाँधना पड़ता है और उसे उसके उचित स्थानपर रखना पड़ता है। इसीलिए अलग-अलग फार्मोंके रूपमें पुस्तककी इक्की-दुक्की कापियाँ

देनेमें प्रकाशकका बहुत खर्च आ जाता है। यदि इस रूपमें पुस्तके देनेके लिए पहले ही से कुछ पुस्तकोंके फार्म अलग बण्डलमें रख लिये गये हो, या जिल्द बँधानेके लिए फार्म निकलवाते समय यह माँग आये तो बात दूसरी है।

जिल्दसाजी :—पुस्तक-प्रकाशकोंका जिन दो प्रकारकी जिल्दोंसे मुख्य रूपसे सम्बन्ध है वे है : कपड़ेकी जिल्द और कागजकी जिल्द ; अन्य प्रकारकी जिल्दे जो इन्हीं दोनोंका बदला हुआ रूप है, वे भी इन्हींमे शामिल समझी जायँ। वेल्लम (एक विशेष प्रकारकी पतली झिल्ली) या चमड़ेकी जिल्दोंकी विशेष संस्करणोंके लिए और विशेष मौकोंपर ही जरूरत पड़ती है, परन्तु "प्रकाशकोंकी आम जिल्दों"मे उनका प्रयोग इतना कम होता है कि उसकी अधिक चर्चा करना आवश्यक नहीं।

कुछ मुद्रकोंके यहाँ हर प्रकारकी जिल्दसाजीका पूरा प्रबन्ध रहता है, कुछ मुद्रक अपने यहाँ केवल कागजकी जिल्द बाँधनेका प्रबन्ध रखते है, लेकिन अधिकांश जिल्दसाजी अभी भी लन्दनके आसपासके, और सीमित मात्रामें एडेनबराके, जिल्दसाजीके स्वतन्त्र कारखानोंमें होती है। पुस्तकें जिस क्षेत्रमे वितरित करनी हो वहाँसे थोड़ी दूरपर उनकी छपाई करवाना तो सुविधाजनक हो सकता है पर वितरण-क्षेत्रसे बहुत दूर उनकी जिल्द बँधवाना कभी भी बुद्धिमानी नहीं समझी जा सकती, क्योंकि अचानक पुस्तककी माँग आ जानेपर उसे विक्रेताके पास भेजनेमें प्रति घण्टेकी देरके परिणाम बहुत गम्भीर हो सकते हैं। आवश्यकतासे पाँच सौ प्रतियाँ अधिक छाप लेनेसे तो जितना कागज अधिक लगता है उसकी कीमतमें थोड़ा-सा ज्यादा खर्च होता है, परन्तु यदि आवश्यकतासे अधिक प्रतियोंपर जिल्द बँधवा ली जाय तो लागत बहुत ज्यादा आ जाती है। इसीलिए अधिकांश प्रकाशक अपनी तात्कालिक आवश्यकताके अनुसार ही प्रतियोंपर जिल्द बँधवाते हैं, लेकिन इसके साथ यह शर्त भी है कि जिल्दसाज

कही निकट ही हो ताकि यदि कुछ प्रतियोकी फौरन मॉग आ जाय तो वह पूरी की जा सके। इतनी ही महत्त्वपूर्ण यह बात भी है कि प्रतिदिन इस बातकी ओर भी ध्यान रखा जाय कि पुस्तक किस रफ्तारसे बिक रही है।

किसी प्रकाशन संस्थाके सुव्यवस्थित ढंगसे काम करनेका अन्दाजा इस बातसे लगाया जा सकता है कि कामके इस पहलूपर कितनी निगरानी रखी जाती है। यदि प्रकाशन संस्थाओके मुख्य व्यवस्थापक समय-समयपर यह जवाब तलब करते रहे कि उनकी पुस्तकोके बारेमे इस प्रकारकी "ढील-ढाल" क्यो की जाती है तो पुस्तक विक्रेताओको यह शिकायत करनेका मौका ही न मिले कि उनकी आर्डर की हुई किताबे "जिल्दसाजके यहॉ" है और तैयार होते ही भेज दी जायँगी। युद्धके दिनोमे तो यह होना अनिवार्य है पर साधारण परिस्थितियोमे इस गड़बडीका कारण बहुधा यह होता है कि समस्यापर पहलेसे विचार नही किया जाता, लापरवाही बरती जाती है, या सम्बन्धित विभागोके बीच उचित सहयोग नही होता, यद्यपि अचानक ऐसे भी मौके आते हैं जब अच्छेसे अच्छे प्रकाशकको धोखा खाना पड जाता है।

जिल्दपर छपे हुए अक्षर :—जहॉतक पुस्तकके बाहरी सौन्दर्यका सवाल है, जिल्दका सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण उसपर छपे हुए अक्षर हैं। प्रायः हमेशा यहीपर घटिया प्रकाशककी कलई खुल जाती है। जबतक ध्यान देकर और पैसे खर्च करके ये अक्षर पुस्तककी मोटाईके अनुपातसे विशेष रूपसे पीतलके न बनवाये जायँ, तबतक इन अक्षरोकी छपाई कभी अच्छी नहीं हो सकती। सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि अक्षर कटवानेसे पहले पुस्तककी ठीक-ठीक मोटाई मालूम होनी चाहिये। अनुमानसे काम नहीं चल सकता क्योंकि पाव इञ्चकी भी कमी-बढ़ती हो जानेसे छपाईका सत्यानास हो सकता है; इसपर खर्च केवल ६ पैसे प्रति अक्षर या इससे थोड़ा-सा अधिक

दिया गया था, और सम्भवतः कुछ प्रतियाँ ज्यादा ही होंगी। जब कुछ फार्मों की संख्या कम होती है तब जिल्दसाज प्रकाशकको अपूर्तियों-की एक सूची भेज देता है जिसमे वह बताता है कि कौन-कौन-से फार्म कितनी-कितनी संख्यामें कम हैं। यदि यह कमी मुद्रककी गलतीके कारण होती है तो प्रकाशक उन कम फार्मोंको पूरा करवानेके लिए उचित काररवाई कर सकता है।

पुस्तकके फार्मोंको क्रमवत् जोडकर उनपर जिल्द चढानेके लिए जो दफ्ती और कपडा लगाया जाता है उसे "केस" कहते है। ये "केस" आजकल मशीनके द्वारा तैयार किये जाते है। जैसा कि छपाईकी मशीन-मे होता है कि कम्पोज किये हुए मैटरको छपाईके लिए तैयार करने (मेकिंग-रेडी) मे बहुत ज्यादा वक्त लगता है, उसी प्रकार केस बनानेकी मशीनमे भी प्राथमिक तैयारीमे ही ज्यादा समय लगता है। एक बार मशीन चालू हो जानेपर सारी क्रिया प्रायः अपने-आप होती रहती है। जिल्दसाजीकी विभिन्न क्रियाओंके बारेमे विस्तारपूर्वक उल्लेख करनेका उचित स्थान यह नहीं है, जिन लोगोको उनमे दिलचस्पी हो वे बाथ नगरके श्री सेड्रिक शिवर्सकी पुस्तकोंका अध्ययन कर सकते हैं, जिन्होने लाइब्रेरियोंके लिए पुस्तकोंकी जिल्दोंको ज्यादा टिकाऊ बनाने-की ओर काफी ध्यान दिया है और काफी समय खर्च किया है।

आवरणपृष्ठ या जैकेट :—जब जिल्द बॅध चुकती है और पुस्तकों-को दबाकर काफी समयतक सुखा लिया जाता है तब उनपर आवरण-पृष्ठ या जैकेट चढ़ाये जाते है। इस आवरणपृष्ठके विकासकी कहानी बयान करनेमे काफी समय लग जायगा। कुछ लोग यह समझते हैं कि इन आवरणपृष्ठोंका कोई भी उपयोग नहीं है। वे यह भूल जाते हैं कि पुस्तकको सुरक्षित रखनेका कोई-न-कोई साधन तो आवश्यक है ही। आजसे पचास वर्ष पहले पुस्तकोंको सुरक्षित रखनेके लिए उनपर सादा कागज, बेकार छपे हुए शीट, या झीना कागज चढ़ा दिया जाता था। फिर सुविधाके लिए पुस्तककी रीढ़पर या पुस्तकके ऊपर, या दोनो

जगहोंपर पुस्तकका नाम छापा जाने लगा। उसके बाद पुस्तकका थोड़ा-सा वृत्तान्त दिया जाने लगा और फिर चित्र छापे जाने लगे। बहस यह नहीं है कि जैकेटके बिना काम चल सकता है या नहीं, सवाल यह है कि वह नीरस हो या सजावटी—अरोचक हो या उसे पुस्तकके बारेमें सूचना देनेके लिए इस्तेमाल किया जाय। उसे पुस्तकको केवल गर्द या धूलसे बचानेका साधनमात्र बनाया जाय या उसे आकर्षक बनाकर पुस्तकका एक अभिन्न अंग और फलतः बिक्रीमें सहायता देनेवाला एक शक्तिशाली उपकरण बना दिया जाय।

कुछ संस्थाएँ केवल जैकेटोंकी ही छपाई करती हैं और इसलिए वे दाम भी अपेक्षाकृत कम लेती हैं। इसलिए प्रकाशकके लिए सबसे आसान बात यह है कि वह ऐसी किसी संस्थाके साथ छपाईका प्रबन्ध कर ले और छपे-छपाये जैकेट जिल्दसाजके पास भेज दे।

यहाँपर भी कठिनाई आती है और पुस्तककी "मोटाई" का अनुमान मालूम करनेके कारण देर भी लगती है। प्रकाशक चाहे कि यह काम जल्दी पूरा हो जाय लेकिन बहुधा उसे उस समयतक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जबतक कि उसे पुस्तककी "मोटाईका अन्दाजा लगानेके लिए नमूनेकी प्रति" न मिल जाय, क्योंकि बगैर उसके यह निश्चित करना कठिन होता है कि जैकेट पुस्तकपर फिट भी आयेगा या नहीं।

इस विचारसे कि आजकल जितने मँहगे सचित्र जैकेट छापे जाते हैं, उनका कोई उपयोग किये बिना ही उन्हें फौरन फेंक दिया जाता है, कभी-कभी प्रकाशक दुविधामें पड जाते हैं। अपने तमाम आर्डरोंपर बूट्सकी संस्थाका लाइब्रेरी विभाग निश्चित रूपसे यह लिख देता है कि जो पुस्तकें उन्हें उनकी लाइब्रेरीके लिए सप्लाई की जायँ उनपर जैकेट होनेकी आवश्यकता नहीं है, इसके विपरीत डब्ल्यू० एच० स्मिथ एण्ड सन नामक संस्था निश्चित रूपसे जैकेटोंको पसंद है और "बाकी बचे हुए स्टाकको कम दामपर थोकमें बेचने" के लिए जैकेट

बहुत सहायक होते हैं। लेकिन, अन्ततः यह बात निश्चित है कि इंग्लैण्डमें भी और विदेशोंमे भी तमाम पुस्तक-विक्रेता पुस्तकको शोकेसमें सजानेके लिए उसपर आकर्षक जैकेटका होना आवश्यक समझते हैं और इसीलिए हर प्रकाशक, और विशेष रूपसे वह प्रकाशक जो अपने निर्यात-व्यापारको महत्त्व देता है, बिना किसी संकोचके यही कहता है कि पुस्तकपर आवरणपृष्ठ अनिवार्य रूपसे होना ही चाहिये।

अन्य प्रकारकी जिल्दें :—अभीतक हमने केवल कपडेकी साधारण जिल्दोंका उल्लेख किया है जिनपर सुनहरे अक्षरोंमे या स्याहीसे पुस्तकका नाम आदि छपा होता है। इसके अतिरिक्त भी कई प्रकारकी जिल्दें है, परन्तु प्रायः उन सबमे एक खराबी होती है कि वे सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंकी आवश्यकताओंको पूरा नहीं करतीं, और जबतक लोग पुस्तकें खरीदनेके बजाय उनको लाइब्रेरीसे लेकर पढ़ना पसन्द करते रहेंगे, तबतक इस खराबीको निरन्तर ध्यानमे रखना होगा।

कपड़ेकी जिल्द, जिसपर सुथरे ढंगसे पुस्तकका नाम आदि छपा हो, या वह जिल्द जो बिलकुल कपडेकी जिल्दकी तरह ही बाँधी जाती है पर जिसमें 'केस' तैयार करते समय कपडेके स्थानपर कोई मजबूत और उपयुक्त कागज इस्तेमाल किया जाता है, दोनो ही बडी आकर्षक होती है। छोटी और सस्ती किताबोंके लिए आजकल कई प्रकारकी कागजकी जिल्दे प्रयोगमे लायी जा रही है : उदाहरणके लिए पुस्तक पर किसी "कडे कागज" की जिल्द बाँधकर उसपर कागजका कवर या तो चिपका दिया जाता है या चढा दिया जाता है, या इससे भी सस्ता तरीका यह है कि कागजका कवर पुस्तकके पहले और अन्तिम सादे पृष्ठपर मोड़ दिया जाता है। यदि कागजकी जिल्दको किसी भी उपायसे टिकाऊ बना दिया जाय तो इंग्लैण्डके पुस्तक खरीदनेवालोंकी दृष्टिमे उसका मूल्य बढ़ जाता है, क्योंकि वे अपनी तमाम किताबें कपड़ेकी जिल्दकी खरीदनेके आदी होते हैं।

कागजकी जिल्द :—बहुतसे लोग जो अक्सर अखबारोंमें इस

आशयके पत्र लिखते रहते है कि यूरोपके दूसरे देशोंकी तरह इंग्लैण्डमें भी पुस्तकोंपर कागजकी जिल्द बाँधनेका तरीका अपनाया जाना चाहिये, समझते है कि शायद इस प्रकार बहुत ज्यादा बचत की जा सकती है। कागजकी जिल्दे बाँधनेका तरीका अपनाना उचित है या नहीं यह अलग बात है, लेकिन यह बात अपनी जगहपर सच है कि आधुनिक जिल्द-साजीकी मशीनोंके कारण कागज और कपडेकी जिल्दकी लागतमें बहुत ज्यादा अन्तर नहीं होता। दोनों ही दशाओंमें फार्मोकी फोल्डिंग करने-के बाद उन्हें क्रमवत् लगाकर सिलाई तो करनी ही पड़ती है। बचत केवल इस चीजकी होती है कि कपडेकी जिल्दमें पहले 'केस' बनाकर फिर उसे लगाना पडता है, लेकिन केस बनानेवाली मशीन ये 'केस' आश्चर्यजनक तेज रफ्तारसे तैयार कर देती है। अन्ततः कपडेके स्थान-पर कागज लगानेसे एक प्रतिपर ज्यादासे ज्यादा ४ या ५ पेन्स बचत हो सकती है और बहुधा तो इतनी भी नहीं होती। इसके फल-स्वरूप पुस्तकके मूल्यमें १ शिलिंगकी कमी की जा सकती है। जिस प्रकाशकने भी इस तरीकेको आजमाया है (और हममेंसे कई प्रका-शकोंने कई बार इसे आजमाकर नुकसान उठाया है) वह इस बातको जानता है कि यदि इस प्रकार पुस्तकके मूल्यमें १ शिलिंगसे अधिक, या समझ लीजिये, डेढ शिलिंगकी भी कमी कर दी जाय तब भी ९० प्रतिशत उदाहरणोंमें कपडेकी जिल्द ही पसन्द की जायगी। यूरोपके देशोंमें जहाँ कागजकी जिल्द एक नियम-सा बन गयी थी, वहाँ भी अब कपडेकी जिल्दका चलन बढ़ता जा रहा है।

मैं यहाँपर एक उदाहरण दे देना बहुत जरूरी समझता हूँ। एक लेखकने हमारे ऊपर यह शर्त लगा दी कि हम उनकी पुस्तक कागज-के कवरमें प्रकाशित करें और उसका मूल्य ३ शिलिंग रखें। हम राजी हो गये। पुस्तक-विक्रेताओंने उस पुस्तकका उत्साहपूर्ण स्वागत नहीं किया, यद्यपि पुस्तक असाधारण रूपसे सस्ती थी। कई बड़े-बड़े पुस्तक-विक्रेताओंने कहा कि यदि हम उन्हें जिल्द बँधी हुई प्रतियाँ ५ शिलिंग

हाथसे फोल्डिंग करनेके लिए १६ पृष्ठोंका क्रम

साधारण फार्म

बगलमें दिये बाहरके फार्म-के अनुसार इसकी फोल्डिंग है।

हाथसे फोल्डिंग करनेके लिए ३२ पृष्ठोंका क्रम

बाहरका फार्म

इसमें वे दोनों पृष्ठ शामिल होते हैं जो फार्मकी फोल्डिंग हो जानेपर फार्मके "बाहर" दिखाई देते हैं, अर्थात् फार्म-का पहला और आखिरी पृष्ठ।

अन्दरका फार्म

इसमें वे दोनों पृष्ठ शामिल होते हैं जो फार्मकी फोल्डिंग हो जानेपर फार्मके दूसरे और तीसरे पृष्ठ होते हैं।

छठा अध्याय

पुस्तककी बिक्री

किसी पुस्तकको छापकर तैयार करना एक बात है और उसे बेचना बिलकुल ही अलग बात है। लेकिन कुछ लेखकोंकी रायमें ये दोनों एक ही बात हैं। मुझे कई बार लेखकोंको इस बातकी सूचना देनेका अवसर मिला है कि उनकी पुस्तक अमुक दिन छपकर तैयार होगी और मुझे इस बातपर बहुत आश्चर्य होता है कि इनमेंसे कई लेखकोंने मुझे यह उत्तर दिया है, "तो आप उस दिन पुस्तकको प्रकाशित कर देंगे।" जो लेखक इस बातपर विशेष रूपसे जोर देते हैं कि प्रकाशक उनकी पुस्तककी बिक्री बढ़ानेके लिए अधिकतम प्रयास करे, वे ही इस बातपर नाक-भौं भी सिकोड़ते हैं कि इस काममें इतना समय क्यों लगता है। और जब उनसे यह कहा जाता है कि जबतक पुस्तक छपकर तैयार न हो जाय तबतक उसे प्रकाशित करनेका काम मुख्यरूपसे आरम्भ नहीं किया जा सकता, तो उन्हें बड़ी झुंझलाहट होती है। क्लीमन नामक जर्मन लेखकने अपनी रोचक रचना 'डी वरडुंग फुर्स बुख' के प्रारम्भमें फेलिक्स डानकी एक छोटी-सी कविता दी है जिसका भावार्थ मैं निम्न-लिखित शब्दोंमें देनेका दुस्साहस करूंगा—

पुस्तकें लिखना बहुत आसान है, इसमें केवल कलम और रोशनाई तथा सदा धैर्यवान् कागजकी आवश्यकता होती है। पुस्तकें छापना इसकी अपेक्षा जरा ज्यादा कठिन काम है, क्योंकि अनन्य प्रतिभाशाली लेखकोंको अपठनीय हस्तलिपिमें लिखनेमें कुछ विशेष आनन्द आता है। पुस्तकें पढ़ना इससे भी कठिन काम है क्योंकि पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते [illegible] आनेकी प्रवृत्ति [illegible] है। परन्तु नश्वर मानवके लिए जो काम सबसे कठिन है वह है पुस्तकको बेचना।

यदि जनता [illegible] पुस्तकें खरीदनेके बजाय उनको माँगकर पढ़ने-की प्रवृत्तिके खिलाफ था, परन्तु यह उद्धरण इस [illegible] भी [illegible] [illegible]

कि प्रकाशकके व्यापारमें पुस्तककी विक्रीका काम कितना कठिन और महत्त्वपूर्ण है।

विज्ञापनके विभिन्न रूपोंपर एक अलग अध्यायमें चर्चा की गयी है। इस अध्यायमें हम केवल इस विषयपर विचार करेंगे कि प्रकाशक तथा उसके विभिन्न ग्राहकों, पुस्तक-विक्रेताओं तथा सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियों —अपने देशकी भी और विदेशोंकी भी—के बीच क्या सम्बन्ध होने चाहिये। पिछले कुछ समयसे प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओंके बीच अधिक वैयक्तिक और निकटतर सम्बन्धके महत्त्वपर जोर दिया जाने लगा है, जो उचित भी है; यह उस समस्याका एक ऐसा पहलू है जिसपर जितना भी जोर दिया जाय, कम है। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि अपने कामके दौरानमें मुझे कभी-न-कभी इंग्लैण्ड और आयरलैण्डके अधिकांश बड़े-बड़े पुस्तक-विक्रेताओंसे और ब्रिटिश साम्राज्यके सभी देशों (न्यू फाउण्डलैण्ड और पश्चिमी कनाडाको छोड़कर)के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण पुस्तक-विक्रेताओंसे मिलनेका अवसर प्राप्त हुआ है; इसके अतिरिक्त मैं जापान ऐसे सुदूर देशों और अपने देशके निकट आइसलैण्डसे लेकर बूदापेस्ट और बार्सीलोनातकके पुस्तक-विक्रेताओंसे भी मिला हूँ। विदेशोंमें पुस्तक विक्रयकी परिस्थितियों-का अध्ययन करनेमें मेरा दो वर्षसे अधिकका समय तो अवश्य लग गया पर यह कहना बिलकुल सत्य है कि पुस्तक-विक्रेताओंके साथ समय व्यतीत करनेसे बढ़कर प्रकाशकके समयका कोई सदुपयोग हो ही नहीं सकता। दुर्भाग्यवश, जब कोई प्रकाशक अपने व्यापारका भार अपने कन्धोंपर सँभाल लेता है तब उसे इस प्रकारके वैयक्तिक सम्बन्ध कायम रखनेके अवसर अपेक्षाकृत बहुत कम मिलते हैं और व्यवहारमें यह सम्पर्क केवल सफरी एजेण्टों या पत्र-व्यवहारके द्वारा कायम रखना पड़ता है।

दैनिक आर्डर—प्रकाशक जिन विभिन्न सफरी एजेण्टोंको कामपर रखता है, उनके कामपर विचार करनेसे पहले इस विषयमें कुछ बता

देना अच्छा होगा कि प्रतिदिन आनेवाले आर्डरोंकी पुस्तकें किस प्रकार भेजी जाती हैं। इन आर्डरोंमेंसे अधिकांश पोस्ट-कार्डोंमें या खुले लिफाफोंमें पुस्तक-विक्रेताओंके पाससे आते हैं और अधिकतर प्रकाशन-संस्थाओंमें सबसे पहले इसी डाकको निबटाया जाता है। बहुत-से उदाहरणोंमें तो दूसरे पत्रोंको खोलनेसे भी पहले इनको छाँट कर अलग कर लिया जाता है, क्योंकि पुस्तकोंका बिल बनाकर, उन्हें ढूँढकर और उनका पैकेट बनाकर ठीक समयपर उन्हें उन विभिन्न एजेण्टोंके यहाँ पहुँचानेके लिए, जिनके यहाँ पुस्तकें पहुँचा देनेका आदेश पुस्तक-विक्रेता प्रकाशकको भेजते हैं, यह आवश्यक होता है कि एक भी क्षण नष्ट न किया जाय। अत्यन्त सुव्यवस्थित संस्थाएँ इस बातपर गर्व करती हैं कि वे इस कामको कितनी जल्दी और कितने ठीक ढंगसे पूरा करती हैं।

बड़े आर्डरोंकी समस्या बिलकुल भिन्न होती है, क्योंकि अधिकतर प्रकाशक अपनी पुस्तकोंका अधिकांश स्टाक या तो जिल्दसाजके यहाँ रखते हैं या किसी ऐसे गोदाममें जो शहरके ऐसे भागमें होता है जहाँ किराया कम लगता है। इन आर्डरोंकी पुस्तकें भेजनेके कई तरीके हैं। जिल्दसाजको टेलीफोनपर आदेश देकर या पर्चा भेजकर आवश्यक संख्यामें प्रतियाँ मँगायी जा सकती हैं, और उन्हें फिर पैकेटमें बाँधकर उसी प्रकार रवाना कर दिया जाता है, जैसे छोटे आर्डरोंकी पुस्तकें भेजी जाती हैं, अन्तर केवल यह होता है कि उनकी पैकिंग, या यों कहिये कि उनके बण्डल बाँधनेका काम, ज्यादा अच्छी तरह करना पड़ता है, कभी-कभी तो उन्हें बक्समें बन्द करके भेजना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा यदि ग्राहक लन्दनमें ही हो या लन्दनमें उसका कोई एजेण्ट हो, जो उसके मालकी पैकिंग और उसे जहाजपर लदवाने आदिकी देखभाल करता हो, तो प्रकाशक जिल्दसाजको पुस्तककी प्रतियाँ सीधे ग्राहक या उस एजेण्टके पास भेज देनेका आदेश दे देता है।

देशके ही किसी भागसे आनेवाले आर्डरोंकी अपेक्षा निर्यातके आर्डरोंमें बहुत कठिनाईका सामना करना पड़ता है, क्योंकि इन आर्डरों-

मे प्रायः सभीके बिलोकी तीन या तीनसे अधिक प्रतियाँ तैयार करनी पडती है, इसके अतिरिक्त कुछ आर्डरोके सम्बन्धमे कस्टम-विभागके लिए विस्तृत सूचनाएँ तैयार करनी पडती है। लन्दनके अधिकतर फुटकर पुस्तक-विक्रेता अपनी जरूरतकी पुस्तके प्रकाशकोके फुटकर बिक्री-विभागोसे मँगाकर एक दिनकी बचत कर लेते है। प्रकाशकके फुटकर बिक्री-विभाग-की खिड़कीपर जाकर पुस्तक-विक्रेताका कर्मचारी उन तमाम पुस्तकोका नाम बताता है जिनकी उसे आवश्यकता है पर जिनके प्रकाशकोका नाम उसे मालूम नही हो सका है। किसी बडे प्रकाशकके फुटकर बिक्री-विभागका काम सँभालनेके लिए बडे कुशल आदमीकी जरूरत होती है। प्रतिदिन सैकडो पुस्तकोंकी माँग आती है और प्रकाशकके कर्मचारीकी यह जिम्मेदारी होती है कि वह उस सूचीमेंसे अपनी संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकोको पहचान सके। इसके लिए यह तो मान ही लेना पडता है कि उस विशेष प्रकाशकके सूचीपत्रमे जितनी पुस्तकोके नाम है उन सबके बारेमें उस कर्मचारीको सही-सही ज्ञान है। लेकिन इतना ही काफी नही होता, क्योकि कुछ पुस्तकोके नामोको पहचाननेके लिए काफी कल्पनाकी जरूरत होती है। यदि पुस्तकोके नाम ठीक-ठीक दिये जायँ तब तो बडी आसानी हो जाय, लेकिन बहुधा पुस्तकोके नाम गलत दिये जाते है। पहली बात तो यह कि कभी-कभी ग्राहक स्वयं भी पुस्तकका नाम पुस्तक विक्रेताको ठीक नहीं देता। उदाहरणके लिए, वह पुस्तकके नामके बजाय पुस्तकके किसी अध्यायका नाम बता देता है; सम्भव है कि उसे लेखकतकका नाम न मालूम हो। सम्भव है कि पुस्तक-विक्रेताका कर्म-चारी आर्डर लिखते समय कोई गलती कर जाय, और जो कर्मचारी बाजारमे पुस्तक तलाश करने जाता है वह लिखाई ठीक-ठीक न पढ सकनेके कारण उसे अपनी नोट-बुकमे उतारते समय कोई गलती कर जाय। कभी-कभी नाम ठीक लिखा होनेपर भी उसके उच्चारणमे बडी कठिनाई पडती है; परन्तु अधिकांश उदाहरणोंमे पुस्तकके नामका सही-सही पता लग जाता है, पुस्तक ढूँढकर दे दी जाती है और सब ठीक-ठाक

हो जाता है। कभी-कभी असफलता भी होती है, परन्तु साधारणतया यह काम आश्चर्यजनक हदतक सफलतापूर्वक किया जाता है। यह जरूरी नहीं है कि यदि पुस्तकका आर्डर दिया जाय तो प्रकाशक उसे भेज ही दे। सम्भव है कि पुस्तककी तमाम प्रतियाँ बिक चुकी हों, सम्भव है कि वह प्रकाशकके स्टाकमें न बची हो, या सम्भव है कि वह उस समयतक प्रकाशित ही न हुई हो। इन तमाम सूरतोंके लिए एक निश्चित और ठीक उत्तर है जो बहुधा शब्दोंके प्रथम अक्षरोंके रूपमें दिया जाता है [जैसे O/P = आउट ऑफ प्रिंट (तमाम प्रतियाँ बिक चुकी हैं); RP= रिप्रिंटिंग (दूसरी आवृत्ति छप रही है), OS=आउट ऑफ स्टाक (स्टाकमें नहीं है); Bdg = बाइंडिंग (जिल्द बँध रही है); R.S. = रेडी शार्टली (शीघ्र ही तैयार होगी), N.O. = नाट आउट (अभी प्रकाशित नहीं हुई), N.K. = नाट नोन (पता नहीं चलता) आदि। यदि किसी दूसरे शहरका कोई पुस्तक-विक्रेता तीन पुस्तकोंका आर्डर दे, जिनमेंसे एक प्राप्य हो, दूसरी बिक चुकी हो, और तीसरी शीघ्र ही तैयार होने वाली हो, तो उसे प्राप्य पुस्तकका बिल भेज दिया जायगा और इसी बिलके नीचे लिख दिया जायगा कि अमुक पुस्तक बिक चुकी है (O/P) और दूसरी शीघ्र ही तैयार हो जायगी (R. S.) और इस प्रकार उस पुस्तक-विक्रेताको तमाम आवश्यक सूचना मिल जायगी ताकि वह अपने ग्राहकको स्थिति समझा सके]।

उन पुस्तकोंके आर्डर, जो कुछ ही दिनोंके लिए स्टाकमें नहीं होतीं, या जिनकी जिल्द बँध रही होती है, या दूसरी आवृत्ति छप रही होती है, बड़ी सावधानीसे प्रकाशकके यहाँ "स्थगित आर्डरोंके रजिस्टर"में दर्ज कर लिये जाते हैं। यदि आर्डर आने और पुस्तक भेजना सम्भव होनेके बीच अधिक समय नहीं गुजरता तो प्रकाशक बगैर संकोच किये पुस्तक भेज देता है और बिलपर आर्डरकी तारीख या नम्बर डाल देता है। इसके विपरीत, यदि आर्डर आये हुए काफी समय बीत चुका है तो प्रकाशक आम तौरपर पुस्तक-विक्रेताके पास

एक पोस्टकार्ड भेजकर उसे यह सूचना दे देता है कि पुस्तक अब प्राप्य है, और उससे पूछता है कि क्या पुस्तक उसे भेज दी जाय अथवा यह लिख देता है कि यदि उसने (पुस्तक-विक्रेताने) पुस्तक न भेजनेकी सूचना न दी तो पुस्तक उसके आर्डरके अनुसार भेज दी जायगी। यदि प्रकाशकका कारोबार कुशल हाथोंमें है तो इन स्थगित आर्डरोंकी सूचीपर यदि संस्थाका कोई मुख्य व्यवस्थापक नहीं तो कमसे कम उसका ट्रेड मैनेजर बहुत कडी निगरानी रखेगा, क्योंकि यही सबसे प्रभावकर तरीका है जिससे यह निश्चित हो जाता है कि आर्डर अकारण ही बहुत दिनों तक पड़े न रहे। समय और मेहनत बचानेके लिए कई प्रकाशकोंके यहाँ छपे हुए पोस्टकार्ड और पत्र होते है जिनमें वह उत्तर लिखा होता है जो कि बार-बार देना पडता है, इस प्रकार असंख्य पत्र और कार्ड लिखनेकी मेहनत बच जाती है। कुछ प्रकाशन-संस्थाओं मे इस तरीकेका उतना फायदा नहीं उठाया जाता जितना कि उठाया जाना चाहिये, जिसका नतीजा यह होता है कि उनमें बार-बार एक ही आशयके पत्र लिखने-मे कर्मचारियोंका समय और मेहनत व्यर्थ खर्च होती रहती है। यों तो सिद्धान्तमे प्रकाशक जनसाधारणके हाथ कोई पुस्तक नही बेचते, परन्तु यदि पुस्तकपर छपे हुए मूल्यके अतिरिक्त डाकखर्चकी रकम मिल जाय तो शायद कोई भी प्रकाशक पुस्तक भेजनेसे इन्कार नहीं करेगा, और इन्कार करनेका कोई कारण भी नहीं है, विशेषतः इसलिए कि इस प्रकारके आर्डर बहुधा ऐसे सुदूर स्थानोंसे आते है जहाँ कोई स्थानीय पुस्तक-विक्रेता नहीं होता। परन्तु अधिकांश प्रकाशक, मेरे ख्यालमे, अपने ग्राहकके आर्डरके उत्तरमें उसे उसके निकटतम स्थानीय पुस्तक-विक्रेताका पता भेज देते हैं, परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि मैंने अपने अनुभवमे यह बात देखी है कि ग्राहक प्रकाशककी इस कार्यविधिको पसन्द नहीं करते। निजी तौरपर मैं पूरी तरह इसके पक्षमें हूँ कि यदि कोई सचमुच अच्छा पुस्तक-विक्रेता हो तो उसे प्रोत्साहन देना चाहिये—और इंग्लैण्डमें ऐसे पुस्तक-विक्रेताओं की

संख्या बहुत अधिक नहीं है। लेकिन एक बात मेरी समझमें नहीं आती कि पुस्तक-विक्रेता अपने लिए इस बातका तो अधिकार रखना उचित समझते हैं कि जब उन्हें सुविधा हो तो वे प्रकाशक भी बन जायें परन्तु जब प्रकाशकके पास बिना प्रयासके ही किसी पुस्तकके आर्डर आते हैं तो पुस्तक-विक्रेताओंको इसमें आपत्ति क्यों होती है कि प्रकाशक पुस्तक-विक्रेता बन जाय। कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनके वितरणमें, उन पुस्तकोंके विशेष लक्षणके कारण, पुस्तक-विक्रेता बहुत अधिक सहायक नहीं हो सकते। कुछ दूसरी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिन्हें बेचने-से पुस्तक-विक्रेता, अपने राजनीतिक मतभेदके कारण, स्वयं ही इन्कार कर देते हैं। मुझे एक ऐसी पुस्तकका उदाहरण मालूम है कि जब प्रकाशकके फुटकर बिक्री-विभागसे उसकी एक हजार प्रतियाँ पूरे प्रकाशित मूल्यपर बिक गयीं तब जाकर आस-पासके पुस्तक-विक्रेताओं-को यह विश्वास हुआ कि उस पुस्तककी वास्तवमें माँग है। मैं उन एक हजार ग्राहकोंमेंसे एकका विवरण कभी नहीं भूल सकता, जो बिक्री-विभाग बन्द होते समय थका हुआ आया और कहने लगा कि मैं तीसरे पहरसे इस पुस्तकको प्राप्त करनेके असफल प्रयासमें दूकान-दूकानका चक्कर लगा रहा था। इतना धैर्य सब ग्राहकोंमें तो नहीं होता, इसलिए यदि जनता किसी पुस्तककी माँग कर रही हो और पुस्तक-विक्रेता उसे अपनी दूकानमें रखनेसे इन्कार कर रहे हों तो कोई कारण नहीं है कि प्रकाशक स्वयं आम ग्राहकोंके हाथ उक्त पुस्तक-को (अपने यहाँसे) बेचनेसे इन्कार करे। लेकिन सौभाग्यवश पुस्तकों-की फुटकर बिक्रीके सम्बन्धमें काफी परिवर्तन हो रहा है और ऐसी संस्थाओंकी संख्या कम होती जा रही है जो किसी विशेष पुस्तकके विषयकी विचारधारासे मतभेद रखनेके कारण यह समझ बैठें कि दूसरोंको भी उस विषयसे कोई दिलचस्पी नहीं होगी (या नहीं होनी चाहिये!)।

अभीतक हम उन आर्डरोंपर विचार कर रहे थे जो प्रकाशकों

पास सीधे पहुँचते रहते हैं, जिन्हे प्राप्त करनेमे किसी घूम-घूमकर आर्डर प्राप्त करनेवाले एजेण्टका हाथ नही होता। ये आर्डर अधिकांश मात्रामे ऐसी पुस्तकोंके लिए होते है जो प्रकाशित हो चुकी होती है, क्योंकि प्रायः सभी प्रकाशकोंकी नीति यह होती है कि वे पुस्तकके प्रकाशित होनेसे पहले ही उसके आर्डर प्राप्त करवाना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार अप्रकाशित पुस्तकोंके प्रायः सभी आर्डर, जिन्हे "सब्सक्रिप्शन आर्डर" भी कहते हैं, प्रकाशकके पास इन्ही घूम-घूमकर आर्डर प्राप्त करनेवाले एजेण्टोंके जरिये पहुँचते है। ये एजेण्ट जिन क्षेत्रोंसे आर्डर प्राप्त करते है उन्हे सुविधापूर्वक तीन श्रेणियोंमे विभाजित किया जा सकता है, अर्थात्, शहर, देहात और विदेश।

शहरमें घूम-घूमकर आर्डर लानेवाले एजेण्टको यह सुविधा रहती है कि उसके प्रायः सभी ग्राहक, जिनमे सबसे बड़े ग्राहक भी शामिल होते हैं, एक बहुत ही सीमित क्षेत्रमे बिखरे होते हैं। इस प्रकार वह अपने प्रकाशकके साथ प्रतिदिन सम्पर्कमे रह सकता है और उसकी संस्थासे प्रकाशित होनेवाली हर नयी पुस्तककी प्रति ले जाकर अपने हर ग्राहकको दिखा सकता है। नयी पुस्तके इस प्रकार व्यापारियोंको ले जाकर दिखानेकी क्रियाको पुस्तककी "सब्सक्राइबिंग" कहते है। लन्दनके तमाम थोक और फुटकर पुस्तक-विक्रेताओं और अधिकांश निर्यात-संस्थाओंके यहाँका चक्कर लगानेमें एक सप्ताहसे लेकर पन्द्रह दिन तकका समय लगता है, यह इसपर निर्भर होता है कि एजेण्ट काम कितनी अच्छी तरह करता है और वह कितने ग्राहकोंके पास जाता है। बड़ी-बड़ी संस्थाओंमेंसे कई ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्धमे यह जरूरी होता है कि जिस पुस्तकका आर्डर लेना हो उसकी एक प्रति उनके कार्यालयमें निरीक्षणके लिए छोड़ दी जाय। इसलिए एजेण्टको अपना काम अच्छी तरह पूरा करनेका अवसर देनेके लिए यह आवश्यक होता है कि उसे हर पुस्तककी कई प्रतियाँ दी जायँ। उसके कुछ ग्राहक तो ऐसे होगे जो किसी भी समय नमूनेकी प्रति देखकर फौरन आर्डर दे

देंगे। अधिकतर ग्राहक (पुस्तक-विक्रेता) एजेण्टोंसे मिलनेके लिए एक समय निश्चित कर देते हैं और यदि कोई एजेण्ट किसी दूसरे समयपर जाकर उनके काममें विघ्न डालता है तो उसकी खैरियत नहीं रहती।

डब्ल्यू० एच० स्मिथ एण्ड सन जैसी बड़ी संस्थामें, जहाँ हर प्रकारकी पुस्तकका क्रय-विक्रय होता है, पुस्तकोंका आर्डर देनेवाले कर्मचारीमें जबतक असाधारण सूझ-बूझ न हो तबतक वह अपना काम अच्छी तरह नहीं कर सकता। आलोचना करना तो प्रकाशकके लिए बहुत ही आसान होता है, वह पाण्डुलिपिके बारेमें अपने रीडरकी रिपोर्ट देख चुका होता है, उसे अपनी पुस्तकोंके बारेमें हर बात जाननेके कई मौके मिलते हैं, और यदि वह अपनी पुस्तकोंके बारेमें जानकारी प्राप्त नहीं करता तो यह उसीका कसूर है। परन्तु पुस्तक-विक्रेताके यहाँ जो व्यक्ति पुस्तकोंका आर्डर देता है उसे प्रति दिन दर्जनों ऐसी पुस्तकोंसे निबटना पड़ता है जिन्हें उसने पहले कभी नहीं देखा, और हर पुस्तकपर वह केवल सरसरी तौरपर ही ध्यान दे सकता है। मुझे विश्वास है कि यदि प्रकाशक स्वयं यह निश्चित कर दे कि पुस्तक-विक्रेता किसी विशेष पुस्तककी कितनी प्रतियाँ ले और यदि इस अनुमानमें कोई गलती हो तो उसकी जिम्मेवारी भी अपने ऊपर ले ले तो बड़ी सुविधा हो जाय। और प्रकाशक और ग्राहक (पुस्तक-विक्रेता) या प्रकाशकके प्रतिनिधि और पुस्तक-विक्रेताके बीच विश्वास कायम हो जानेपर व्यापारमें हानि भी नहीं है। यदि इतने अधिक प्रकाशक, और प्रकाशक ही क्यों लेखक भी, इस भ्रममें न रहें कि पुस्तक-विक्रेताके मत्थे पुस्तककी अधिकसे अधिक प्रतियाँ मढ़ देना, चाहे उनके यहाँसे उनके बिकनेकी आशा हो या न हो, बुद्धिमानीकी बात है, तो प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओंके बीच ऊपर बताया गया सम्बन्ध ज्यादा विस्तृत रूपसे स्थापित हो सकता है। मैं यह बात अधिकतम जोर देकर कहना चाहता हूँ कि प्रकाशकके लिए यह अच्छी व्यापारिक नीति नहीं है और यदि यह पुस्तक-विक्रेताकी [illegible] रचना नहीं है तो लेखकके लिए भी [illegible] [illegible] यह और

भी अहितकर नीति होगी। "दूधका जला छाछ भी फूक-फूककर पीता है," यह कहावत पुस्तक-विक्रेताओंपर भी उतनी ही चरितार्थ होती है जितनी दूसरे लोगोंपर, और किसी विशेप लेखककी रचनाके सम्बन्धमें वह जितनी बुरी तरह जलते हैं, उतना ही फूक-फूककर वह उसकी दूसरी रचनाका छाछ पीते हैं।

कुछ बड़ी-बड़ी संस्थाएँ अपने आपको सुरक्षित रखनेके लिए, ऐसी पुस्तकें खरीदते समय, जिनके बिक जानेके बारेमें उनको कुछ सन्देह होता है, अपने आर्डर (या आर्डरके एक अंश) के सम्बन्धमें "बदलनेका अधिकार" रखते है। यदि प्रकाशक इस शर्तको स्वीकार कर लेता है तो इसका अर्थ यह होता है कि, यद्यपि पुस्तकें "न बिकी तो वापस" की शर्तपर नहीं ली जाती क्योंकि वे खरीद ली जाती है और उनका पैसा अदा कर दिया जाता है, आगे चलकर किसी समय प्रकाशकसे यह माँग की जा सकती है कि वह पुस्तक-विक्रेताके पास बची हुई प्रतियोंके बदले कोई दूसरी पुस्तक दे दे। इस प्रकार यदि उस विक्रेताने किसी उपन्यासकी पचास प्रतियाँ खरीदी है और आर्डरपर "आधी प्रतियाँ बदलनेका अधिकार सुरक्षित" लिख दिया है, तो प्रकाशकको पचास प्रतियोंका मूल्य अदा कर दिया जायगा परन्तु बादमें वह आवश्यकता पड़नेपर पचीस प्रतियाँ वापस लेनेपर बाध्य होगा और उनके बदलेमें उसे कोई ऐसी पुस्तक देनी होगी जो आसानीसे बिक सके।

सबसे अच्छा एजेण्ट (प्रकाशकका प्रतिनिधि) वही होता है जो अपने ग्राहकको उन पुस्तकोंमें दिलचस्पी पैदा करानेके बाद जो उसे दिखायी जा रही हैं, उसे अधिकतम उतनी प्रतियाँ खरीदनेपर राजी कर लेता है जितनी कि वह बिना किसी खतरेके बेच सकता है, उससे अधिक नहीं। शहरों और कस्बोंमें चक्कर लगानेवाले अधिकांश एजेण्ट उन संस्थाओंके वेतनभोगी कर्मचारी होते है जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, लेकिन उनको वेतनके अलावा उन तमाम आर्डरों पर कमीशन भी दिया जाता है जो वे लाते हैं और जिन्हें उनकी संस्था स्वीकार करके पूरा करती है।

अधिकांश प्रकाशक प्रकाशनका एक दिन निश्चित कर लेते हैं, समझ लीजिये हर बृहस्पतिवारको या एक बृहस्पतिवार छोड़कर, जिस दशामें एजेण्टको अपना काम इस प्रकार संघटित करना पड़ता है कि उसके तमाम आर्डर हर सप्ताह या हर पखवारेके उस विशेष दिनके पहले ही प्रकाशकके पास पहुँच जायँ, क्योंकि यह आवश्यक है कि तमाम आर्डरोंकी पुस्तकें एक साथ रवाना की जायँ। इस बातको सुनिश्चित बनानेके लिए कि पुस्तकके प्रकाशनकी जो तारीख निश्चित की गयी है उस दिन तमाम विक्रेताओंके पास उस पुस्तककी प्रतियाँ हों, दूसरे शहरोंके आर्डरोंकी किताबें लन्दनके आर्डरोंकी पुस्तकोंकी अपेक्षा कमसे कम चौबीस घण्टे पहले भेज देनी पड़ती हैं। यदि सब जगह पुस्तक एक साथ प्राप्य होनेके बारेमें सावधानी न बरती गयी तो इसका अर्थ यह होगा कि एक ग्राहकके मुकाबलेमें दूसरे ग्राहकके साथ पक्षपात किया जा रहा है, जिससे हर हालतमें बचना चाहिये।'

प्रकाशन-सम्बन्धी सूचना—कुछ संस्थाओंमें, मेरी संस्था भी जिनमेंसे एक है, कार्यक्रमका यह सिद्धान्त और भी विकसित रूपमें लागू किया जाता है, और पुस्तकके प्रकाशित होनेसे लगभग तीन सप्ताह पहले प्रत्येक विभागको एक छपा हुआ फार्म भेज दिया जाता है जिस-पर "प्रकाशन सम्बन्धी सूचना" लिखा होता है; इसमें यह सब तारीखें दी जाती हैं कि पुस्तककी एडवान्स प्रतियाँ कबतक तैयार हो जायँगी, पुस्तककी अधिकांश प्रतियाँ कबतक तैयार होकर सिल जायँगी, समालोचनार्थ प्रतियाँ कब भेजी जायँगी, सिम्पकिन, मार्शल लि० (लन्दनके प्रमुख थोक पुस्तक विक्रेता) के यहाँ और दूसरे स्थानों-पर प्रतियाँ कबतक पहुँचा दी जायँगी। यदि यह योजना स्वीकार कर ली जाती है, तो उत्पादन (प्रोडक्शन) तथा अन्य विभागोंको इस बातका बड़ा ध्यान रखना पड़ता है कि उनकी तरफसे कोई ऐसी देर न

१. पत्रिकाओंके प्रकाशक पुस्तक-प्रकाशकोंकी अपेक्षा इस सम्बन्धमें और भी सतर्क रहते हैं।

होने पाये कि इन तारीखोंमें हेर-फेर करना पड़े, क्योंकि यदि विभिन्न पुस्तकोंमेंसे किसी एकके भी सम्बन्धमें थोड़ी-सी भी देर हुई तो सारा क्रम टूट जायगा। ऊपर बताये गये उपयोगोंके अतिरिक्त, "प्रकाशन-सम्बन्धी सूचना"के और भी बहुतसे उपयोग हैं। वास्तवमें, कोई भी विभाग ऐसा नहीं होता जिसका इस सूचनासे सम्बन्ध न होता हो। उदाहरणके लिए खजांची, प्रकाशन-सम्बन्धी सूचनाकी प्रति उसके पास पहुँचनेपर, खुद-बखुद यह देखता है कि पुस्तकके प्रकाशित होनेके समय उस पुस्तकके सम्बन्धमें उसके जिम्मे लेखकके कुछ पैसे तो नहीं बाकी होंगे। विज्ञापन मैनेजर फौरन अपनी संस्थाके प्रधान व्यवस्थापकोंसे इस विषयमें बहस करता है कि सूचनामें बतायी गयी विभिन्न पुस्तकोंमेंसे किस-किसके विज्ञापनपर कितना-कितना खर्च किया जायगा, और 'व्यापार विभाग' "स्थगित आर्डरोंके रजिस्टर" में जमा हुए आर्डरोंके बिल (इनवायस) तैयार करना शुरू कर देता है। फुटकर बिक्री-विभागको भी यह सूचना मिल जाती है कि किन पुस्तकोंके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि वे शीघ्र ही तैयार हो जायँगी, और इसके अतिरिक्त पुस्तकके प्रकाशित होनेकी ठीक-ठीक तारीख पन्द्रह दिन पहले ही बतायी जा सकती है। इस प्रकार पूरी संस्थाको इस सूचनासे फायदा होता है, प्रधान व्यवस्थापकोंको भी, जो लेखकको प्रकाशनकी निश्चित तारीखकी सूचना देते हैं और यह तै करते हैं कि हर पुस्तकके विषयमें क्या विशेष कारवाई करनी होगी। कुछ संस्थाओंमें प्रकाशनका पूरा काम "सब धान ढाई पसेरी" के सिद्धान्तपर चलता है। वे हर पुस्तककी ओर उतना ही ध्यान देते हैं जितना शायद वे चटनी या अचारके व्यापारको देते। परन्तु बुद्धिमान प्रकाशक यह बात जानते हैं कि हर पुस्तककी अपनी अलग एक विशेषता होती है, जिस प्रकार एक कुशल अध्यापक अपने स्कूलके हर बच्चेकी अलग-अलग विशेषताओंसे परिचित होता है। यदि हर पुस्तक-की ओर इसप्रकार अलग-अलग ध्यान दिया जाय तो उन्हें अत्यन्त श्रेष्ठ बनाया जा सकता है। साधारणतया यह काम प्रकाशकके ही

करनेका होता है और इसमें बहुधा बहुत काफी समय लगता है, काफी सोच-विचारकी जरूरत होती है और न मालूम कितना पत्र-व्यवहार करना पड़ता है। व्यक्तिगत रूपसे विभिन्न लोगोंको अलग-अलग पत्र लिखनेसे जो सफलता प्राप्त होती है वह आश्चर्यजनक है। स्वाभाविक ही है कि कल्पना-बुद्धिका इसमें बहुत बड़ा महत्त्व होता है। प्रकाशकको केवल यही नहीं सोचना चाहिये कि उस पुस्तकमें किन-किन लोगोंको दिलचस्पी होगी, बल्कि यह भी कि वह किन-किन लोगोंमें उस पुस्तकके प्रति दिलचस्पी पैदा कर सकता है। यदि वह स्वयं कई पुस्तक-विक्रेताओंसे मिल चुका है तो उसे यह अवश्य याद रहेगा कि कौन पुस्तक-विक्रेता किस विशेष विषयमें या किस विशेष लेखकमें दिलचस्पी रखता है और प्रकाशक इस जानकारीका फायदा उठा सकता है। यह भी सम्भव है कि वह किसी पुस्तक-विक्रेताको पुस्तकका प्रचार करनेमें सहायता देनेपर राजी कर सके। कितना करना सम्भव होता है, यह इसपर निर्भर है कि प्रकाशक इस दिशामें कितना समय दे सकता है। कुछ लेखक इतने ना-समझ होते हैं कि वे प्रकाशकका इतना समय बर्बाद करते हैं कि उसके पास इस कामके लिए समय ही नहीं बचता कि वह उनकी पुस्तकोंकी बिक्री बढ़ानेकी ओर ध्यान दे सके।

मैं यहाँ यह बता दूँ कि यदि पुस्तकोंकी किसी दूकानके किसी छोटे-मोटे कर्मचारीसे लेखकको यह मालूम हो कि उसे उस पुस्तकके बारेमें "कोई ज्ञान नहीं है", तो लेखकको बिना सोचे-समझे सारा दोष बेचारे प्रकाशकके मत्थे न थोप देना चाहिये। यदि वह दूकान लन्दनमें ही है तो लेखकोंको यह विश्वास रखना चाहिये कि उनकी पुस्तककी एक प्रति प्रकाशनसे पहले उस विक्रेताको अवश्य दिखायी गयी होगी, और दूकान चाहे लन्दनमें हो या लन्दनसे बाहर, यह बिल्कुल सम्भव है कि यद्यपि उस कर्मचारीको उस पुस्तकके बारेमें कोई ज्ञान न हो परन्तु दूकानका मालिक उसके बारेमें सब कुछ जानता हो।

व्यापारकी शर्तें—[illegible] ऊपर [illegible] एजेन्टोंको दिया

व्यापारकी शर्तें बताये तो काम नही चल सकता क्योंकि यही सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल होता है। जब कभी भी प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेताकी मुलाकात होगी, चाहे वे स्वयं मिले या अपने प्रतिनिधियोके जरिये, तो व्यापारकी शर्तोंके बारेमे बहस होना अनिवार्य है। यह एक चलन-सा हो गया है, और प्रकाशको तथा लेखको दोनोकी दृष्टिसे यह अच्छी ही बात है कि पुस्तकके प्रकाशित होनेसे पहले जो आर्डर आयें उनपर पुस्तक-विक्रेताको ज्यादा कमीशन दिया जाय। कमीशनकी इस अधिक दरको "सब्सक्रिप्शनकी शर्तें" कहा जाता है। जो पुस्तक-विक्रेता इस दशामें पुस्तककी प्रतियोका आर्डर देते हैं, वे एक हदतक प्रकाशकके साथ अपनी पूँजी भी फँसाते हैं, क्योकि उन्हें उस समयतक उस पुस्तककी बिक्रीकी सम्भावनाओके बारेमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता; और इसके अलावा इतनी ही महत्त्वपूर्ण यह बात है कि वे इस बातको भी सुनिश्चित बनाते हैं कि उनकी दूकानमें पुस्तक प्रकाशित होनेके साथ ही प्राप्य हो सकेगी (और शायद किसी प्रमुख स्थानपर रखी जायगी जहाँ उसपर सबकी नजर पड सके)। इतनी सुविधा प्रदान करना इस बातके लिए पर्याप्त कारण है कि उन्हे विशेष रियायतके साथ पुस्तक दी जाय, और प्रायः सभी प्रकाशक पुस्तकके प्रकाशनसे पहले दिये गये आर्डरोंके लिए विशेष रूपमे ज्यादा कमीशन देते है। दुर्भाग्यवश, पुस्तक-विक्रेताओंमें एक प्रवृत्ति यह भी पायी जाती है कि प्रकाशनसे पहले दिये गये आर्डरोंके सम्बन्धमे जो विशेष सुविधाएँ और रियायतें दी जाती है, और जिनका दिया जाना उचित भी है, उनका सहारा लेकर वे बादमें भी उन्हीं शर्तोंपर पुस्तकें लेना चाहते है। प्रकाशनके बाद भी उन्हीं शर्तों-पर, जिन शर्तोंपर कि प्रकाशनके पहले पुस्तक दी गयी थी, पुस्तक देनेके पक्षमें जो तर्क पेश किये जाते हैं ये बहुत ही न्यायोचित मालूम होते हैं। जब पुस्तक-विक्रेताको यह अन्दाजा हो जाता है कि किसी पुस्तककी काफी माँग है और बादमें वह उसकी ज्यादा प्रतियाँ खरीदना चाहता है, तो उस बेचारे पुस्तक-विक्रेताको किस अपराधका दण्ड दिया जाता है कि उसे कम

लाभदायी शर्तोंपर पुस्तक दी जाती है? प्रकाशित पुस्तकको बेचते रहनेके लिए पुस्तक-विक्रेताको इतना कम प्रोत्साहन क्यों दिया जाता है, आदि ?- इन तमाम अत्यन्त तर्कसंगत दलीलोंका जवाब केवल यह है— यदि प्रकाशक पुस्तकके प्रकाशनके बाद भी उन्हीं शर्तोंपर पुस्तकें दे जिनपर प्रकाशनसे पहले उसने दी थीं, तो पुस्तक-विक्रेताको स्वाभाविक-रूपसे और निश्चय ही यह लालच होगा कि वह कुछ दिन ठहरकर आर्डर देनेसे पहले यह देख ले कि पुस्तककी "माँग कैसी है" और इस प्रकार ऐसे पुस्तक-विक्रेताओंकी संख्या बहुत थोड़ी होगी जो पुस्तकके प्रकाशनसे पहले उसका आर्डर दें। इसलिए, यदि कोई प्रकाशक पुस्तकके प्रकाशनके बाद भी प्रकाशनसे पहलेवाली शर्तोंपर पुस्तकें देनेकी मूर्खता करने लगे, तो उसे शीघ्र ही इस समस्याका सामना करना पड़ेगा कि वह प्रकाशनसे पहले दिये गये आर्डरोंपर कुछ और विशेष सुविधाएँ प्रदान करे और ऐसा करनेपर वही क्रम दुबारा आरम्भ हो जायगा। इसलिए, इस प्रश्नसे बिलकुल अलग कि यह विशेष कमीशन कितना हो, यह बात तो स्पष्ट है कि पुस्तकके प्रकाशित होनेसे पहले पुस्तक-विक्रेता आर्डर देकर जब प्रकाशनके हानि-लाभका साझीदार बनता है तो उसे इसके लिए कुछ विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये और उसे इस प्रोत्साहनका अधिकार है। इस प्रश्नपर कि यह कमीशन कितना हो, लोगोंमें बहुत मतभेद है। पुस्तकोंके मूल्यसे सम्बन्धित अध्यायमें मैंने एक बातपर ज़ोर दिया था जिसे मैं सबसे ज्यादा महत्त्व देता हूँ, और इसी बातकी ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता, और वह यह है कि जबतक पुस्तकके प्रकाशित मूल्यमें वृद्धि न की जाय तबतक कमीशनमें वृद्धि नहीं की जा सकती। जो पुस्तक-विक्रेता एक ही साँसमें यह भी कहता है कि पुस्तकें बहुत महँगी हैं और साथ ही पुस्तककी बिक्रीमेंसे ज्यादा हिस्सा माँगता है, वह असम्भव कर रहा है। चूँकि मैंने इस बातपर ज़ोर दिया था कि कमीशन और पुस्तकके प्रकाशित मूल्यमें एक सुनिश्चित सम्बन्ध होता है, केवल इसी कारण कई पुस्तक-

विक्रेता इस नतीजेपर पहुँच गये कि मैं उनसे उनकी रोजी छीननेकी बात कर रहा हूँ। सच्चे पुस्तक-विक्रेताओसे मै उनका कोई हक छीनना नही चाहता; लेकिन अफसोस तो इस बातका है कि सच्चे पुस्तक-विक्रेता हैं कितने? परन्तु पुस्तक-विक्रेताओके मित्रकी हैसियतसे और इसके अतिरिक्त एक ऐसे व्यक्तिकी हैसियतसे जो कुछ हदतक अपनी जीविकाके लिए उनपर निर्भर है, मै अपना कर्तव्य समझता हूँ कि किसी चीजमें यदि मुझे खतरा दिखाई दे तो मै उसकी चेतावनी दूँ। कई पुस्तक-विक्रेता यह दावा करते है (यद्यपि उनकी संस्था सरकारी तौरपर यह दावा नहीं करती) कि उन्हे हर परिस्थितिमें कमसे कम ३३⅓ प्रतिशत कमीशन मिलना चाहिये; परन्तु मेरी रायमें यह सम्भव नही है, और यदि इसपर सफलतापूर्वक अमल किया जाय तो इसके फलस्वरूप पुस्तकोंके प्रकाशित मूल्यमें निश्चित रूपसे वृद्धि हो जायगी, जिसका परिमाण होगा कि विक्रीमें कमी होगी और शायद इससे "नेट बुक ऐग्रीमेण्ट"का तरीका बिलकुल ही खत्म हो जाय; इस ऐग्रीमेण्ट (समझौते)के बारेमे, जिसे पुस्तक-विक्रेता अपनी सुरक्षाका सबसे उपयोगी साधन समझते हैं, बादमें उल्लेख किया जायगा। सम्भव है कुछ प्रकारकी किताबें ऐसी होती हों जिनके बारेमें विशेष रियायत करना आवश्यक हो, परन्तु इस सत्यकी ओरसे आँखें मूँद लेनेसे भी कोई फायदा नहीं होगा कि ऐसी पुस्तकोंका अनुपात बहुत ज्यादा है जो कमसे कम ३३⅓ प्रतिशत कमीशनकी दशामें आनेवाले खर्चकी अपेक्षा बहुत कम खर्चपर अच्छी तरह वितरित की जा सकती हैं और सीधे-सीधे पाठकोंके हाथ बेची जा सकती हैं। जैसा कि मैने पुस्तकके मूल्य और कमीशनके अनुपातके प्रश्नपर विचार करते समय बताया था, कमसे कम ३३⅓ प्रतिशत कमीशन देनेका अर्थ होता है कि वितरणका खर्च पुस्तकके मूल्यके आधेके बराबर आयगा। पुस्तक-विक्रेताओंको कम-से कम ३३⅓ प्रतिशत देनेका अर्थ होता है कि प्रकाशकके पास ज्यादा-से ज्यादा ६६⅔% बचेगा। और प्रकाशनसे पहले दिये जानेवाले आर्डरोंके

लिए विशेष कमीशन, थोक व्यापारियों और निर्यात करनेवालोंको अधिक दरसे कमीशन, तथा सफरी एजेण्टोंका कमीशन काटनेके बाद तो प्रकाशकके पास और भी कम बचेगा। फुटकर विक्रेता जबतक अधिकसे अधिक ३३⅓ प्रतिशतकी माँग करता है तबतक तो उसकी माँग बिलकुल न्यायोचित होती है और मेरा विचार है कि प्रायः सभी श्रेष्ठतम पुस्तक-विक्रेता यह बात समझने लगे हैं। आज उनकी आर्थिक दशा भी पहले कभीकी अपेक्षा ज्यादा अच्छी है, अधिकतर तो इस कारण कि पुस्तकोंकी माँग बढ़ गयी है और कुछ इस कारण भी कि स्कूलोंकी पाठ्य-पुस्तकोंको छोड़कर प्रायः सभी पुस्तकें "नेट" मूल्यपर प्रकाशित की जाती हैं। मैंने अपनी "पुस्तकोंका मूल्य" नामक पुस्तिकामें (तीसरे अध्यायमें यह थोड़े परिवर्तित रूपमें छपी है) व्यापारकी शर्तोंके बारेमें जो लिखा था उसका प्रतिरोध करते हुए एक पुस्तक-विक्रेताने, जिसकी रायके लिए मेरे हृदयमें अधिकतम सम्मान है, मुझे पत्र लिखा। इसलिए मैंने उनसे पूछा कि उनकी रायमें इस बातको किस प्रकार लिखना चाहिये था। उन्होंने मुझे निम्नलिखित शब्द लिखकर भेजे—

जब पहले-पहल पुस्तकोंके "नेट" मूल्यका तरीका व्यवहारमें लाया गया, उस समय आम तौरपर १६⅔ प्रतिशत कमीशन दिया जाता था और हिसाब चुकता करते समय ५ प्रतिशत कमीशन और दिया जाता था, इस प्रकार कुल मिलाकर २१ प्रतिशत कमीशन देता था और यदि कोई पुस्तक-विक्रेता सात या तेरह प्रतियाँ बेच लेता था तो उसे सातवीं या तेरहवीं प्रतिपर ४ या ८ प्रतिशत कमीशन मिल जाता था। इस प्रकार थोड़ा बहुत मुनाफा हो जाता था और यह तरीका कमीशनके तरीकेसे बेहतर था, जिससे आम तौरपर कोई मुनाफा नहीं होता था और खर्च भी मुश्किलसे पूरा होता था। आज उपरका खर्च प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं दोनोंके लिए, बहुत बढ़ गया है, और इसलिए पुस्तक-विक्रेताको कमसे कम २५ प्रतिशत कमीशन न मिले तबतक उसे प्राय-

बिल्कुल भी मुनाफा नही होता। जब वह किसी दूसरेके आर्डरकी किताब भेजता है तब भी वह २५ प्रतिशत, या इससे भी ज्यादा, कमीशन चाहता है; और यदि वह पुस्तकोका स्टाक रखनेमे अपनी पूँजी फँसाता है और बिक्री बढानेका सचमुच प्रयत्न करता है तब उसे ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशतकी जरूरत होती है और वह इतना मिलनेकी आशा भी करता है।

यह बात विशेष रूपसे उपयोगी है क्योकि इससे मेरे मुख्य तर्ककी पुष्टि होती है, अर्थात् यह कि कमीशन कमसे कम नही बल्कि ज्यादा-से ज्यादा ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत होना चाहिये। व्यवहारमें, पुस्तककी किस्मके अनुसार कमीशनकी दरमें थोडा-बहुत हेर-फेर होना आवश्यक ही है। कुछ पुस्तकोंके सम्बन्धमें दूसरी पुस्तकोंकी अपेक्षा पुस्तक-विक्रेता अधिक सहायक हो सकता है, और इसलिए स्थायी आधार प्रदान करनेके लिए उसका पारिश्रमिक भी उसकी प्रदान की हुई सहायताका सानुपातिक होना चाहिये। फिर कुछ पुस्तकोंमे दूसरी पुस्तकोंकी अपेक्षा हानिकी सम्भा-वना ज्यादा होती है। कोई प्रतिष्ठित रचना, चाहे वह दर्शन-शास्त्रकी हो या अर्थ-शास्त्रकी, हमेशा उस मूल्यपर बेची जा सकती है जो पुस्तक-विक्रेता उसके लिए अदा करता है। इसके विपरीत, ७ शिलिंग ६ पेंसका उपन्यास, या कविता-संग्रह यदि पुस्तक-विक्रेताके यहाँ पडा रह जाये तो उससे पुस्तक-विक्रेता द्वारा अदा की गयी रकमका एक अंश भी वसूल करना कठिन हो जाता है। व्यावहारिक सुविधाके लिए कमीशनकी दर कमसे कम २१ प्रतिशत (अर्थात् १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत और हिसाब चुकता करते समय ५ प्रतिशत) और ज्यादासे-ज्यादा ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशतके बीच घटती-बढती रहती है। आजकल यह प्रवृत्ति बढती जा रही है कि पुस्तकके प्रकाशनसे पहलेके आर्डरोंके बाद कमसे कम २५ प्रतिशत कमीशन दिया जाय, उस दशामें तो अवश्य ही जब दो या दोसे ज्यादा प्रतियों-का आर्डर दिया गया हो और इसी प्रकार प्रकाशनसे पहलेके आर्डरोंपर अधिकसे अधिक ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत कमीशन देनेका तरीका भी एक नियम-सा बनता जा रहा है। एक प्रतिके आर्डरपर अधिक कमीशन मिलनेकी माँग

बहुत जोर पकड़ती जा रही है और इस प्रश्नकी विशेष रूपसे जाँच करनी होगी। यह सच है कि ऐसी पुस्तककी एक प्रतिका आर्डर जो प्रकाशित हो चुकी हो कभी-कभी "स्टाकके लिए" होता है और इस प्रकारके आर्डरोंको उन आर्डरोंमें शामिल कर देना चाहिये, और यथा-समय कर भी दिया जाता है, जो सफरी एजेण्टोंको दे दिये जाते हैं और जिनपर पुस्तकके प्रकाशनसे पहले दिये गये आर्डरोंके हिसाबसे कमीशन दिया जाता है। परन्तु यह कहना कि प्रकाशित पुस्तकोंकी एक प्रतिके आर्डरोंमेंसे काफी बड़ी संख्या स्टाकके लिए होती है, जाँचकी कसौटीपर खरा नहीं उतरेगा। हममेंसे कुछ लोगोंको बार-बार इसे आजमानेका मौका मिला है। उदाहरणके लिए, हमने कुछ चुने हुए लोगोंके पास, जिनके बारेमें हमें यकीन था कि उन्हें इस पुस्तकमें दिलचस्पी होगी, एक गश्ती चिट्ठीके द्वारा किसी विशेष विषयपर किसी अच्छी पुस्तककी ओर उनका ध्यान आकर्षित कराया, जिसकी बिक्री ठप हो चुकी थी। इस प्रकारके लोगोंसे सीधे आर्डर प्राप्त कर लेना बहुत आसान बात है, परन्तु हमारे यहाँका यह तरीका है कि हम पाठकोंसे यह कहते हैं कि वे किसी पुस्तक-विक्रेताकी मार्फत आर्डर भेजें, और यदि हम गश्ती चिट्ठीके साथ आर्डरका फार्म भेजते हैं तो उसमें "पुस्तक विक्रेताका नाम" लिखनेके लिए जगह छोड़ देते हैं। इस प्रकारकी गश्ती चिट्ठी भेजनेके तीन दिन बाद हमारे पास सारे देशसे आर्डर आने लगे और इनमेंसे बहुत बड़ा अनुपात उन संस्थाओंके आर्डरोंका था जिन्होंने हमारी गम्भीर पुस्तकोंकी कभी एक प्रति भी अपनी दूकानमें नहीं रखी थी और न उनके बेचनेमें हमारी दर्शनीय सहायता ही की थी। क्या ऐसी संस्थाएँ, केवल आर्डर हमारे पासतक पहुँचा देनेके लिए २० प्रतिशत, या इससे ऊपर ३० प्रतिशत, कमीशन लिये जानेकी माँगको उचित ठहराया जा सकता है? अधिकांश व्यापारी ऐसे होंगे जो किसी ऐसे व्यापारको, जहाँ स्थायी ग्राहक बनानेके लिए उन्हें कुछ प्रयत्न न करना पड़ा हो; जिसके उनके लिए किसी प्रकारका खतरा न हो, उन्हें बहुत कम कमीशनके ढंगों

पड़े और उनका पूरा ऊपरका खर्च निकल आये। क्या पुस्
विक्रेताओंके लिए इससे ज्यादाकी आशा करना उचित है? हाँ, य
यह आर्डर किसी ऐसे सच्चे पुस्तक-विक्रेताके पाससे आये जो केव
सस्ते उपन्यास बेचकर ही सन्तोष नही कर लेता, तो उसके साथ विशे
रियायत करनेकी बातपर विचार किया जा सकता है, इस विचार
नहीं कि उसने उस विशेष पुस्तकके आर्डरके सम्बन्धमें कितन
कोशिश की है बल्कि इस विचारसे कि अच्छी पुस्तकोंकी बिक्री बढ़ाने
लिए वह आम तौरपर कितनी कोशिश करता है।

पूरी परिस्थितिको देखते हुए यह मानना पडेगा कि व्यापारकी शर्तों
में बहुत काफी सुधार हो गया है, और अब पुस्तक-विक्रेताओंको अपन
मुनाफा बढ़ानेके लिए अधिक कमीशनके बजाय अधिक बिक्रीकी ओ
ध्यान देना चाहिये और पुस्तक-विक्रेताओंमें जो सबसे ज्यादा दूरदर्शी
वे इस तर्कको स्वीकार करते है।

थोक व्यापारी पुस्तक वितरणकी श्रृंखलामें एक अत्यन्त महत्त्व
पूर्ण कड़ी है, लेकिन उसका महत्त्व लोगोंने उस समयतक पूरी तरह
नही समझा जबतक कि वह कड़ी कुछ दिनोंके लिए टूट नहीं गयी
कठिन समस्या यह है कि उसे व्यापारमें इतनी बचत हो कि उसका
सारा ऊपरका खर्च निकल आये और थोडासा मुनाफा बच जाय औ
साथ ही वह छोटे पुस्तक-विक्रेताको उतना कमीशन दे सके जितना
प्रकाशक साधारणतया (पुस्तकके प्रकाशनसे पहले नहीं) देता है। इस
मामलेमें बारहके तेरहवाला तरीका विशेष रूपसे उपयोगी सिद्ध हुआ।
यह सुविधा हर एकको प्रदान की जाती है, चाहे वह थोक व्यापारी हो
या फुटकर; परन्तु थोक व्यापारीको, जो यह सुविधा अपने लिए प्राप्त
करना कभी नहीं भूलता, अपने ग्राहकोंको यह सुविधा कभी नहीं देनी
पड़ती थी। इस प्रकार बारहके तेरहवाले तरीकेमें उसे ८ प्रतिशतका
मुनाफा ज्यादा हो जाता था, थोक व्यापारीकी हैसियतसे उसे जो कमी-
शन मिलता था वह अलग। दूसरी तरफ, बड़े-बड़े फुटकर व्यापारियों-

को भी कोई शिकायत नहीं होती थी क्योंकि उन्हें बारह प्रतियाँ लेनेपर तेरहवीं प्रति मुफ्त मिलनेकी सुविधा दी ही जाती थी। इसलिए यह मान बैठना कि पुस्तक-व्यापारमें नानबाइयोंके दर्जन (बारहके तेरह)का तरीका पूर्णतः केवल मूर्खतावश जारी रहा, बुद्धिमानी न होगी।

शिक्षा-सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तकोंका उल्लेख जानबूझकर ऊपर व्यापारकी शर्तोंपर विचार करते समय नहीं किया गया है। ये पुस्तकें बहुधा बहुत बड़ी संख्यामें मँगायी जाती हैं। ये प्रकाशित भी बहुत कम मूल्यपर की जाती हैं जिनके कारण कमीशनकी गुंजाइश भी बहुत कम रहती है, बहुधा कमीशन १६⅔ और २५ प्रतिशतके बीचमें ही दिया जाता है। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकोंपर यदि कमीशन बढ़ा दिया जाय तो पुस्तकका प्रकाशित मूल्य अपने-आप बढ़ जायगा। यदि कोई इन पुस्तकोंके प्रकाशनकी लागतका अनुमान लगानेका कष्ट करे तो पता चलेगा कि इनपर प्रकाशकको सबसे कम लाभकी गुंजाइश रहती है। शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकोंका प्रकाशन व्यापारकी दृष्टिसे लाभदायक इसलिए समझा जाता है कि इनके आर्डर बहुत बड़े-बड़े आते हैं और साधारण पुस्तकोंकी अपेक्षा इनकी बिक्री भी बहुत ज्यादा होती है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई पुस्तक स्कूलोंमें पढ़ानेके लिए आम तौरपर स्वीकार कर ली जाती है तो उसे बेचनेके लिए किसी विशेष प्रयासकी जरूरत नहीं पड़ती। वह प्रकाशक बड़ा भाग्यशाली होता है जिसकी कई पुस्तकें स्कूलोंमें पढ़ानेके लिए स्वीकार कर ली जाती हैं।

पुस्तकें उधार देनेवाली (सर्कुलेटिंग) लाइब्रेरियां उन सबसे बड़े ग्राहकोंमेंसे हैं, जिनके पास शहरमें नगर नगर घूमकर पुस्तकोंके आर्डर प्राप्त करनेवाले एजेण्ट जाते हैं, और इन लाइब्रेरियोंकी समस्या एक अत्यन्त जटिल समस्या है। कुछ प्रकाशक सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंका समर्थन करते हैं; कुछ दूसरे प्रकाशक चाहते हैं कि इन्हें जड़ समेत उखाड़कर फेंक दिया जाय। लेकिन इस बातका खतरा है कि ये लाइब्रेरियाँ अपने ग्राहकों द्वारा माँगी जानेवाली पुस्तकोंकी सीमित-

पूर्वक और मुस्तैदीसे उपलब्ध कर देती है, वहाँतक तो इनके अस्तित्वके बारेमें कोई गम्भीर आपत्ति करना उचित न होगा; परन्तु दुर्भाग्यवश इन लाइब्रेरियोंकी शर्तें केवल उन पाठकोंपर लागू होती हैं जिनकी "सदस्यता गारंटीपर आधारित" होती है और (अफसोस !) कि ऐसे सदस्योंकी संख्या बहुत ही थोड़ी होती है। इस बातका कोई आश्वासन नहीं दिया जाता कि दूसरे पाठक जो पुस्तकें पढ़नेके लिए माँगेंगे वे उनको दी ही जायँगी। इसके विपरीत, व्यवहारमे होता यह है कि ऐसे पाठकोंको ज्यादासे ज्यादा लाइब्रेरीकी सूचीमेंसे ऐसी पुस्तकोंपर ही सन्तोष कर लेना पडता है जिनकी ज्यादा माँग नहीं होती, परन्तु अधिकतर मौकोंपर तो उन्हें अपनी माँगी हुई पुस्तकके बदले ऐसी घटिया पुस्तकोंपर सन्तोष करना पडता है जिनकी लाइब्रेरीमें बहुतायत होती है। मौजूदा व्यवस्थामें ये लाइब्रेरियाँ बहुत ही मामूली या घटिया पुस्तकोंके प्रचलनमें सहायक होती हैं और वास्तवमें अच्छी पुस्तकोके प्रचलनकी राहमें बाधा डालती हैं, विशेष रूपसे ऐसे लेखकोंकी पुस्तकोंके प्रचलनकी राहमें जिन्होने ख्याति न प्राप्त कर ली हो। आम जनताको यह आशा बँधा दी गयी है कि वे प्रतिदिन एक पैसेसे भी कम रकम देकर तमाम नयी पुस्तकें पढ़नेके लिए पा सकते हैं, और जितना पैसा वे अपने दैनिक पत्रके लिए खुशीसे देते हैं उससे भी कम रकम भरकर वे या तो स्वय अपने-आपको इस भुलावेमें रखते हैं या उन्हें इस भुलावेमें रखा जाता है कि सारी नवीनतम पुस्तकें उन्हें उपलब्ध हैं, इसलिए उन्हे कभी किसी पुस्तकके खरीदनेकी आवश्यकता नहीं। एक सर्कुलेटिंग लाइब्रेरी ऐसी है जो इस बातपर गर्व करती है कि वह अपने सदस्योंको वही पुस्तकें लेनेपर बाध्य कर सकती है जो उन्हें लाइब्रेरीसे दी जायँ, जिसका मतलब इस विशेष उदाहरणमें यह होता है कि वे पुस्तकें जो लाइब्रेरी सबसे सस्ते दामोंपर खरीद सकती है। कई श्रेष्ठतम प्रकाशन-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंके प्रचलनमें जानबूझकर बाधा डाली जाती है क्योंकि ये पुस्तकें घटिया प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित घटिया पुस्तकोंकी

तुलनामें या उन प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित अच्छी पुस्तकोंकी तुलनामें भी, जो सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंपर इस हदतक निर्भर होते हैं कि बिलकुल उनके इशारोंपर नाचते हैं, एक या दो पेंस मँहगी होती हैं। जिस लाइब्रेरीकी ओर मैं संकेत कर रहा हूँ उसने तो अपने एक सदस्य, एक नवयुवक लेखकको बुलवाकर उसे चेतावनी दी कि उसके उपन्यासका प्रचलन जानबूझकर सीमित किया जायगा क्योंकि उसने उसे लन्दनके एक सबसे प्रतिष्ठित प्रकाशकसे प्रकाशित करवानेकी मूर्खता की है। यह बात समझमें नहीं आती कि लाइब्रेरीका इसमें क्या उद्देश्य था। परिणाम केवल यह हुआ कि उसने अपना एक सदस्य खो दिया, क्योंकि जब लेखकको तमाम बातें समझायी गयीं तब उसने निःसंकोच प्रकाशकका पक्ष लिया। इन सबका इलाज आवश्यक रूपसे यह नहीं है कि सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंको खत्म कर दिया जाय (इंग्लैण्डमें सर्कुलेटिंग लाइब्रेरी लोगोंकी इतनी जबर्दस्त आदत बन चुकी है कि ऐसा करना सम्भव नहीं है), बल्कि उपाय यह है कि आम पाठकोंमें यह जागर्ति फैलायी जाय कि वे अपने द्वारा माँगी जानेवाली पुस्तकोंके दिये जानेका आग्रह करें और उनके स्थानपर कोई कामचलाऊ पुस्तक लेकर सन्तोष न कर लें। लाइब्रेरियोंके सदस्य बिना किसी आपत्तिके वह पुस्तक तो ले लेते हैं जो लाइब्रेरी उन्हें देनेकी कृपा करे, परन्तु यदि कोई दूकानदार उन्हें मक्खनके बजाय मट्ठा दे दे तो वे प्रतिरोध करनेमें सबसे आगे होंगे। यदि ऐसे लोगोंकी संख्या बढ़ जाय जो मस्तिष्कके भोजनकी ओर भी उतना ही ध्यान देने लगें जितना वे अपने कपड़ों या भोजनकी ओर देते हैं तो उन्हें तब तक सन्तोष न होगा जबतक कि लाइब्रेरियोंकी ऐसी व्यवस्था कायम न हो जाय कि उन्हें उनकी आवश्यक पुस्तकें निश्चित रूपसे मिल सकें। मैं नहीं चाहता कि मेरी बातका यह अर्थ निकाला जाय कि मैं सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंकी व्यवस्थापर ही आक्षेप कर रहा हूँ, इसलिए मैं यहाँ यह बता देना उचित समझता हूँ कि एक या दो सबसे बड़ी लाइब्रेरियोंकी व्यवस्था अत्यन्त उत्तम है और न तो मुझे [illegible]

संस्थाको ही उनसे कोई शिकायत है। मैं तो इससे भी आगे जाकर यह तक कहनेको तैयार हूँ कि इतनी थोड़ी-सी रकममें वे जितनी सेवा करती हैं वह प्रशंसनीय है; परन्तु सभी लाइब्रेरियोंकी व्यवस्था ऐसी नहीं है, और कुछ भी हो मेरा विचार तो यह है कि जबतक लाइब्रेरियोंकी सदस्यताका आधार यह नहीं बनाया जाता कि पाठकों द्वारा माँगी जानेवाली पुस्तकोंके मिलनेकी गारंटी हो तबतक लाइब्रेरियोंकी व्यवस्था पूरे पुस्तक-उद्योगके लिए हानिकर रहेगी। हमें आशा है कि निकट-भविष्यमें लोग सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंसे अपनी पसन्दकी पुस्तक प्राप्त करनेके लिए उतना ही आग्रह करेंगे जितना वे अपने सिगरेटवालेसे अपनी पसन्दकी सिगरेट या दूकानदारसे अपने पसन्दका साबुन लेनेके लिए करते हैं।[1]

सारे देशका चक्कर लगानेवाले एजेण्ट अपने प्रकाशक या अपने ग्राहकके साथ हमेशा इतना निकट-सम्पर्क स्थापित नहीं रख सकते। चाहे स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड और वेल्सको एजेण्टके क्षेत्रमे शामिल किया जाय या पूरे क्षेत्रको दो या तीन या अधिक प्रतिनिधियोंमें बाँट दिया जाय, परन्तु देशके दूसरे हिस्सोंका चक्कर लगानेवाले एजेण्टोंके लिए अपने ग्राहकोंके पास इतनी जल्दी-जल्दी चक्कर लगाना सम्भव नहीं होता जितनी जल्दी-जल्दी लन्दनका एजेण्ट चक्कर लगा सकता है। छोटे-छोटे शहरोंमे तो सालमें केवल दो बार जाना सम्भव होता है और अपेक्षाकृत बड़े शहरोंमे चार बार या हदसे हद छ बार। इसलिए इन एजेण्टोंमेंसे प्रत्येकके लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपने साथ बहुत ज्यादा पुस्तकोंके नमूने रखे और उसे उन तमाम आगामी प्रकाशनोंके बारेमें जानकारी हो जो उसके अगले चक्करसे

१. व्यापारके तौरपर चलायी जानेवाली सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंके बारेमें और अधिक जानकारी **ब्रिटेन टुडे** (सितम्बर १९४६ का अंक), **रैपोर्ट** नामक संग्रह (अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक सम्मेलन, पेरिस, १९३१), और १९२८में सोसायटी ऑव् बुकमेन द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट (ब्रिटिश पुस्तक-व्यापार सघटन, पृष्ठ १३२) से प्राप्त की जा सकती है।

पहले प्रकाशित होनेवाली हो। कुछ नवीन प्रकाशकोंकी तो उसके पास सम्पूर्ण प्रतियाँ होंगी परन्तु कुछ दूसरी पुस्तकोंकी केवल ऐसी प्रतियाँ होंगी जिन्हें एजेण्टोंके लिए नमूनेकी प्रतियाँ कहते हैं। किसी पुस्तकविक्रेतासे न तो यह आशा ही की जा सकती है और न वह स्वयं यह चाहेगा कि एजेण्टके वहाँ रहते ही वह पूरी पुस्तक पढ़ डाले। पर वह यह जरूर जानना चाहेगा कि पुस्तक किस विषयके बारेमें है और वह देखनेमें कैसी होगी। ये दोनों बातें एजेण्टकी नमूनेकी प्रतिसे मालूम हो सकती हैं। इस नमूनेकी प्रतिमें पुस्तकके पहले ३२ पृष्ठ बिलकुल वैसी ही जिल्दमें बाँध दिये जाते हैं जैसी कि अन्ततः पुस्तककी जिल्द होगी, अन्तर केवल यह होता है कि पुस्तकका वह भाग जो पुस्तकको आलमारीमें रखनेपर दिखाई देता है, जिससे पुस्तककी मोटाईका अन्दाजा लगता है, नमूनेकी प्रतिके आवरणपृष्ठके पीछेकी ओर होता है। पूरी पुस्तक द्वारा घेरी जानेवाली जगहमें ऐसी नमूनेकी छ प्रतियाँ समा जाती हैं। आगामी प्रकाशनोंके बारेमें एजेण्टके पास आरम्भके कुछ हिस्सोंके बगैर पढ़े हुए प्रूफ होते हैं, या यदि पुस्तककी छपाई आरम्भ न हुई हो तो उसका संक्षिप्त विवरण रहता है। यह स्वाभाविक बात है कि इसके पास पुस्तक-विक्रेताको दिखलानेके लिए जितनी अधिक सामग्री होगी, पुस्तक-विक्रेताके लिए उतना ही अच्छा है, और एजेण्टको आर्डर भी उतने ही ज्यादा मिल सकते हैं। आम तौरपर प्रकाशक विभिन्न शहरोंके पुस्तक-विक्रेताओंको यह सूचना दे देते हैं कि उनका प्रतिनिधि उनके पास अमुक तारीखको आयगा और यदि किसीके बकाया पैसे भी यही प्रतिनिधि वसूल करता है तो इस सूचनाके साथ बकाया बिलोंका एक ब्योरा भी भेज दिया जाता है। एक जमानेमें आम तरीका यह था कि हर सफरमें एजेण्टोंको जो आर्डर दिये जाते थे उनके पैसे उसके दूसरे सफरमें वसूल किये जाते थे, परन्तु अब यह तरीका छोड़ दिया गया है और हिसाब यदि हर माह नहीं तो हर तीसरे माह चुकता कर दिया जाता है।

ऐसे दूसरे हिस्सोंमें, और खासकर गाँवोंमें, पुस्तकोंके आर्डर इस तरह-

पर बहुत हदतक निर्भर होते हैं कि उसी लेखककी पिछली पुस्तककी बिक्री कैसी हुई थी। परिणाम यह होता है कि कोई पुस्तक कितनी ही बुरी क्यो न हो परन्तु यदि वह उसी लेखककी एक सफल रचनाके बाद प्रकाशित हुई है तो व्यापारिक क्षेत्रोमे उसका अच्छा स्वागत किया जायगा, और इसी प्रकार पुस्तक कितनी ही अच्छी क्यो न हो परन्तु यदि उससे पहलेवाली रचना असफल रही है तो उसका भी स्वागत अच्छा नही होगा। जब कोई प्रकाशक किसी नये लेखककी रचना प्रकाशित करके सफलता प्राप्त करता है तो लुटेरे प्रकारके दूसरे प्रकाशक उस लेखककी दूसरी पुस्तकको हथियानेका प्रयत्न करते समय इसी बातको आधार मानकर चलते हैं। यदि लेखककी कोई रचना उससे पहले प्रकाशित न हुई हो तो पुस्तक-विक्रेता आवश्यकतासे अधिक सावधान रहते हैं[1] और चूँकि प्रकाशित पुस्तकोंमें घटिया पुस्तकोंकी संख्या बहुत अधिक होती है इसलिए पुस्तक-विक्रेताओंके इस रवैयेमें कोई आश्चर्यकी भी बात नही है, यद्यपि प्रकाशक कभी-कभी इस बातपर बहुत ही झुँझलाता है कि उसके प्रतिनिधियोंकी वाक्शक्तिके बावजूद कोई सचमुच श्रेष्ठ रचना या तो "ठुकरा दी जाती है" या पुस्तक-विक्रेता उसकी बहुत ही थोडी प्रतियाँ खरीदते है।

पुस्तक-विक्रेताओंमें और आम जनतामे भी यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि वे प्रकाशकके नामसे पुस्तककी अच्छाई-बुराई परखते हैं। कुछ प्रकाशकोंकी यह साख जम जाती है कि वे कुछ विशेष विषयोंपर श्रेष्ठतम पुस्तकें छापते हैं। इसलिए जब इन विषयोंपर कोई नयी पुस्तकें इन प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की जाती हैं तो उन्हें निश्चित रूपसे अच्छा समझा जाता है क्योंकि प्रकाशककी ख्याति भी दाँवपर लगी होती है। इसके विपरीत यदि उपन्यासोंका कोई प्रकाशक सहसा मनोविज्ञानपर कोई पुस्तक छाप दे तो सम्भवतः इसका कारण यह होता है कि उसके एजेण्ट उसे बताते है कि मनोविज्ञानकी पुस्तकें

१. युद्धके जमानेमें पुस्तकें अन्धाधुन्ध खरीदी जाती थीं।

बहुत बिक रही हैं; कारण यह नहीं होता कि उस विषयपर कोई सच-मुच अच्छी पुस्तक उस प्रकाशकके हाथ लग गयी है। वास्तवमें, यह बिलकुल निश्चित है कि यदि वही पुस्तक उस विषयके विशेषज्ञ प्रकाशकके पास जाती तो वह उसे स्वीकार करनेसे इनकार कर देता। कुछ पुस्तक-विक्रेता केवल कुछ विशेष प्रकारकी ही पुस्तकें बेचते हैं और इनका पुस्तकें खरीदनेका काम बहुत आसान हो जाता है।

बुक-टोकेन[1]से पुस्तक-व्यापारको बहुत सहायता मिली है। इनकी सहायतासे ऐसे ग्राहकोंको भी उपहारमें पुस्तकें देनेका प्रोत्साहन मिला है जो अच्छी पुस्तक पसन्द करनेकी कठिनाईके कारण कभी उपहारमें पुस्तक देनेका साहस भी नहीं कर सकते थे। इनकी सहायतासे पुस्तकोंकी दूकानोंमें ऐसे लोग आये हैं जो पहले दूकानमें घुसते हुए भी झिझकते थे, और फलस्वरूप बड़े दिन (क्रिसमस) के अवसरपर दिये गये बुक-टोकेनोंके बदले जनवरीतक पुस्तकें खरीदी जाती हैं। फिर भी, यह आश्चर्यकी बात है कि कुछ पुस्तक-विक्रेता इतने अदूरदर्शी होते हैं कि वे इनका महत्व नहीं समझते।

बचे हुए स्टाककी थोक बिक्री :—यह तो मानना ही चाहिये कि तमाम प्रकाशक किसी पुस्तकको छापनेके लिए प्रतियोंकी संख्या निश्चित करते समय अपनी जरूरतका यथासम्भव सही अन्दाजा लगा लेनेकी कोशिश करते हैं। कुछ प्रकाशक यह अन्दाजा ठीक-ठीक लगानेमें दूसरोंकी अपेक्षा ज्यादा सफल होते हैं। कुछ प्रकाशक ऐसे होते हैं जो प्रतियोंकी संख्या निश्चित करते समय बहुत सावधान रहते हैं, और इसके विपरीत कुछ दूसरे प्रकाशक होते हैं जो बिना सोचे-समझे अनाप-शनाप आर्डर दे देते हैं जैसा कि पहले एक अध्यायमें बताया जा चुका है। यदि किसी पुस्तकके बचे हुए स्टाकको घटे-घटे दामोंपर

---

१. पुस्तक-विक्रेता या प्रकाशक द्वारा दिया जाता [illegible] —अनु०

पर बहुत हदतक निर्भर होते हैं कि उसी लेखककी पिछली पुस्तककी बिक्री कैसी हुई थी। परिणाम यह होता है कि कोई पुस्तक कितनी ही बुरी क्यो न हो परन्तु यदि वह उसी लेखककी एक सफल रचनाके बाद प्रकाशित हुई है तो व्यापारिक क्षेत्रोमे उसका अच्छा स्वागत किया जायगा, और इसी प्रकार पुस्तक कितनी ही अच्छी क्यो न हो परन्तु यदि उससे पहलेवाली रचना असफल रही है तो उसका भी स्वागत अच्छा नही होगा। जब कोई प्रकाशक किसी नये लेखककी रचना प्रकाशित करके सफलता प्राप्त करता है तो लुटेरे प्रकारके दूसरे प्रकाशक उस लेखककी दूसरी पुस्तकको हथियानेका प्रयत्न करते समय इसी बातको आधार मानकर चलते है। यदि लेखककी कोई रचना उससे पहले प्रकाशित न हुई हो तो पुस्तक-विक्रेता आवश्यकतासे अधिक सावधान रहते हैं[1] और चूँकि प्रकाशित पुस्तकोमें घटिया पुस्तकोकी संख्या बहुत अधिक होती है इसलिए पुस्तक-विक्रेताओके इस रवैयेमें कोई आश्चर्यकी भी बात नही है, यद्यपि प्रकाशक कभी-कभी इस बातपर बहुत ही झुँझलाता है कि उसके प्रतिनिधियोकी वाक्शक्तिके बावजूद कोई सचमुच श्रेष्ठ रचना या तो "ठुकरा दी जाती है" या पुस्तक-विक्रेता उसकी बहुत ही थोडी प्रतियाँ खरीदते है।

पुस्तक-विक्रेताओंमें और आम जनतामें भी यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि वे प्रकाशकके नामसे पुस्तककी अच्छाई-बुराई परखते हैं। कुछ प्रकाशकोंकी यह साख जम जाती है कि वे कुछ विशेष विषयोंपर श्रेष्ठतम पुस्तकें छापते हैं। इसलिए जब इन विषयोपर कोई नयी पुस्तकें इन प्रकाशको द्वारा प्रकाशित की जाती हैं तो उन्हे निश्चित रूपसे अच्छा समझा जाता है क्योंकि प्रकाशककी ख्याति भी दाँवपर लगी होती है। इसके विपरीत यदि उपन्यासोंका कोई प्रकाशक सहसा मनोविज्ञानपर कोई पुस्तक छाप दे तो सम्भवतः इसका कारण यह होता है कि उसके एजेण्ट उसे बताते हैं कि मनोविज्ञानकी पुस्तकें

१. युद्धके जमानेमें पुस्तकें अन्धाधुन्ध खरीदी जाती थी।

बहुत बिक रही हैं; कारण यह नहीं होता कि उस विषयपर कोई सच-मुच अच्छी पुस्तक उस प्रकाशकके हाथ लग गयी है। वास्तवमें, यह बिलकुल निश्चित है कि यदि वही पुस्तक उस विषयके विशेषज्ञ प्रकाशकके पास जाती तो वह उसे स्वीकार करनेसे इनकार कर देता। कुछ पुस्तक-विक्रेता केवल कुछ विशेष प्रकारकी ही पुस्तकें बेचते हैं और इनका पुस्तकें खरीदनेका काम बहुत आसान हो जाता है।

बुक-टोकन[1]से पुस्तक-व्यापारको बहुत सहायता मिली है। इनकी सहायतासे ऐसे ग्राहकोंको भी उपहारमें पुस्तकें देनेका प्रोत्साहन मिला है जो अच्छी पुस्तक पसन्द करनेकी कठिनाईके कारण कभी उपहारमें पुस्तक देनेका साहस भी नहीं कर सकते थे। इनकी सहायतासे पुस्तकोंकी दूकानोंमें ऐसे लोग आये हैं जो पहले दूकानमें घुसते हुए भी झिझकते थे, और फलस्वरूप बड़े दिन (क्रिसमस) के अवसरपर दिये गये बुक-टोकेनोंके बदले जनवरीतक पुस्तकें खरीदी जाती हैं। फिर भी, यह आश्चर्यकी बात है कि कुछ पुस्तक-विक्रेता इतने अदूरदर्शी होते हैं कि वे इनका महत्त्व नहीं समझते।

बचे हुए स्टाककी थोक बिक्री :—यह तो मानना ही चाहिये कि तमाम प्रकाशक किसी पुस्तकको छापनेके लिए प्रतियोंकी संख्या निश्चित करते समय अपनी जरूरतका यथासम्भव सही अन्दाजा लगा लेनेकी कोशिश करते हैं। कुछ प्रकाशक यह अन्दाजा ठीक-ठीक लगानेमें दूसरोंकी अपेक्षा ज्यादा सफल होते हैं। कुछ प्रकाशक ऐसे होते हैं जो प्रतियोंकी संख्या निश्चित करते समय बहुत सावधान रहते हैं, और इसके विपरीत कुछ दूसरे प्रकाशक होते हैं जो बिना सोचे-समझे अन्धाधुन्ध आर्डर दे देते हैं जैसा कि पहले एक अध्यायमें बताया जा चुका है। यदि किसी पुस्तककी बची हुई प्रतियाँ औने-पौने दामोंपर

१. पुस्तक-विक्रेता या प्रकाशक द्वारा [illegible] जिसपर किसी निश्चित रकमका [illegible] लिखा रहता है। इसके बदले उतनी [illegible] पुस्तक खरीदी जा सकती है।—अनु०

थोकमें बेच देना पड़े तो यह न मान लेना चाहिये कि वह पुस्तक असफल रही, यद्यपि प्रायः हमेशा यही समझा जाता है। इसका यह भी कारण हो सकता है कि पुस्तक बहुत सफल हुई, उसके तीन या चार संस्करण प्रकाशित हुए और चौथी या पाँचवी पुनरावृत्ति छपवाते समय प्रकाशकने बहुत ज्यादा प्रतियोंका आर्डर दे दिया। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी विशेष पुस्तककी बिक्री सहसा गिर जाती है, और बहुधा तो यह ऐसे समयपर होता है जब यह अत्यन्त असुविधाजनक होता है, जैसे कि जब पुस्तककी पुनरावृत्ति बिलकुल तैयार होती है। यदि प्रकाशक सोच-समझकर पुस्तक छापता है और अपनी जरूरतका अन्दाजा ठीक-ठीक लगाता है तो पुस्तकका सारा स्टाक साधारण व्यापारिक शर्तोंपर बिक जाता है और उसके बाद जो आर्डर आते हैं उनके उत्तरमें लिख दिया जाता है "तमाम प्रतियाँ बिक चुकी है।" परन्तु बहुत-सी पुस्तकोंके सम्बन्धमें एक अवस्था ऐसी आती है, चाहे यह अवस्था बहुत जल्दी आये या देरमें, जब पुस्तकका कुछ स्टाक बचा रहता है और पुरानी कीमतपर उसकी बिक्री बन्द हो जाती है। यदि बचे हुए स्टाककी मात्रा बहुत ज्यादा नहीं होती तब तो कोई गम्भीर समस्या उत्पन्न नहीं होती परन्तु यदि बची हुई प्रतियोंकी संख्या काफी होती है तो प्रकाशकको यह सोचनेपर मजबूर होना पडता है कि बचे हुए स्टाकको निकालनेका सबसे अच्छा उपाय क्या है। जैसा कि हम पिछले अध्यायमें देख चुके हैं, अब प्रकाशकोंके लिए फालतू स्टाकको निकालनेकी समस्या पहलेकी अपेक्षा ज्यादा उग्र रूप धारण कर चुकी है।

चाहे शर्तनामेमें "बचे हुए स्टाकको थोकमें निकाल देने" का अधिकार उसे दिया गया हो या नहीं, परन्तु जो प्रकाशक अपने लेखकोंके साथ मित्रतापूर्ण सम्पर्क रखते हैं वे ऐसे मामलोंके बारेमें उनसे सलाह ले लेना पसन्द करते है, बशर्तें कि वह लेखक आसानीसे मिल सकता हो और उसने प्रकाशकको सूचना दिये बिना ही अपना पता न बदल दिया हो; बहुधा जब लेखकसे मिलनेकी अत्यधिक आवश्यकता

होती है तब मालूम होता है कि सज्जन अपना पता दिये बिना ही किसी दूसरी जगह चले गये हैं। कुछ संस्थाओंमें तो लेखकोंके भेजे गये ऐसे पत्र एक अलग फाइलमें रख दिये जाते हैं जिन्हें डाकखानेसे यह लिखकर भेज दिया जाता है, "कहीं चले गये; पता नहीं मालूम।" यह स्वाभाविक ही है कि जब किसी लेखककी पुस्तककी बिक्री रुक जाय तो उसे उस पुस्तकमें और उसके प्रकाशकमें कोई दिलचस्पी बाकी न रह जाती, परन्तु यदि और कुछ नहीं तो थोड़ा आश्चर्य जरूर होता है जब इस प्रकारका कोई लेखक साल-दो-साल बाद आता है (कुछ तो इस बीचमें बिना सूचना दिये हुए अपना पता भी दो-तीन बार बदल चुके होते हैं) और प्रकाशकसे पत्र न लिखनेकी शिकायत करता है। जिन लेखकोंकी राय ली भी जाती है उनमेंसे अधिकांश ऐसे होते हैं जो स्टाक निकालनेके बारेमें कोई सुझाव नहीं दे पाते और प्रकाशकको समस्यासे निपटनेके लिए अकेला छोड़ देते हैं। ऐसी दशामें प्रकाशकके लिए कई रास्ते होते हैं।

पहला और महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि स्टाकमें जो प्रतियाँ हैं उनपर जिल्द बँधी है या नहीं, क्योंकि यदि यह स्पष्ट हो कि उसपर जिल्द बँधवानेकी भी लागत वसूल नहीं होगी तो बिना जिल्द बँधे हुए स्टाकको रद्दीमें बेचकर वहिखातेसे निकला जा सकता है या समस्याको आंशिक रूपसे टाला जा सकता है। इस प्रकार बचे हुए स्टाककी मात्रा कम हो जाती है और उसका आसानीसे निपटारा किया जा सकता है। इसके बाद शायद और कुछ फर्मोंकी आवश्यकता ही न रह जाय। यदि ऐसे कुछ फर्मोंकी पोस्टिंग न की गयी हो तो उन्हें [illegible] जा सकता है। पोस्ट किये हुए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ज्यादा वांछनीय या शायद कम अप्रतिष्ठाकारक होता है।

उन्ही प्रतियोंको दुबारा कम कीमतपर बेचनेसे बहुधा कठिनाई केवल कुछ दिनोंके लिए टल जाती है और बादमे स्टाकको सेकेण्ड-हैण्ड पुस्तक-विक्रेताओके जरिये बेचनेमे बडी कठिनाई होती है। इसका कारण बिलकुल स्पष्ट है। उसी पुस्तकको नये सिरेसे कम कीमतपर बेचनेके लिए प्रकाशकको फिर उन्ही माध्यमोका सहारा ढूँढना पड़ता है जिनके यहाँसे पुस्तककी बिक्री बन्द हो चुकी है, अर्थात् नयी पुस्तकोके विक्रेताओका। इसलिए इसकी सम्भावना नही रह जाती कि नयी कीमतपर पुस्तक धड़ाधड बिकने लगेगी; बिक्रीमे सहायता देनेके लिए समालोचनाओकी सुविधा भी प्राप्त नही रह जाती और इतनी गुंजाइश नहीं होती कि बडे पैमानेपर पुस्तकका विज्ञापन किया जाय। इसके विपरीत, यदि बचा हुआ स्टाक किसी थोक व्यापारीके हाथ आधे-पौने दामोपर बेच दिया जाय या प्रकाशक सारा स्टाक स्वयं किसी सेकेण्ड-हैण्ड पुस्तक-विक्रेताके हाथ बेच दे (क्योंकि कम दामोपर बेची गयी पुस्तकोंके बचे हुए स्टाक अन्ततः इन्ही पुस्तक-विक्रेताओंके जरिये बेचे जाते है), तो नतीजा यह होता है कि पुस्तक आम पाठकोंको उसी कीमतपर मिल जाती है जिसपर कि प्रकाशक स्वयं दाम घटानेके बाद बेचनेका विचार रखता था, परन्तु माध्यम बदल जाता है, अर्थात् अब पुस्तक सेकेण्ड-हैण्ड दूकानोसे बिकती है; साथमे खरीदारको यह लालच भी होता है कि उसे बहुत कम दामोंपर अच्छी चीज मिल रही है। यह बात समझनेके लिए हमें किसी विशेषज्ञकी सहायताकी जरूरत नहीं कि किसी चीजकी कीमत ३० शिलिंगसे घटाकर १५ शिलिंग करके बेचना इसकी अपेक्षा कहीं ज्यादा आसान होता है कि उसी चीजको यह कहकर बेचा जाय कि मूलतः उसका उचित मूल्य १५ शिलिंग है। बचा हुआ स्टाक "लाटमे" खरीदनेवालोंके सूचीपत्रका एक आकर्षण यह होता है कि उसमें महँगी चीजोंकी कीमतें बहुत कम करके दी जाती हैं। बचे हुए स्टाकका व्यापारी पुस्तकका नया कम मूल्य निश्चित करते

समय पुस्तकपर छपे हुए मूल्यको ध्यानमें रखता है क्योंकि छपी हुई मूल कीमतमें और अपनी निश्चित की हुई नयी कीमतमें यह जितना ज्यादा अन्तर रखेगा, उतना ही ज्यादा ग्राहकको यह लालच होगा कि वह सस्ते दामोंपर अच्छा माल खरीद रहा है। इसलिए किसी पुस्तकके बचे हुए फालतू स्टाकको उसपर नयी कम कीमत छापकर दुबारा बेचनेका अर्थ यह होता है कि बादमें जब उसे सेकेण्ड-हैण्ड व्यापारियोंके जरिये बेचनेकी अवस्था आयेगी (और इस अवस्थाका आना प्रायः निश्चित ही होता है) तब उसका मूल्य गिर चुका होगा, क्योंकि उस समय पुस्तक-विक्रेता जो दाम लगायेंगे उसका आधार पुरानी मूल कीमत नहीं बल्कि नयी घटी हुई कीमत होगी।

उस पुस्तकके सम्बन्धमें जिसका बाकी बचा हुआ स्टाक बेचा जा रहा हो, इस प्रकारकी शर्त लगानेका कोई स्पष्ट कारण समझमें नहीं आता, क्योंकि इसका अर्थ केवल यह होता है कि वह पुस्तक दूसरे माध्यमोंके द्वारा और दूसरे ग्राहकोंके हाथ—लेकिन जो बहुत ही आँख-परखकर किताब खरीदते हैं—अर्थात् सेकेण्ड-हैण्ड पुस्तकें खरीदनेवालोंके हाथ बेची जा रही है। वास्तवमें यदि किसी पुस्तकमें सचमुच कुछ गुण हों तो उसकी कुछ प्रतियाँ बचे हुए स्टाकके रूपमें छोड़ देनेसे उसकी माँग बढ़ती है। यह बात इतने आम तौरपर स्वीकार की जाती है कि कई प्रकाशक किसी पुस्तकके बचे हुए स्टाकको बेचते समय कुछ प्रतियाँ जानबूझकर रख छोड़ते हैं, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि पुस्तकका फालतू स्टाक जब खत्म हो जायगा और सेकेण्ड-हैण्ड पुस्तक-विक्रेता उसे बेच चुकेंगे, तब उस पुस्तकके लिए नये सिरेसे माँग आना शुरू होगी। परन्तु इस प्रकार बाकी बचे हुए स्टाकका आंशिक रूपसे बेचना या खरीदना उचित नहीं समझा जा सकता, अर्थात् यह आपत्ति कि प्रकाशक एक भाग किसी विशेष पुस्तक-विक्रेताके हाथ सस्ते फालतू स्टाकके तौरपर बेच दिया जाय और दूसरा [illegible] पुस्तक [illegible] दामपर बेचे जायँ। [illegible], इसका [illegible]

कि आप एक पुस्तक-विक्रेताको तो वही पुस्तक कम दामपर बेचनेका मौका दे रहे है और साथ ही दूसरोसे यह आशा करते हैं कि वे पुस्तक-पर छपे हुए मूल्यपर ही पुस्तक बेचनेकी शर्तका पालन करें।

बाकी बचे हुए स्टाकको 'लाटमें' खरीदनेवाले व्यापारी बहुत ही नखरीले होते हैं। यदि किसी पुस्तकको वे 'असली माल' नहीं समझते तो उन्हें उस पुस्तकको किसी उचित मूल्यपर खरीदनेके लिए राजी करना कठिन हो जाता है (युद्धके जमानेमें यह दशा नहीं थी)। बाकी बचा हुआ स्टाक खरीदनेवाला व्यापारी, सच पूछा जाय तो, प्रकाशक और सेकेण्ड-हैड पुस्तक-विक्रेताके बीच एक दलालमात्र होता है, और इसी लिए कई प्रकाशक तो सीधे सेकेण्ड-हैण्ड पुस्तक-विक्रेताओंसे सौदा कर लेते है और इस प्रकार बीचके दलालका सवाल ही नही उठने देते। इसमें सुविधाएँ भी हैं और असुविधाएँ भी; इसमें दाम तो ज्यादा लगते है परन्तु सारे क्रममें समय बहुत लगता है और इस बातका खतरा रहता है कि कुछ स्टाक फिर भी बचा रह जाय। फिर भी, यदि प्रकाशकका व्यापार-संघटन अच्छा है तो अधिकांश उदाहरणोंमें उसके लिए लाभदायक यही होगा कि वह बाकी बचे हुए स्टाकको बेचनेका प्रबन्ध स्वयं करे, चाहे बादमें उसे कुछ प्रतियाँ रद्दीके भावसे ही क्यो न बेचनी पडे। वास्तवमें बाकी बचे हुए स्टाककी बिक्री नयी पुस्तकोंकी बिक्रीकी अपेक्षा ज्यादा बडी कला है। कभी-कभी तो कल्पनाशक्तिका बहुत ही ज्यादा प्रयोग करना पडता है। कुछ विशेष पुस्तकोंके लिए कभी-कभी बिलकुल ही अप्रत्याशित ग्राहक ढूँढे जा सकते है या पैदा किये जा सकते हैं, और यह भी जरूरी नहीं है कि ये ग्राहक पुस्तक-व्यापारसे ही सम्बन्धित हों। उदाहरणके लिए, किसी संघठन या संस्थाको उस समस्यामे दिलचस्पी हो जिसपर उस पुस्तकमें प्रकाश डाला गया हो।

कोई भी तरीका अपनाया जाय, परन्तु यदि बची हुई प्रतियाँ बहुत बडी संख्यामें हैं तो शुरूमें ही कुछ प्रतियोंको नष्ट करके रद्दीमें बेच देना समझदारी होगी क्योंकि फिर बचे हुए स्टाकको बेचना ज्यादा सुविधा-

इस तरीकेको लागू करनेमें कई कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा और इस उपयोगी सुधारके लिए पुस्तक-व्यापारसे सम्बन्धित लोगोंको कुछ गिनतीके प्रकाशको और बहुत थोड़े-से पुस्तक-विक्रेताओंकी दृढ़ताका आभार मानना चाहिये। इस सुधारके कारण व्यापारियोंको यह सुरक्षा प्राप्त हो गयी है कि कोई दूसरा व्यापारी कम दामपर पुस्तक बेचकर उसके ग्राहक नहीं तोड़ सकता और यह निश्चित हो गया है कि पुस्तक-पर जो मूल्य छपा होगा उसी मूल्यपर वह बेची जायगी, उससे कमपर नहीं।'[1]

शुरूमें कमीशनपर पुस्तकें बेचनेवालोंने इस नये तरीकेका विरोध किया, केवल थोड़ेसे लोगोंको इसमें विश्वास था, परन्तु वे अपने विश्वास-पर अटल रहे; आज सभी पुस्तक-विक्रेता इस तरीकेको अनिवार्य समझने लगे हैं और इसे कायम रखनेके प्रति उतना ही उत्साह रखते हैं जितना कि प्रकाशक। अब अधिकांश प्रकाशक अपने बिलोंपर निम्न-लिखित शब्द छपवा देते हैं—

ये पुस्तकें इस विश्वासके साथ दी जा रही हैं कि वे जन-साधारणके हाथ प्रकाशक द्वारा समय-समयपर निश्चित किये गये प्रकाशित 'नेट' मूल्यसे, कमपर नहीं बेची जायँगी।

यह फैसला करनेमें भी काफी कठिनाई होती थी कि किसी विशेष संघटन या संस्थाको कमीशन दिया जाय या नहीं। परन्तु इस समस्याकी तथा कई अन्य समस्याओंकी १९२७ में "प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओंकी संयुक्त समिति"में पूरी तरह जाँच की गयी। इस समितिकी रिपोर्टें तथा सिफारिशें एफ० डी० सैंडर्स द्वारा सम्पादित ब्रिटिश बुक ट्रेड आर्गेनाइज़ेशन[2] नामक पुस्तकमें संकलित कर दी गयी हैं। यह पुस्तक पुस्तक-व्यापार सम्बन्धी जानकारीकी एक खान है और इसका

---

१. द नेट बुक एग्रीमेण्ट, १८९९। मैकलिहोज, १९२४
मेमायर्स आफ़ जे. एम. डेंट, १९२८
२. लंदन : जार्ज अलेन एण्ड अनविन लि०।

ध्यानपूर्वक अध्ययन करना अत्यन्त लाभदायी सिद्ध होगा। इसमेंसे अधिकांश सिफारिशें अमलमें लायी गयी हैं, यद्यपि कई सिफारिशोंका कुछ पुराने प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओंने उस समय बड़ा घोर विरोध किया था क्योंकि उन्हें वे आवश्यकतासे अधिक क्रान्तिकारी प्रतीत होती थीं। इस संयुक्त समितिका काम ब्रिटिश पुस्तक-व्यापार द्वारा अपनी व्यवस्थाको ठीक करनेके लिए किये जानेवाले उपायोंमें शायद सबसे बड़ा कदम था और इसलिए यह बता देना भी उचित होगा कि यह कदम ब्रिटिश प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओंके एक प्रतिनिधि-मण्डलके अमस्टरडम तथा लीपज़िगके दौरेका परिणाम था।

यहाँ मैं इस समितिके व्यवहारमें लाये गये सुझावोंमेंसे केवल कुछ महत्वपूर्ण सुझावोंका ही उल्लेख करूँगा। पहले तो प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओंकी एक संयुक्त व्यापार समिति, जिसे संक्षेपमें जे० ए० सी० कहते थे, नियुक्त की गयी और यह काम इस समितिके सिपुर्द किया गया कि यह उन लोगोंके प्रार्थनापत्रोंपर विचार करे जो कमीशन पानेके अधिकारी होनेकी "मान्यता" प्राप्त करना चाहते थे और यह सिफारिश करे कि यह मान्यता (यदि मान्यता दी जाय तो) किस रूपमें दी जाय।

इस समझौतेके पहले "मान्यता" केवल एक ही प्रकारकी होती थी; नये नियमोंके अन्तर्गत कई कोटियाँ बना दी गयी थीं। आज पुस्तक-विक्रेताओंके अलावा एक कोटि 'बुक एजेण्टों' की भी थी, जिन्हें सीमित शर्तोंमें मान्यता दी गयी थी। उदाहरणके लिए, [illegible]

पुस्तकमे दिलचस्पी पैदा हो, परन्तु ग्राहककी दिलचस्पी घंटेभर बाद ही खत्म भी हो सकती है। उदाहरणके लिए, किसी नाटककी पुस्तक उस समय बडी आसानीसे बेची जा सकती है जब दर्शक नाटक देखने जा रहा हो परन्तु नाटक देखकर बाहर आ जानेपर वह कभी उस पुस्तककी ओर ध्यान भी नही देगा। राजनीतिक सभाओमे बेची जानेवाली राजनीतिक पुस्तकोंके बारेमे भी यही सत्य है। तमाम व्यापार पुस्तक-विक्रेताओंके द्वारा और उनके जरिये ही किया जाना चाहिये, इस सिद्धान्तका समर्थन करनेका अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य ऐसे अवसरोंके प्रति आँख मूँद ले जब पुस्तक न बेचनेका अर्थ यह होता है कि पुस्तक बादमें बिकेगी ही नही क्योकि ऐसे अवसरोपर लोगोमे पुस्तकके प्रति दिलचस्पी पैदा हो चुकी होती है। सौभाग्यवश, पुस्तक-विक्रेताओंमें इस प्रकारके व्यापारके द्वारा बिक्री बढानेमें सहयोग प्रदान करनेकी प्रवृत्ति बढती जा रही है, और यदि यह निश्चित हो जाय कि इस अवसरको खो नहीं दिया जायगा तो प्रकाशकको इस बातमे सबसे ज्यादा खुशी होगी कि पुस्तक-विक्रेता ही इस सुअवसरका फायदा उठाये। मेरे विचारसे ज्यादा लोग इसमें विश्वास नही रखते कि यदि किसी पुस्तक-विक्रेताको ऐसे सुअवसरोका लाभ उठानेके लिए राजी न किया जा सके तो प्रकाशकको इन अवसरोको हाथसे निकल जाने देना चाहिये।

पुस्तक-विक्रेताओं और किसी निश्चित कोटिकी पुस्तकोंका व्यापार करनेवाले "अन्य व्यापारियों"को मान्यता देनेके अलावा इस समितिने अपनी सिफारिशोंमे "पुस्तक एजेण्टों"के लिए भी स्थान रखा था जिन्हे एक विशेष पुस्तक विक्रेतासे पुस्तकें लेने और कमीशन पानेका अधिकार दिया गया था; इसके साथ ही सार्वजनिक लाइब्रेरियोंकी पुस्तकें सप्लाई करनेकी जटिल समस्याका भी इस समिति द्वारा फैसला करा दिया गया। अब कुछ निश्चित शर्तें पूरी करनेपर, और यदि उनका आर्डर काफी बडा हो तो इन लाइब्रेरियोंको प्रमाणपत्र दिया जा सकता है जिसके आधारपर वे इस प्रमाणपत्रमे इंगित पुस्तक-विक्रेतासे १० प्रतिशत

इंग्लैण्डमें प्रकाशित पुस्तकोंका निर्यात लगातार कई माध्यमोसे होता रहता है। अब हमारे पास यह ऑकडे है कि ब्रिटेनमें छपनेवाली कुल पुस्तकोंमेंसे ३० प्रतिशत विदेशोको निर्यात कर दी जाती है मेरी संस्थाकी तो लगभग ३५ प्रतिशत पुस्तकें विदेशोको भेजी जाती है।

"मान्यता" देनेसे सम्बन्धित सभी प्रश्नोका अन्तिम निर्णय कौंसिल ऑफ पब्लिशर्स असोसिएशनके हाथमे होता है परन्तु ऐसा शायद ही कभी होता हो कि संयुक्त सलाहकार समिति (जे० ए० सी०) की सिफारिशोका विरोध किया जाता हो।

सार्वजनिक लाइब्रेरियाँ—कुछ बातोकी दृष्टिसे यह बडे दुर्भाग्यकी बात है कि इनका प्रकाशनक्षेत्रसे सीधे कोई सम्पर्क नही रहता, यद्यपि वे अच्छे प्रकारकी आम पुस्तकोंके प्रकाशकोकी सामूहिक रूपसे सबसे अच्छी ग्राहक होती है। यदि अधिकतर लाइब्रेरियो (पुस्तकालयो) के पदाधिकारी नयी पुस्तकोके खरीदनेपर इतनी कम रकम न खर्च करें—वास्तवमें यदि वे उस वस्तुका महत्त्व इतना कम न ऑके जिसके लिए सार्वजनिक लाइब्रेरियाँ स्थापित की जाती है—तो वे अच्छी पुस्तकोंके प्रकाशनकी दिशामे निर्णायक प्रभाव डाल सकती है क्योंकि वे उपयोगी पुस्तकोका समर्थन करती हैं और फजूल किताबें खरीदनेसे इनकार करती है। ग्रेट ब्रिटेनमे सार्वजनिक लाइब्रेरियोंकी व्यवस्थापर श्री लायोनेल आर० मेककालविनकी विद्वत्तापूर्ण तथा विस्तृत रिपोर्ट[1] मे इस समस्यापर पूरी तरह विचार किया गया है, इसलिए मेरे इस विषयपर टीका करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। परन्तु यह बात बहुत ही थोडे लोगोको मालूम है कि लाइब्रेरी कमेटियोका एक छोटा-सा अल्पमत (जिसमें लन्दनके दो-एक धनाढ्य इलाकोंकी लाइब्रेरियाँ भी शामिल हैं) ऐसी नीतिके पक्षमें है जिसके द्वारा यह सुनिश्चित हो जाय कि इन लाइब्रेरियो द्वारा पाठकोंको दी जानेवाली प्रतियोंपर किसी लेखकको कोई पारिश्रमिक न मिलने पाये। इन

१. लाइब्रेरी असोसिएशन, १९४२। देखिये पृष्ठ ५८-६० और १९५।

लाइब्रेरियोंके लाइब्रेरियन समालोचनार्थ भेजी गयी प्रतियाँ बेकार हो जानेपर उन्हें खरीदकर या बाकी बचे स्टाकके रूपमें कम दामपर बेची गयी प्रतियाँ, या कभी-कभी तो ऐसी प्रतियाँ भी जो बादमें चोरीकी निकलती हैं, खरीदकर अपना ध्येय प्राप्त करनेमें सफल हो जाते हैं—और स्पष्टतः वे इसे प्रशंसनीय समझते हैं। उन्हें केवल एक बातकी धुन होती है कि पुस्तक सस्ती हो और गैरकानूनी तौरपर वे २½ प्रतिशतकी भी बचत कर सकते हों तो वे पुस्तक-विक्रेताओंसे लिखित करारनामेका उल्लंघन करनेकी सलाह देनेमें नहीं हिचकते और इसे वे बड़ी चातुर्यकी बात समझते हैं। मैं इस अल्पमतका उल्लेख यहाँ इसलिए कर रहा हूँ कि मैं श्री मैककाल्विनके इस कथनका पूरी तरह समर्थन करता हूँ कि "जहाँ कहीं भी स्थानीय पदाधिकारी अपने कर्तव्यका पालन ठीक तरहसे नहीं करते (लाइब्रेरीकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें) वहाँ केवल उस स्थानीय समाजको ही नहीं बल्कि पूरे देशको हानि पहुँचती है...।"

सार्वजनिक पुस्तकालयोंके व्यवस्थापकोंके कारनामे (सरकारी, धार्मिक भी और स्वसाधित भी, तथा उनका प्रभाव दोनों ही बहुत अधिक है। यह कहना असम्भव है कि ज्ञान और पुस्तकोंके प्रति रुचि फैलानेमें उनका कितना हाथ रहा है। यहाँके लाइब्रेरियनोंको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं होती, और हमारा सौभाग्य है कि हमारे देशमें ऐसे लाइब्रेरियनोंकी संख्या काफी है, कि सुरुचिपूर्ण ढंगसे छपी पुस्तकें ही सबसे अच्छी होती हैं, और सबसे सस्ती पुस्तकें (पुनर्मुद्रितोंको छोड़कर) शायद ही कभी अच्छी होती हैं।

बिलकुल नहीं है कि वे अपने आम सम्पर्कोको त्याग दें, मै केवल यह कहना चाहता हूँ कि वे किसी एक क्षेत्रमे इतना विकास करें कि वे उस क्षेत्रके विशेषज्ञ माने जाने लगें। ऐसी दशामे पुस्तक-विक्रेता ग्राहकोकी स्वीकृति प्राप्त करनेके लिए पुस्तके भेजने तथा वितरित करने-का काम अधिक प्रभावकर ढंगसे कर सकता है।

परन्तु मै यहाँ पुस्तके बेचनेके एक ऐसे ढंगका उल्लेख किये बिना नही रह सकता, जिसमें यद्यपि तुरन्त लाभ होनेकी सम्भावना तो नहीं होती परन्तु वह तरीका है बहुत उपयोगी तथा रोचक और मुझे इस तरीकेके प्रति हमेशासे बड़ी दिलचस्पी रही है। यह है चलती-फिरती पुस्तकोकी दूकानोंका तरीका अर्थात् कारवाँ बुकशाप्स। इंग्लैण्डके देहातोमे बहुतसे ऐसे लोग रहते हैं जिनकी किसी पुस्तककी दूकानतक पहुँच नही हो पाती। यदि लोग पुस्तककी दूकानतक नहीं पहुँच सकते तो इसका इलाज यह है कि पुस्तककी दूकान ही उनतक पहुँचायी जाय। जिन गाँवो और कस्बोमें एक पुस्तककी दूकान चलानेकी सम्भावना नहीं होती, उनकी सुविधाके लिए सभ्य सुव्यवस्थित समाजमे होना तो यह चाहिये कि हर माह एक घूमने-फिरनेवाली दूकान वहाँका चक्कर लगाये और अच्छा तो यह हो कि वह हर महीने एक निश्चित दिनपर ही वहाँ पहुँचे।

शुरूमें तो इस प्रकारकी घूमने-फिरनेवाली दूकानमे बच्चोंकी सस्ती किताबों और व्यावहारिक उपयोगकी पुस्तकोंकी बिक्री ही सबसे ज्यादा होगी, परन्तु धीरे-धीरे अन्य प्रकारकी पुस्तकोंकी खपत भी बढ़ने लगेगी। इन दूकानोंके लिए यह भी आवश्यक होगा कि वे बुक-टोकेन स्वीकार करके उनके बदलेकी पुस्तकें दें क्योंकि आज जो परिस्थिति है उसमें सुदूर प्रदेशोंमे रहनेवाले लोगोंके लिए, जो किताबोंकी दूकानोंसे बहुत दूर रहते हैं, इन बुक-टोकेनोंके बदलेकी पुस्तकें प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

इस प्रयासको सफल बनानेके लिए स्थानीय सहयोग बड़ी आसानी-से प्राप्त हो सकता है, और दूकानके पहुँचनेके दिन पुस्तकोंके बारेमें आसानीसे समझमे आने योग्य भाषणोंका आयोजन किया जा सकता

है, और इस प्रकार इसे पुस्तकें पढ़नेकी रुचि पैदा करनेके लिए एक ज्ञानप्रचार आन्दोलनका रूप दिया जा सकता है। इस प्रयासकी सफलता या असफलता बहुत हदतक इसपर निर्भर होगी कि उस पुरुष या स्त्रीमें जो इस प्रयासका साहस करता है, कितना उत्साह है और उसका व्यक्तित्व कितना प्रभावशाली है। सवाल वही पुराना है कि इस कामके लिए कोई उचित आदमी ढूंढ़ा जाय; यदि कोई पुस्तक-प्रेमी अपने स्वास्थ्यको बेहतर बनानेके लिए खुली हवामें घूमने-फिरनेका जीवन व्यतीत करना चाहता हो तो उसके लिए इससे अच्छा और क्या काम हो सकता है?

कई लोग इस विचारको कोरी कल्पना कहेंगे, परन्तु किताबें उधार देनेवाली ग्राम्य लाइब्रेरियोंके सम्बन्धमें इसी प्रकारकी योजना अत्यन्त सफल सिद्ध हुई है और कोई कारण नहीं है कि इसी प्रकारकी पुस्तकोंकी बिक्रीकी व्यवस्था करनेमें दुर्गम कठिनाइयोंका सामना करना पड़े। एक अत्यन्त उद्यमशील महिलाने इस प्रकारका प्रयोग किया था और वे इस कामसे अपना सारा खर्च निकाल लेती थीं, परन्तु दुर्भाग्यवश वे अपने स्थापित किये हुए सम्पर्कोंका फायदा उठानेके लिए इस कामको ज्यादा दिनतक जारी न रख सकीं। जबतक दूकानदारकी आमदनी नियमित न हो जाय और लोग उसके आनेकी प्रतीक्षामें न रहने लगें तबतक कामसे किसी लाभकी आशा नहीं की जा सकती।

मजदूरोंकी ओर कोई ध्यान ही नहीं देते जो उस समयमें जबकि उनकी दूकानें खुली रहती हैं, वहाँ नहीं जा सकते।

ऊपर कही गयी बातोंसे अलग, सवाल यह उठता है कि क्या फुटकर और थोक समाचारपत्र तथा पत्रिकाएँ बेचनेवालोंको यह प्रोत्साहन न दिया जाना चाहिये कि वे अपनी समाचारपत्र तथा पत्रिकाएँ वितरित करनेकी अत्यन्त सुसंघटित व्यवस्थाको इस आधारपर विकसित करें कि उनके यहाँ "आर्डर देनेपर कोई भी पुस्तक" शीघ्रतापूर्वक और निश्चित रूपसे प्राप्त हो सके। बहुत-सी ऐसी जगहोंपर जहाँ समाचारपत्र-विक्रेता तो होते है पर पुस्तक-विक्रेता नही होते, इस प्रकारकी व्यवस्था जनसाधारणके लिए बहुत सुविधाजनक हो सकती है, क्योकि ऐसे स्थानोंमें जब आम ग्राहकोंको कोई पुस्तक अपने शहर या कस्बेमे नहीं मिलती तो वे समझ बैठते है कि वह पुस्तक अप्राप्य है। आजकी परिस्थितिमें यदि कोई समाचार-विक्रेता न तो अपने ग्राहकको किसी पुस्तक-विक्रेताका पता बताता है और न ही उसकी जरूरतकी पुस्तक मँगा देनेका जिम्मा लेता है तो वह पुस्तक-वितरणके काममे निश्चित रूपसे बाधा डालता है।

परन्तु प्रचलित तरीकोंको ही लेते हुए, सच्चे पुस्तक-विक्रेताओंकी बढ़ती हुई संख्याकी प्रशंसा किये बिना ही इस अध्यायको समाप्त कर देना अनुचित होगा। प्रोफेसर लास्कीने न्यू स्टेट्समैनमें इन पुस्तक-विक्रेताओंके बारेमें लिखा था कि वे "सभ्यताके जीवन आधारका एक अंग" है। "बात केवल इतनी नहीं है कि उनके पास संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु बेचनेके लिए होती है। यह सत्य—कि वे अच्छे पुस्तक-विक्रेता हैं—उनकी दूकानोंमे ऐसे अधिकांश लोगोंको खींचकर लाता है जिन्हें कुछ कहना होता है। वह शहर जिसमें अच्छा पुस्तक-विक्रेता नहीं होता, ऐसे शरीरके समान होता है जिसमे आत्मा नहीं होती।"

हम उनका जितना आभार मानें, कम है।

कि इस पूरी समस्यापर निष्पक्ष रूपसे विचार किया जाय और
बातका पता लगाया जाय कि क्या सबसे कम समझदार-संस्थाओं द्वा
प्रयोग किये जानेवाले विज्ञापनके सबसे आम तरीके ही विज्ञाप
सर्वोत्तम तरीके हैं, या (कमसे कम कई किताबोंके सम्बन्ध
विज्ञापनके अन्य तरीके ज्यादा उपयोगी सिद्ध हो सकते है। पुस्तकों
विज्ञापनपर विचार करते समय हमारे सामने फिर वही समस्या
खड़ी होती है जो पुस्तक प्रकाशनसे सम्बन्धित प्रायः सभी प्रश्नो
बहसके दौरानमे उठती है, अर्थात्, बहसमें भाग लेनेवाले त
व्यक्तियोंमेंसे दो ऐसे अवश्य होगे जो उपन्यासोंको ही दृष्टिमे रख
बात करते है, वे तमाम पुस्तकोंके बारेमे बात नहीं करते।

पुस्तक-परिचय—यदि हम पुस्तकोंके विज्ञापनके प्रश्नपर पू
तरह विचार करना चाहते है तो हमें बिलकुल शुरूसे शुरुआत कर
चाहिये, अर्थात् पुस्तकका विवरण देनेवाली उस सामग्रीसे जो प्रकाशक
सूचीपत्रमें, पुस्तकके आवरण-पृष्ठपर, सफरी एजेण्टोंको भेजी जानेवा
पूर्व-सूचनामें और पत्र-पत्रिकाओंमें छापी जाती है। पुस्तकका य
संक्षिप्त विवरण, जिसे अंग्रेजीमें बहुधा "ब्लर्ब" कहते हैं, लिख
अत्यन्त कठिन काम है। (यदि किसीको हमारे इस कथनमें सन्देह ह
तो वह किसी प्राचीन ख्यातिप्राप्त पुस्तकका विवरण लिखनेकी कोशिश
करके इस कथनके सत्यको आजमा सकता है।) रुचिकर होनेके लिए इ
विवरणको संक्षिप्त होना चाहिये; समाचारपत्रके सम्पादकका ध्या
आकर्षित करनेके लिए, यदि सम्भव हो तो, उसका समाचारकी दृष्टि
भी कुछ महत्व होना चाहिये, पुस्तक-विक्रेताओं और लाइब्रेरियनों
लिए उपयोगी होनेके लिए उसमें पुस्तककी विषय-सामग्रीके बारेमें काफ
जानकारी दी जानी चाहिये। सम्भव हो तो यह भी बता देना चाहिये
कि इस लेखकमें उस विषयपर पुस्तक लिखनेके लिए क्या विशे
योग्यताएँ है। उपन्यासोंके परिचयमें कहानीका वृत्तान्त किस हदतक
दिया जाय, यह एक ऐसी समस्या है जिसपर विशेष ध्यान देनेकी

समाचारपत्रके लिए महत्त्व हो सकता है और दूसरेके लिए नहीं। उदाहरणके लिए, पब्लिशर्स सर्कुलर जैसे पत्रके लिए हर आगामी प्रकाशनका विवरण समाचारकी दृष्टिसे महत्त्व रखता है और इसीलिए यह पत्रिका उसके पास पहुँचनेवाली प्रायः हर चीज छाप देती है और बहुधा तो उसी रूपमें जिस रूपमें कि भेजी जाती है। महत्त्वपूर्ण नये प्रकाशनोंकी सूचना देते हुए उनका विवरण छापना कई दैनिक समाचारपत्रोंकी विशेषता है; परन्तु इन सब अखबारोंमें पुस्तकोंका विवरण प्रायः हमेशा इन अखबारोंके दफ्तरोंका ही कोई कर्मचारी लिखता है, जो इस प्रकारके समाचार जमा करनेपर काफी समय व्यतीत करता है। यह सामग्री जितनी कुशलतापूर्वक प्रस्तुत की जाती है उससे नये परिचय-लेखक या वे लेखक जिन्हें पहली बार अपनी पुस्तकका "परिचय" लिखनेका अवसर प्राप्त होता है, बहुत कुछ सीख सकते हैं। अन्य कई मामलोंकी तरह इस मामलेमें भी प्रकाशकके नामका बड़ा महत्त्व होता है। समाचारपत्रोंके सम्पादक जानते हैं कि कौन-सी संस्थाएँ ऐसी है जो आँख बन्द करके पाण्डुलिपियाँ खरीदती हैं और कौन संस्थाएँ ऐसी है जो पाण्डुलिपियाँ सावधानीसे पसन्द करके लेती हैं। यदि किसी गम्भीर विषयपर कोई विशेष संस्था कोई पुस्तक प्रकाशित करती है तो वह निश्चय ही अच्छी समझी जाती है और उसके विवरणपर अवश्य ही विचार किया जाता है। परन्तु उसी प्रकारकी किसी दूसरे प्रकाशककी पुस्तककी सूचनाकी ओर ध्यान न दिया जाना भी प्रायः उतना ही निश्चित है।

समालोचनार्थ प्रतियाँ—जहाँतक पुस्तककी समालोचनाका सम्बन्ध है, इसमें तो प्रकाशकके नामका महत्त्व और भी ज्यादा होता है। प्रमुख समाचारपत्रोंके साहित्य-सम्पादकोंके पास समालोचनार्थ भेजी गयी पुस्तकोंका अम्बार लगा रहता है। किसी भी साधारण पत्रके लिए उन सबपर विचार करनेका प्रयत्न करना असम्भव-सा है। अधिकांश समाचारपत्रोंके दफ्तरोंमें इस प्रकारके पार्सल आते ही पुस्तकोंको

उनके नामपर निशान लगा दिया जाता है। यदि पुस्तक किसी विशेष विषयपर हो तो प्रकाशक प्रायः हर दशामे लेखकसे परामर्श कर लेता है ताकि कोई महत्त्वपूर्ण पत्र या पत्रिका रह न जाय। कुछ भी हो, लेखकोके तर्कसंगत सुझाव हमेशा स्वीकार कर लिये जाते है। किसी ऐसे पत्रको प्रतियाँ भेजनेका सुझाव, जो बहुत दिनो पहले ही ठप हो चुका हो, लेखकके सुझावोके प्रति प्रकाशकका विश्वास खो देता है। इसके विपरीत, कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिन्हे प्रकाशक निस्संकोच समालोचकोकी छपी हुई सूची भेज देता है कि वे उसपर निशान लगाकर वापस भेज दे।

सम्पादकके दफ्तरमे समालोचनार्थ पुस्तककी प्रति पहुँचाकर और उससे उसकी रसीद प्राप्त करके प्रकाशकका काम खत्म हो जाता है; उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह सम्पादकोपर पत्रोकी बौछार करके उनसे पूछे कि वे समालोचना कबतक प्रकाशित करेगे, या यह कि उन्होने समालोचना क्यो नही छापी। लेखक इस सम्बन्धमे जो कुछ करते है वह उनकी जिम्मेदारी है, परन्तु यह उनके हितमे होगा कि वे इस सम्बन्धमे सोच-समझकर ही कोई कदम उठाये, क्योकि लाभ पहुँचनेकी अपेक्षा हानि पहुँचनेकी ही सम्भावना अधिक होती है। कई सम्पादकोमे एक बहुत बुरी आदत यह होती है कि जब कोई लेखक पत्र लिख-लिखकर उनकी नाकमे दम कर देता है तो वे यह कहकर कि उन्हे पुस्तककी प्रति समालोचनार्थ भेजी ही नहीं गयी, बला अपने सरसे टाल देते है। ऐसा करना प्रकाशकके साथ ज्यादती करना है, क्योकि इससे उसकी कार्य-कुशलतापर आक्षेप होता है। कुछ उदाहरणोमे तो प्रकाशकसे कुछ पूछे बिना ही लेखक उसकी निन्दा करने लगता है, और बहुधा उसके पास शिकायत लिखकर भेजता है। संस्थापर दर्जनो बार इस प्रकारका आरोप लगाया गया है, परन्तु जब भी ऐसा किया गया है, हमें कभी भी यह साबित करनेमें कठिनाई नहीं हुई है कि पुस्तककी प्रति सम्पादकको भेजी गयी थी, क्योंकि हमारे पास

उनके नामपर निशान लगा दिया जाता है। यदि पुस्तक किसी विशेष विषयपर हो तो प्रकाशक प्रायः हर दशामे लेखकसे परामर्श कर लेता है ताकि कोई महत्त्वपूर्ण पत्र या पत्रिका रह न जाय। कुछ भी हो, लेखकोंके तर्कसंगत सुझाव हमेशा स्वीकार कर लिये जाते है। किसी ऐसे पत्रको प्रतियाँ भेजनेका सुझाव, जो बहुत दिनों पहले ही ठप हो चुका हो, लेखकके सुझावोंके प्रति प्रकाशकका विश्वास खो देता है। इसके विपरीत, कुछ लेखक ऐसे होते हैं जिन्हें प्रकाशक निस्संकोच समालोचकोंकी छपी हुई सूची भेज देता है कि वे उसपर निशान लगाकर वापस भेज दे।

सम्पादकके दफ्तरमें समालोचनार्थ पुस्तककी प्रति पहुँचाकर और उससे उसकी रसीद प्राप्त करके प्रकाशकका काम खत्म हो जाता है; उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सम्पादकोंपर पत्रोंकी बौछार करके उनसे पूछे कि वे समालोचना कबतक प्रकाशित करेंगे, या यह कि उन्होने समालोचना क्यों नही छापी। लेखक इस सम्बन्धमे जो कुछ करते हैं वह उनकी जिम्मेदारी है, परन्तु यह उनके हितमे होगा कि वे इस सम्बन्धमे सोच-समझकर ही कोई कदम उठायें, क्योंकि लाभ पहुँचनेकी अपेक्षा हानि पहुँचनेकी ही सम्भावना अधिक होती है। कई सम्पादकोंमें एक बहुत बुरी आदत यह होती है कि जब कोई लेखक पत्र लिख-लिखकर उनकी नाकमे दम कर देता है तो वे यह कहकर कि उन्हें पुस्तककी प्रति समालोचनार्थ भेजी ही नहीं गयी, बला अपने सरसे टाल देते हैं। ऐसा करना प्रकाशकके साथ ज्यादती करना है, क्योंकि इससे उसकी कार्य-कुशलतापर आक्षेप होता है। कुछ उदाहरणोंमें तो प्रकाशकसे कुछ पूछे बिना ही लेखक उसकी निन्दा करने लगता है, और बहुधा उसके पास शिकायत लिखकर भेजता है। संस्थापर दर्जनों बार इस प्रकारका आरोप लगाया गया है, परन्तु जब भी ऐसा किया गया है, हमें कभी भी यह साबित करनेमें कठिनाई नहीं हुई है कि पुस्तककी प्रति सम्पादकको भेजी गयी थी, क्योंकि हमारे पास

उस सम्पादकके दफ्तरके किसी कर्मचारीके हाथकी दस्तखत की हुई रसीद रहती है। कुछ समाचारपत्रोंके दफ्तरोंमे समालोचानार्थ भेजी गयी प्रतियाँ इधर-उधर पडी रहती है और उनका कोई हिसाब-किताब नही रखा जाता। अधिकांश अच्छे अखबारोंके दफ्तरोंमे इस सम्बन्धमें बडी सावधानी बरती जाती है और साहित्य-सम्पादक अपनी पुस्तकोंपर कडी निगरानी रखता है।

आजकल बहुत थोडे प्रकाशक ही ऐसे हैं जो समालोचनार्थ भेजी गयी प्रतियोंके मुखपृष्ठपर मुहर लगाकर उन्हें खराब करते हो, परन्तु कई प्रकाशक अन्दर किसी स्थानपर मुहर जरूर लगा देते है। पुस्तकोंकी समालोचना लिखनेवालोंको बहुधा बहुत ही थोडा पारिश्रमिक दिया जाता है इसलिए उन्हे इस बातका पूरा अधिकार है कि वे इन पुस्तकोंको बेचकर जितना भी वसूल कर सकें वसूल कर लें। परन्तु साथ ही उनसे यह कह देना भी उचित होगा कि वे कुछ समय बीत जानेपर ही उस प्रतिको बेचे। समाचारपत्रोंमे पुस्तकके प्रकाशनकी सूचना उसके प्रकाशनके ही दिन छपवानेके लिए समालोचनार्थ प्रतियाँ बहुधा पहलेसे भेजी जाती है। ऐसे भी उदाहरण देखनेमें आये है कि पुस्तक प्रकाशित होनेसे पहले ही समालोचनार्थ भेजी गयी प्रतियाँ पुरानी किताबोंकी दुकानोमे पहुँच गयी हैं। ऐसा करना सर्वथा अनुचित है। मेरी रायमे समालोचनार्थ भेजी गयी प्रतियाँ तीन माहसे पहले न बेची जानी चाहिये। समालोचनार्थ भेजी गयी प्रतियाँ सार्वजनिक लाइब्रेरियोंके हाथ जिस संघटित रूपसे बेची जाती है, उसके कारण प्रकाशकों तथा लेखकों दोनोकी ही चिन्ता बढती जा रही है और इसके कारण गूढ़ अध्ययनके बाद लिखी गयी ऐसी पाण्डित्यपूर्ण रचनाओंके प्रकाशनमे बडी बाधा पड रही है, जिनकी बिक्री बहुत ही सीमित क्षेत्रमें होती है और एक प्रतिके हेर-फेरसे भी बड़ा अन्तर पड जाता है। परन्तु कठिनाई तो यह है कि समालोचक इस बातको जानता है कि जितनी ही जल्दी वह उस प्रतिको बेच देगा उतने ही अच्छे दाम वह वसूल कर सकेगा।

समालोचनार्थ भेजी गयी हर प्रतिके साथ एक छपी हुई पर्ची भेजी जाती है जिसपर उस पुस्तकके प्रकाशनकी तारीख लिखी रहती है और यह अनुरोध किया जाता है कि उस तारीखसे पहले उस पुस्तकके बारेमे कोई समालोचना प्रकाशित न की जाय। यदि कोई समाचारपत्र इस अनुरोधकी अवहेलना करके उस तारीखसे पहले ही समालोचना छाप देता है तो उसे प्रकाशनसे पहले समालोचनार्थ प्रतियाँ पानेका अधिकार नहीं रह जाता, परन्तु बहुधा इस प्रकारकी कठिनाइयाँ पैदा नहीं होती; बल्कि आजकल तो कठिनाई इसमे होती है कि समालोचना ठीक समयपर प्रकाशित हो जाय। पुस्तकके प्रकाशनके दिन या उसके एक हफ्तेके अन्दर जितनी अधिक समालोचनाएँ प्रकाशित हो जायँ, पुस्तकके लिए उतना ही अच्छा है। एक जमानेमे तो यदि पुस्तकके प्रकाशनके कुछ सप्ताहके भीतर पुस्तककी समालोचना प्रकाशित नहीं होती थी तो यह समझ लिया जाता था कि समालोचना कभी भी प्रकाशित नहीं होगी। परन्तु आजकल तो इस प्रकारके बहुतसे उदाहरण मिलते हैं कि कोई भी अच्छी समालोचना पुस्तकके प्रकाशनके तीन सप्ताहसे पहले प्रकाशित ही नहीं होती।

समाचारपत्रोंकी समालोचनासे बिक्रीमे कितनी सहायता मिलती है, यह बहुत ही अनिश्चित बात है। ऐसा भी देखा गया है कि **द टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेन्ट**, या **स्पेक्टेटर**, या **न्यू स्टेट्समैनमे** केवल एक समालोचना छप जानेसे कुछ पुस्तकोंको सफलता प्राप्त हो गयी है; और यह भी हुआ है कि इन तीनों पत्रोंमें किसी अन्य पुस्तककी बहुत ही अच्छी समालोचनाएँ छपनेके बाद भी कोई प्रभाव नहीं हुआ है। दो बातें निश्चित हैं, अर्थात् अच्छी समालोचनाका अर्थ आवश्यक रूपसे यह नहीं होता कि बिक्री भी अच्छी होगी, और न तो समालोचनाएँ न छपने-का ही अर्थ यह होता है कि बिक्री बुरी हो। उस पुस्तकके बारेमे क्या कहा गया है, इसकी अपेक्षा कभी कभी इसका महत्त्व ज्यादा होता है कि समालोचना कितनी लम्बी लिखी गयी है, परन्तु इसको भी कसौटी

नहीं बनाया जा सकता। अखबारके समाचारोंवाले हिस्सेमें समालोचना-का छपना हमेशा उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि समझा जाता है—शायद इसका कारण यह है कि सम्पादक पुस्तककी तमाम रोचक बाते चुनकर दे देता है और पाठक पुस्तकको स्वयं खरीदनेकी कोई आवश्यकता ही नही समझता। डाक्टर मान्टेग्यू लोमैक्सकी **एक पागलखानेके डाक्टरके अनुभव** नामक पुस्तककी जितनी समालोचनाएँ अखबारोमें छपी उसकी आधी भी शायद ही किसी पुस्तकको नसीब हुई हो। उसके प्रकाशनके फौरन बाद ही कुछ दिनोके अन्दर बहुत बड़ी संख्यामें बिकनेवाले प्रायः सभी अखबारोमें उसपर बहस करनेमे कई स्तम्भ भर दिये गये; यहाँतक कि इसके फलस्वरूप एक रायल कमीशन भी बिठा दिया गया। कई बार इस प्रकारकी बाते कही गयी कि लेखकने उस पुस्तकसे बहुत दौलत कमा ली है और वह रिटायर होकर उस पूँजीके सहारे निवृत्त जीवन व्यतीत करनेकी बात सोच रहा है। एक डिनरपार्टीमे मेरे सामने यह बात कही गयी। बादमें पुस्तक-पर बहस छिड गयी और बहससे यह मालूम होता था कि सबने वह पुस्तक पढ़ी जरूर है, खरीदी चाहे न भी हो। मैने बारी-बारीसे सबसे पूछा कि किस-किसने उस पुस्तकको खरीदा है। मालूम यह हुआ कि पुस्तक खरीदी तो किसीने भी नही थी, और जितने लोग मौजूद थे उनमेसे केवल दो ऐसे थे जिन्होने लाइब्रेरीसे पुस्तक उधार लेकर पढ़ी थी। शायद यही सब जगह हुआ होगा क्योकि उस समयतक (प्रका-शनके लगभग चार माह बाद) उस पुस्तककी सात सौसे भी कम प्रतियाँ बिकी थीं, और उस समयतक जितना पैसा वसूल हुआ था उससे छपाई, कागज और जिल्दसाजीकी भी लागत वसूल नही हुई थी; प्रकाशक और लेखकको एक दमड़ी भी मिलनेकी बात तो दूर रही। समाचारपत्रोने उस पुस्तकके उद्धरण दे-देकर उसे इतनी बुरी तरह छलनी कर डाला था कि ज्यादातर लोगोको उसे पढनेकी कोई आव-श्यकता ही नही महसूस हुई।

बहुधा प्रकाशकोंके पास सीधे समालोचकोंके पाससे इस आशयके पत्र आते हैं कि समालोचनार्थ प्रति उनके पास भेज दी जाय, कभी-कभी लेखक भी यह आदेश भेज देते हैं कि उनकी पुस्तकोंकी प्रतियाँ सम्पादकके पास (या साहित्य-सम्पादक हो तो उसके पास) न भेजकर किसी समालोचक-विशेषके पास भेज दी जायँ। इस प्रकारकी प्रार्थनाओंको पूरी तरह ठुकरा तो न देना चाहिये, पर उनके बारेमें अच्छी तरह जाँच अवश्य कर लेनी चाहिये। इन प्रार्थनाओंको पूरा करना सम्पादकका अधिकार छीननेके बराबर है (या कमसे कम ऐसा करनेका प्रयत्न तो अवश्य है), और सम्पादकके बजाय इस बातका निर्णय अपने हाथमें ले लेना है कि उसके दफ्तरका कौन-सा कर्मचारी किसी पुस्तक-विशेषकी समालोचना लिखेगा। स्वाभाविक ही है कि सम्पादक अपने अधिकारक्षेत्रमें इस प्रकारका हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते, और कुछ भी हो, उनकी इस तरह उपेक्षा करना न तो शिष्ट है न वांछनीय ही। यह बहुत ही सीधी-सी बात है कि सम्पादकसे पूछ लिया जाय कि यदि पुस्तककी प्रति सीधे उस विशेष समालोचकके पास भेज दी जाय तो उन्हें कोई आपत्ति तो न होगी, या फिर उस समालोचकसे यह कहा जा सकता है कि वह अपने सम्पादकसे उस पुस्तककी प्रति ले ले।

अखबारोंके कटे हुए अंश—प्रकाशक यह आशा करते हैं कि जिन समाचारपत्रोंमें उनकी पुस्तकोंके बारेमें कोई समालोचना छपी हो उसकी प्रमाण-प्रतियाँ ('वाउचर—' कापियाँ) उनके पास भेजी जायँ, और अधिकांश प्रकाशकोंके दफ्तरोंमें समाचारपत्रोंमें उनकी पुस्तकोंसे सम्बन्धित जितनी भी चीजें छपती हैं, उनकी कटिंग (कटे हुए अंश) बड़ी पाबन्दीसे रखी जाती है, लेखक उनका निरीक्षण कर सकते हैं। परन्तु चूँकि अखबारकी ये कतरनें बहुधा बड़े-बड़े रजिस्टरोंमें चिपकायी जाती हैं इसलिए उन्हें लेखकके पास भेजना सम्भव नहीं होता। यदि प्रकाशकको कोई सामग्री दो बार मिल जाय तो वह हमेशा उसे लेखकके पास भेज देनेको तैयार रहता है।

समालोचनार्थ भेजी गयी प्रतियोंसे प्राप्त परिणामोंका हिसाब रखनेके बारेमें कुछ प्रकाशक दूसरे प्रकाशककी अपेक्षा ज्यादा ध्यान देते हैं। मेरी अपनी संस्थामें इस बातके पूरे आँकडे रखे जाते है, जिससे एक नजरमें यह पता चल जाता है कि किस अखबारको किस-किस पुस्तककी प्रतियाँ भेजी गयी थीं और उसने किस-किसकी समालोचना की। यदि कोई समाचारपत्र भेजी गयी पुस्तकोंमेंसे बहुत ही कमकी समालोचना छापता है तो उसे कम पुस्तकें भेजी जाती है। यदि किसी पत्रमें समालोचनाएँ छपना बन्द हो जाती है तो उस अखबारका नाम सूचीमेंसे काट दिया जाता है और केवल उसी समय प्रतियाँ भेजी जाती है जब वह अखबार विशेष रूपसे लिखकर मँगवाये, अन्यथा नहीं। इसके विपरीत, यदि किसी अखबारमें समालोचनार्थ भेजी गयी पुस्तकोंमेंसे काफीकी समालोचनाएँ छपती है तो स्वाभाविक ही है कि उसे अधिक पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी जाती हैं, चाहे वह अखबार सर्वप्रथम श्रेणीका न भी हो, क्योंकि एक प्रकाशित समालोचना दो सम्भावित समालोचनाओंसे कहीं अच्छी है। इस प्रकारका हिसाब रखनेमें थोडी परेशानी तो जरूर होती है पर इससे बहुत काफी प्रतियाँ व्यर्थ जानेसे बचायी जा सकती है। एक बार तो हम एक तथाकथित सम्मानित पत्रिकाकी कलई खोलनेमें भी सफल हुए जो नियमित रूपसे समालोचनार्थ प्रतियाँ मँगवाती थी ओर कभी उनकी समालोचना नहीं छापती पर उन्हें बेचना कभी नहीं भूलती थी।

समालोचनाओं और विज्ञापनोंके बीच उससे बहुत कम सम्बन्ध होता है जितना कि आम तौरपर समझा जाता है, या जितना कि विज्ञापन लेनेवाले दलाल आपको विश्वास दिलानेकी कोशिश करते हैं। साहित्य-सम्पादक बहुधा अपनी स्वतन्त्रताके बारेमें बहुत हठी होते हैं, और यह उचित भी है। जो मत पैसेसे खरीदा जा सकता है उसका बहुत ही कम महत्त्व होता है, और यदि किसी और कारणसे नहीं तो केवल इसी कारण समझदार प्रकाशक समालोचकके स्वतन्त्र मतका

सम्मान करते है। दुर्भाग्यवश, यह कहना सच न होगा कि विज्ञापनों और समालोचनाओमें कभी कोई सम्बन्ध रहा ही नही है, क्योकि कमसे कम एक महत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र अखबारमे इस प्रकारका सम्बन्ध स्पष्ट रूपसे देखनेमे आता है। इसका कारण बहुत आसानीसे समझमे आ सकता है। जितनी समालोचनाएँ छपती है उनसे कही अधिक संख्यामें समालोचनाएँ कम्पोज करवायी जाती हैं—आखिरी वक्तपर कुछको रद्द कर देना पडता है। कई अखबारोके दफ्तरोंमें विज्ञापन मैनेजरको, जिसे इस बातमे दिलचस्पी होती है कि कौन-सी चीज कहाँपर दी जा रही है और जो हर समय वहाँ मौजूद रहता है, यह फैसला करनेकी इजाजत होती है कि कम महत्त्वकी समालोचनाओमेंसे कौन-सी छापी जायँगी। परन्तु आम तौरपर, समालोचनाएँ बहुत काफी हदतक निष्पक्ष रूपसे छापी जाती है और शायद ही कभी ऐसा होता हो कि कोई सर्वश्रेष्ठ पुस्तक नजरसे चूक जाय, विशेप रूपसे यदि प्रकाशक अपना काम ठीकसे करे।

अन्य मुफ्त प्रतियाँ—लेखकोंके साथ अधिकांश समझौतोमें एक शर्त यह रखी जाती है कि पुस्तकके प्रकाशित होनेपर छ प्रतियाँ लेखकको मुफ्त दी जायँगी और इसे इस बातका भी अधिकार होता है कि वह अपने निजी इस्तेमालके लिए बादमे भी प्रतियाँ उन्ही शर्तोंपर खरीद सके जिनपर कि पुस्तककी प्रतियाँ व्यापारियोको दी जाती हैं। बहुधा तो लेखक पुस्तकके प्रकाशित होनेसे पहले ही ये प्रतियाँ उनके घर भेजे जानेका अनुरोध करते है। लेखककी इस प्रार्थनाको पूरा करना प्रकाशकके लिए बहुधा हितकर नहीं होता क्योकि प्रकाशनसे पहले पुस्तकके प्रचलनसे, और विशेप रूपसे लेखकके मित्रोंके बीच, प्रकाशक प्राय: हमेशा मुसीबतमे फँस जाता है। यदि लेखकका कोई ऐसा मित्र उस पुस्तकको देखता है जिसने उस पुस्तकका आर्डर दे रखा है तो वह जवाब तलब करता है कि उसे पुस्तक क्यो नहीं भेजी गयी। यदि पुस्तक-विक्रेता उससे कहता है कि पुस्तक अभी "प्रकाशित नहीं हुई"

तो वह यह उत्तर देता है, और उसका यह उत्तर देना उचित भी है, कि उसने पुस्तककी एक प्रति स्वयं देखी है। पुस्तक-विक्रेतापर अयोग्य होनेका आरोप लगाया जाता है और चूँकि वह जानता है कि वह निर्दोष है, इसलिए वह प्रकाशकके बारेमें तरह-तरहकी शंकाएँ करने लगता है। यह कोई कल्पित बात नहीं बल्कि आये दिनकी घटना है, और जब कोई प्रकाशक प्रकाशनसे पहले लेखकको पुस्तककी प्रतियाँ देनेसे इनकार करता है, तो ऐसा करनेके लिए उसके पास पर्याप्त कारण होता है।

यह कथन बहुत सत्य है कि किसी पुस्तककी बिक्री आरम्भ करनेका सबसे अच्छा तरीका यह है कि उचित प्रकारके लोगोंसे उसकी चर्चा करवायी जाय। इस विचारसे कभी-कभी लेखक यह सुझाव रखते हैं कि पुस्तककी प्रतियाँ प्रख्यात राजनीतिज्ञों और लेखकोंके पास भेजी जायँ। सम्भव है कि यह सुझाव तर्कसंगत हो, परन्तु दुर्भाग्यवश इस प्रकारकी प्रायः तमाम सूचियोंमें प्रधानमन्त्रीका नाम अवश्य होता है, जिनके बारेमें यह बात निश्चयके साथ कही जा सकती है कि वर्तमान परिस्थितियोंमें उनके पास इतना समय नहीं होता (मिस्टर ग्लैडस्टनकी बात छोड़ दीजिये) कि वे वर्तमान साहित्यके अध्ययनपर समय खर्च करें; फिर कुछ ऐसे राजनीतिज्ञोंका नाम होता है जिनके बारेमें यह बात निश्चित रूपसे मालूम है कि जहाँतक सम्भव होता है वे कोई पुस्तक पढ़ते ही नहीं और फिर ऐसे लेखकोंके नाम होते है जो स्पष्ट रूपसे बता चुके हैं कि उनके पास इस कामके लिए बिलकुल समय नहीं। असली कठिनाई होती है ऐसे उचित प्रकारके लोगोंकी सूची तैयार करनेकी जिन्हे पुस्तक भेजी जाय, और किसी विषयकी विशिष्ट पुस्तकोंको छोड़कर प्रायः सभी अन्य पुस्तकोंके सम्बन्धमे यह कठिनाई बहुधा हल नहीं की जा सकती।

पुस्तककी कितनी प्रतियाँ मुफ्त बाँटी जायँ, यह पुस्तक-पुस्तक-पर निर्भर होता है; किसी ऐसी पुस्तकके सम्बन्धमें, जिसकी माँग बहुत ही सीमित क्षेत्रमें होती है, केवल बीस प्रतियाँ भेजनेसे भी काम चल

जाता है और किसी लोकप्रिय विषयकी सस्ती किताबकी या स्कूलोंकी पाठ्यपुस्तककी दो औसतन प्रतियाँ भेजनी पड़ती हैं। साधारणतया यह संख्या साठ और सौके बीच होती है। इस संख्यामें लेखकको मुफ्त दी जानेवाली छ प्रतियाँ ही नहीं बल्कि प्रकाशकके सफरी एजेण्टोंको दी जानेवाली प्रतियाँ और प्रकाशकके दफ्तरमें हवालेके लिए रखी जानेवाली प्रतियाँ भी शामिल होती हैं और उससे भी गम्भीर बात तो यह है कि इसमें वे प्रतियाँ भी शामिल की जाती हैं जो प्रकाशकको नियमित रूपसे कमसे कम छ सार्वजनिक लाइब्रेरियोंको भेजनी पड़ती हैं।

परन्तु प्रकाशकोंके पास उनके प्रकाशनोंकी मुफ्त प्रतियोंकी माँग कई दूसरी जगहोंसे भी आती रहती है। इन तमाम लोगोंका नाम गिनानेमें बहुत जगह लग जायगी; यदि इन माँगोंका एक अंश भी पूरा किया जाय तो कई और प्रकाशकोंका दिवाला निकल जाय। यह बात आश्चर्यजनक तो अवश्य मालूम होगी, परन्तु एक सप्ताह भी ऐसा नहीं गुजरता जब प्रकाशकोंको यह न समझाना पड़ता हो कि वे पुस्तकें प्रकाशित करते हैं उन्हें बेचनेकी आशासे, और यह आम धारणा कि वे पुस्तकें बाँटकर अपनी जीविका कमा लेते हैं, एक भ्रम है।

जब कोई लाइब्रेरी खोली जाती है तब यह कोई नहीं सोचता कि फर्नीचर किसी फर्नीचरकी दूकानसे मुफ्त ले लिया जाय और बिछानेका फर्श किसी दूसरी दूकानसे मुफ्त प्राप्त कर लिया जाय, परन्तु बहुधा यह बात बिलकुल न्यायोचित समझी जाती है कि पुस्तकें प्रकाशकोंसे मुफ्त प्राप्त कर ली जायँ। औसत व्यक्तिकी यह निश्चित धारणा मालूम होती है कि पुस्तक ऐसी चीज है जो माँगकर पढ़ी जाती है, या उधार ली जाती है, या कभी-कभी चुरायी भी जाती है पर जबतक मजबूरी न आ पड़े तबतक कभी खरीदी नहीं जाती।

ज्ञानवर्द्धिनी संस्थाएँ तथा इसी प्रकारकी अन्य संस्थाएँ मुझे हमेशा इस दिशामें मुख्य रूपसे दोषी प्रतीत होती हैं, एक तो इस कारण कि उनके अस्तित्वका ध्येय ही यह होता है कि वे उस विषयके अध्ययनको

प्रोत्साहित करें जिसमें उन्हें रुचि है और दूसरे इस कारण कि उनसे परिस्थितिसे अच्छी तरह परिचित होनेकी आशा की जाती है। ये संस्थाएँ किताबें खरीदकर पाण्डित्यपूर्ण रचनाओके प्रकाशनको प्रोत्साहन देनेके बजाय, शायद एकमत होकर यह उपाय ढूँढती रहती है कि अपनी लाइब्रेरीके लिए आवश्यक एक प्रति भी किस प्रकार मुफ्त हासिल कर ले। इसी प्रकारकी एक संस्था (जिसका मै सदस्य हूँ), जिसकी आमदनी हजारो पौड है, वडे गर्वसे यह दावा करती है कि यद्यपि उसे पुरानी पुस्तकें खरीदने और उनकी जिल्द बँधवानेपर कई सौ पौड खर्च करने पडते है, परन्तु नयी किताबें खरीदनेपर उसका कुल खर्च ढाई पेस प्रतिवर्ष होता है; क्योकि उसकी पत्रिकाको जितनी भी पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी जाती है वे लाइब्रेरीके लिए हथिया ली जाती हैं। यदि प्रकाशक लाइब्रेरीको इस प्रकार पुस्तक मुफ्त देनेसे इनकार करे तो बहुधा लेखकके पास पत्र भेजकर प्रार्थना की जाती है कि वह उस पुस्तक-की एक प्रति "भेट कर दे"। जो लोग इस प्रकारकी हरकतें करते है, वही यह शिकायत भी करते हैं कि इंग्लैण्डके प्रकाशक उतने साहससे काम नहीं लेते जितना कि यूरोपके अन्य देशोके प्रकाशक। वह यह शिकायत करनेमे भी कभी नही हिचकते कि विदेशोके प्रकाशक गवेपणात्मक रचनाएँ आदि कितनी अधिक संख्यामें छापते है। वे यह नही देखते कि इस सम्बन्धमे उनकी भी कितनी बडी जिम्मेदारी है। विदेशोमें सर्वप्रथम श्रेणीकी पाण्डित्यपूर्ण रचनाका प्रकाशक जानता है कि उस विषयमे दिलचस्पी रखनेवाली सभी संस्थाएँ उस पुस्तककी प्रतियाँ खरीदेगी; इंग्लैण्डके प्रकाशकको यह ध्यान लगा रहता है (दुर्भाग्यकी बात है !) कि उससे पुस्तकी प्रतियॉ मुफ्त देनेकी आशा की जायगी। जबकि विदेशोके प्रकाशकको यह विश्वास हो कि वह ५० पौड कीमत-की प्रतियॉ बेच लेगा और इंग्लैण्डके प्रकाशकको उतना ही पक्का विश्वास हो कि उसे वही ५० पौंड कीमतकी पुस्तकें मुफ्त दे देनी पड़ेंगी तो उनकी दोनोकी परिस्थितियोमें जो अन्तर होगा वह सम्भावित

लाभको निश्चित हानिमें बदल देनेके लिए काफी होगा।

जब अमेरिकाकी या अपने देशकी पैसेवाली संस्थाएँ मेरी संस्थाके पास किसी सस्ती-सी किताबकी एक प्रति उन्हें "भेंट कर देने"की प्रार्थना भेजती हैं तो हम उन्हें निम्नलिखित "छपा हुआ पत्र" भेज देते हैं जो हमने इसी उद्देश्यसे विशेष रूपसे तैयार कराके रख छोड़ा है :

> हमे आपका ------ तारीखका पत्र मिला और हम आपको, आपकी प्रार्थनाके अनुसार, ------ नामक पुस्तककी एक प्रति ------ द्वारा भेज रहे है।
>
> परन्तु हमे बड़ा आश्चर्य है कि ------ जैसी सस्थाके आर्थिक साधन इतनी सस्ती पुस्तककी एक प्रति खरीदनेका भार सहन करनेमे असमर्थ हैं, और हमे उन परिस्थितियोपर सचमुच बडा खेद है जिनके कारण आपको हमसे दानकी प्रार्थना करनेपर बाध्य होना पडा।

यह तरकीब हमेशा उपयोगी सिद्ध हुई है; इसके फलस्वरूप पैसे भी आ जाते हैं और प्रकाशककी स्थितिको ज्यादा अच्छी तरह समझनेमें सहायता भी मिलती है।

प्रकाशकोंको परोपकारी या खैराती संस्थाएँ समझनेकी आदत इतनी दृढ़ हो चुकी है कि इस प्रकारकी एक पुस्तककी मुफ्त प्रतियोंके लिए जो प्रार्थनापत्र आये उनकी संख्या बिकनेवाली कुल प्रतियोंकी संख्यासे तीनगुनी थी।

समाचारपत्रोंमें विज्ञापन—हाँ, तो हम समाचापत्रोंमें विज्ञापन-पर विचार कर रहे थे। कुछ संस्थाएँ केवल इसी प्रकारके विज्ञापनोंकी तरफ अधिक ध्यान देती हैं। एक तरहसे तो हमें इस सम्बन्धमें बिलकुल ही ज्ञान नहीं है, या है भी तो बहुत थोड़ा, कि जहाँतक पुस्तकोंका सम्बन्ध है समाचारपत्रोंमें विज्ञापन देनेका कितना महत्त्व है और इसका कितना प्रभाव होता है। परन्तु कोई भी प्रकाशक ऐसा नहीं होगा

जिसने थोडे समयके व्यापारके अनुभवमें ही इस सम्बन्धमे काफी जानकारी न प्राप्त कर ली हो कि आम विज्ञापन-विशेषज्ञ पुस्तक-विक्रेताओके लिए ज्यादा उपयोगी नही सिद्ध हो सकते। जिन प्रकाशकोने इस प्रकारके विशेषज्ञोकी सहायता ली है उनमेसे अधिकांश इस विषयमे तो एकमत होगे ही। साधारण विज्ञापन-दाताओको जिन समस्याओका सामना करना पडता है वे कई बातोमे बुनियादी तौरपर भिन्न होती हैं; विज्ञापन एजेण्टोको जब सहसा पुस्तकोके सम्बन्धमें अपने विशेष ज्ञानका प्रयोग करना पडता है तो बहुधा उन्हे पहली बार इस सत्यका आभास होता है। पहली बात तो यह है कि किसी एक पुस्तकके विज्ञापनपर जो रकम खर्च की जा सकती है वह बहुत ही सीमित होती है क्योंकि किसी एक पुस्तककी खपत भी बहुत ही सीमित होती है। किसी व्यापक खपतवाली वस्तुका व्यापारी अपना हिसाब पौंडोमें लगाता है जब कि प्रकाशककी क्षमता पेंसोंतक ही सीमित रहती है। और फिर, यह बात सबसे महत्त्वपूर्ण है, कि प्रकाशकके मालकी माँग बार-बार नही होती जैसी कि उन वस्तुओंकी होती है जिनकी माँग सफल विज्ञापनके द्वारा बढ़ायी जा सकती है, जैसे सिगरेट या साबुन। यदि "१३नं० साबुन" सचमुच "मैलके लिए नाशक" सिद्ध होता है तो वही ग्राहक जिसने किसी विज्ञापनसे उत्प्रेरित होकर उसे आजमाया था उसकी दूसरी टिकिया भी खरीदता है। पुस्तकोका यह नियम है कि पुस्तककी एक प्रतिसे उसके ग्राहककी उस पुस्तककी जरूरत पूरी हो जाती है, और (दुर्भाग्यवश!) शायद उसके कई मित्रोंकी भी जरूरत पूरी हो जाती है जिन्हे वह पुस्तक पढनेको दी जाती है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई और भी है, और वह यह कि हममेंसे प्रायः सभी लोग किसी न किसी साबुनके खरीदार होंगे, लेकिन शायद ही कोई पुस्तक ऐसी होती हो जिसके बारेमे यह आशा की जा सके कि जनताका एक बहुत ही नगण्य हिस्सा भी उसका खरीदार हो सकता है। पुस्तकोके सम्बन्धमे हमारी आवश्यकताएँ भोजन या कपडे या मंजनकी अपेक्षा बहुत ही निजी और

वैयक्तिक होती हैं। जो लोग यह समझते हैं कि दैनिक पत्रोंमें लम्बे-चौडे विज्ञापन देना ही वास्तविक विज्ञापन है, यही बात हमेशा भूल जाते हैं। विज्ञापन-सम्बन्धी समस्याओंपर परामर्श देनेवालोंका यह कहना बिलकुल सच है कि यदि पाठकोंकी संख्याके हिसाबसे देखा जाय तो बडी संख्यामें बिकनेवाले अखबार बहुधा विज्ञापनोंके लिए सबसे सस्ते होते है, परन्तु इस तर्ककी सार्थकता इस बातपर आधारित है कि अखबारका हर पाठक एक सम्भावित ग्राहक होता है और इसी कारण दैनिक समाचारपत्र कुछ प्रकारकी पुस्तकोंके विज्ञापनके लिए सबसे मँहगे और सबसे कम सफल माध्यम होते है। इन अखबारोंमें विज्ञापन देनेसे विज्ञापन-दाताको बहुतसे ऐसे पाठकोंके लिए भी खर्च देना पड़ता है जो उसके लिए सर्वथा बेकार हैं। तमाम सफल विज्ञापन-दाता इस बातसे भली भाँति परिचित हैं कि उन लोगोंसे, जिन्हे उनके मालमें निश्चित रूपसे दिलचस्पी हो, एक बार अपील करना कहीं ज्यादा प्रभावकर होता है बजाय इसके कि ऐसे लोगोंसे दो या तीन बार अपील की जाय जिन्हें उनके मालमें दिलचस्पी "हो सकती है" या "होना चाहिये"। यों समझ लीजिये, यदि कोई पुस्तक न्यूज आफ द वर्ल्ड नामक अखबारके हर पाठकके लिए दिलचस्पी रखती है तो उसमें विज्ञापन देना व्यापारकी दृष्टिसे समझदारीकी बात हो सकती है, परन्तु यदि वह पुस्तक न्यूज आफ द वर्ल्डके केवल एक प्रतिशत पाठकोंके लिए दिलचस्पी रखती है तो उन एक प्रतिशत पाठकोंतक पहुँचनेके लिए उस अखबारमें विज्ञापन देना बहुत महँगा और अप्रभावकर तरीका होगा।

आधे दर्जन पुस्तकोंके विज्ञापनके लिए आधे ही दर्जन विभिन्न तरीकोंकी और कई माध्यमोंकी आवश्यकता पड़ सकती है, और पड़ती भी है। अश्लील प्रकारका विज्ञापन किसी अश्लील पुस्तकके लिए और अश्लील विचारवाले लोगोंके लिए उचित हो सकता है, परन्तु सुसंस्कृत ग्राहकोंको इस प्रकारके विज्ञापनके प्रति केवल घृणा ही हो सकती है। इसलिए विज्ञापनके तरीके और विज्ञापनके माध्यमपर विचार करना

आवश्यक है। इसके लिए विशेष बुद्धिमत्ताकी आवश्यकता होती है क्योंकि मस्तिष्कसे सम्बन्धित वस्तुओंके बारेमें अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा पूर्ण सन्तुष्टिकी अवस्था ज्यादा जल्दी आ जाती है और इन वस्तुओंके ग्राहकोंका रवैया भी ज्यादा आलोचनात्मक होता है। पुस्तकोंके विज्ञापन-के लिए "विलक्षण विचार" और "नये-नये प्रयोग" बहुत उपयोगी हो सकते हैं, परन्तु इनके प्रभावक होनेकी यही शर्त है कि कभी-कभी ही इनका प्रयोग किया जाय। इन्हें उच्च स्तरपर कायम रखना आसान नहीं होता और कुछ पुस्तकें निश्चित रूपसे ऐसी होंगी जिनके विज्ञापनके लिए वे उपयोगी नहीं हो सकते। इसलिए अपने विज्ञापनकी सामग्री तैयार करते समय पुस्तक-प्रकाशकको बहुधा अच्छे सीधे-सादे अक्षरों (टाइप) का सहारा लेना पड़ता है, चाहे इस कारण उसपर साहसके साथ नये विचारोंका प्रयोग न करनेका आरोप ही क्यों न लगाया जाय; परन्तु टाइप अच्छा होना चाहिये। पुस्तकोंके विज्ञापनोंके रूप-सज्जाकी ओर कितना अधिक ध्यान दिया जाता है इसका अन्दाजा किसी भी साहित्यिक पत्र या पत्रिकाके विज्ञापन-स्तम्भोंको देखनेसे चल जायगा। इस क्षेत्रमें बिना मेहनतके और बिना पैसा खर्च किये श्रेष्ठतम फल नहीं प्राप्त हो सकता।

कुछ अखबारोंके दफ्तरोंमें पुस्तकोंके विज्ञापनको अच्छे ढंगसे सजाना असम्भव होता है—इसका पहला कारण यह हो सकता है कि शायद उनके पास उचित प्रकारके टाइप ही न हों। इन कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए और सर्वश्रेष्ठ फल प्राप्त करनेके लिए प्रकाशकोंको अपने विज्ञापन टाइपमें सजानेके लिए बहुधा अपने ही मुद्रकका सहारा लेना पड़ता है और फिर उससे 'मोल्ड' या 'एलेक्ट्रोप्लेट' बनवाकर समाचार-पत्रोंको देने पड़ते हैं। इससे विज्ञापनका खर्च, पर साथ ही उसकी प्रभावक्षमता भी बढ़ जाती है। इसके साथ ही विज्ञापनकी सामग्रीका एक विशिष्ट स्वरूप निश्चित हो जाता है और उसी विज्ञापनसे बार-बार एक जैसा ही प्रभाव पड़ता है, जो विज्ञापनके लिए अत्यन्त आवश्यक

है। विज्ञापन देनेका खर्च बहुत बढ जानेके कारण यह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है कि विज्ञापन बहुत ही आकर्षक रूपमें दिये जायँ। उदाहरणके लिए, रविवारको प्रकाशित होनेवाले एक अखबारमे विज्ञापनकी दर १९१३ में १५ शिलिंग प्रति इञ्च थी, जो १९४४ मे बढकर ८ पौंड प्रति इञ्च (प्रति कालम) हो गयी, अब इस दरपर दो कालमका आठ इञ्च लम्बा विज्ञापन एक बार छपवानेके लिए १२८ पौंड खर्च करने पडते है।

नीचे अच्छे और बुरे टाइपके दिये हुए दो नमूनोसे यह अन्दाजा हो जायगा कि विज्ञापन पेश करनेके ढंगका आँखपर कैसा प्रभाव पडता है —

पुस्तक-प्रकाशन	पुस्तक-प्रकाशन
—कुछ सच्ची बातें	—कुछ सच्ची बातें

विज्ञापनमे पुस्तकका जो विस्तारपूर्वक वृत्तान्त दिया जाता है उसे अधिकांश लोग नही पढते। और इसके विपरीत, बहुत ही थोडे शब्दोमे पुस्तकका सचमुच प्रभावकर विवरण देना असम्भव होता है। जिस प्रश्नपर विचार करना चाहिये, और जिसपर बहुत कम विचार किया जाता है, वह यह है कि विज्ञापनसे क्या उद्देश्य प्राप्त करना अभीष्ट है? क्या यह आशा की जाती है कि विज्ञापनकी सहायतासे किसी ऐसे व्यक्तिको पुस्तक खरीदनेपर तैयार कर लिया जायगा जिसने उस पुस्तक या उसके लेखकके बारेमे पहले कभी सुनातक नहीं? क्या विज्ञापनका उद्देश्य ऐसे लोगोको उस पुस्तकके प्रकाशनकी सूचना देना है जो उसके लेखकसे पहलेसेही परिचित हैं या उस विषयमे दिलचस्पी रखते है? या उद्देश्य यह है कि उन लोगोंको पुस्तक खरीदनेकी याद दिलायी जाय जिन्होने उसकी समालोचनाएँ पढ रखी हैं और जिन्हे उसमें दिलचस्पी है, या उद्देश्य केवल पुस्तकोंकी एक सुविधाजनक सूची दे देनामात्र है जिसकी सहायतासे पाठक अपनी लाइब्रेरियोंमे वह

पुस्तक प्राप्त कर सकें: या पुस्तककी अपेक्षा प्रकाशकके नामका प्रचार करना विज्ञापनका लक्ष्य है? उद्देश्य क्या है, इसी बातपर यह निर्णय निर्भर होता है, या कमसे कम निर्भर होना चाहिये, कि किस साधनका प्रयोग किया जाय।

निजी तौरपर मेरा विश्वास तो यह है कि ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत नहीं होती जो केवल विज्ञापन पढ़कर कोई पुस्तक खरीदते हों। मैं यह भी अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरा यह बयान मेरे ही खिलाफ बहुत अनुचित ढंगसे प्रयुक्त किया जायगा। यदि किसी पुस्तककी चर्चा हो रही है तो विज्ञापनसे यह सहायता मिल सकती है कि लोग उसे प्राप्त करनेके लिए प्रेरित हों। यदि पुस्तक किसी ऐसे विषयपर है जिसमें उन्हें दिलचस्पी है, या वह किसी ऐसे लेखककी है जिसकी रचनाओंकी वे प्रशंसा करते हैं, तो उसका विज्ञापन देखकर उन्हें पुस्तककी दूकानमें जाकर उसे खरीदनेका प्रोत्साहन मिलेगा, शायद यदि वे विज्ञापन न देखते तो उस पुस्तकको कभी न खरीदते। प्रायः हर प्रकाशकके अनुभवसे इस कथनकी सचाई सिद्ध हो जायगी कि विज्ञापनकी सहायतासे उन लोगोंको पुस्तक खरीदनेकी याद दिलाने या पुस्तक खरीदनेके लिए प्रेरित करनेमें तो सफलता प्राप्त हो सकती है जिनके हृदयमें पुस्तक खरीदनेकी भावना पैदा हो चुकी है, परन्तु बिना किसी पूर्व-आधारके शून्यमेंसे पुस्तकके ग्राहक पैदा करनेका काम विज्ञापन द्वारा असम्भव-सा ही है; यदि कोई पुस्तक नहीं बिक रही है या जिसके बिकनेकी कोई आशा दिखाई नहीं देती तो चाहे जितना विज्ञापन किया जाय उस पुस्तककी बिक्री कभी भी विज्ञापनपर किये गये खर्चके अनुकूल नहीं हो सकती; इसके विपरीत यदि कोई पुस्तक लोकप्रिय हो रही है तो सावधानीसे और सोच-समझकर उसका विज्ञापन करनेसे बहुत ज्यादा सफलता प्राप्त की जा सकती है। इस धारणाको कई बार व्यवहारमें आजमाया जा चुका है कि पुस्तकोंको केवल जोरदार विज्ञापनोंकी सहायतासे बेचा जा सकता है। पुस्तकोंके सेट तो इस विधिसे सफलता-

पूर्वक बेचे जा सकते हैं, जिनके सम्बन्धमे पाठकोको यह समझाना सम्भव होता है कि वे उनके घरोंके लिए उतने ही आवश्यक हैं जितना कि मेज-कुर्सी आदि, परन्तु ऐसी अलग-अलग पुस्तकोंके सम्बन्धमें, जिनकी आम जनतामें कोई माँग नहीं थी, विज्ञापनसे शायद ही कभी सफलता प्राप्त हुई हो।

पिछले कुछ वर्षोंका एक अत्यन्त दिलचस्प उदाहरण एक-दो शिलिंग मूल्यवाली पुस्तकका है जिसके विज्ञापनपर २,५०० पौंड बड़ी कुशलतासे खर्च किये गये थे। विज्ञापनसे उस पुस्तककी बिक्री तो काफी हुई परन्तु बिक्रीसे कुल मिलाकर केवल २,८०० पौंड वसूल हुए। यह तो सही है कि किसी गम्भीर विषयकी पुस्तककी ४०,००० प्रतियाँ बेच लेना असाधारण सफलता है, परन्तु प्रकाशकोंसे यह आशा नही की जा सकती कि वे ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए हमेशा २,५०० पौंड खर्च किया करें। ऐसी दशामे उनका यह कहना सर्वथा उचित होगा कि पुस्तकको मुफ्त बाँट देनेमे भी शायद उतना ही खर्च आयेगा।

इस प्रकारके कई उदाहरणोंमेंसे[1] एक उदाहरण मै और देता हूँ। एक दूसरी पुस्तककी ७०,००० प्रतियाँ बेचनेके लिए, जिसका मूल्य भी २ शिलिंग था, विज्ञापनपर ३,००० पौंड खर्च किये गये। बिक्रीसे कुल मिलाकर ५,००० पौंड वसूल हुए और परिणाम यह हुआ कि पुस्तकके प्रकाशनपर घाटा उठाना पडा, परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है : उस पुस्तकके बाद उसी लेखककी जब दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई, यह सच है कि उसका विषय उतना गूढ़ नहीं था, और उसका मूल्य भी १ शिलिंग ६ पेंस था, तो उसकी ९०,००० प्रतियाँ बिक गयीं, जब कि उसके विज्ञापनपर केवल १५६ पौंड खर्च किये गये। यह इस

१. इसका एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण लार्ड बीवरब्रुककी **पोलिटिशियन्स एण्ड दि प्रेस** नामक पुस्तक थी, जिससे सम्बन्धित आँकड़ोंका विचारपूर्ण विश्लेषण कान्स्टेबल्की मासिक गश्तीके अप्रैल १९२६ और मई १९२८ (अंक ७०) के बादके अंकोंमें मिल जायगा।

बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि बहुत बडे पैमानेपर विज्ञापन करनेसे किसी लेखककी बादवाली रचनाओंपर ही सबसे ज्यादा मुनाफा कमाया जा सकता है। इस दावेके पक्षमे इससे बडी दलील और क्या हो सकती है कि किसी पुस्तकका विस्तृत रूपसे विज्ञापन आरम्भ करनेसे पहले उसी लेखककी आगामी रचनाके प्रकाशनका अधिकार सबसे पहले उसी प्रकाशकको होना चाहिये, उसके इनकार करनेपर ही दूसरा प्रकाशक ढूँढा जाय।

एक वार एक लेखकने अपनी एक ऐसी पुस्तकके सम्बन्धमे, जो बिलकुल ही नहीं बिक रही थी, यह दावा किया कि यदि व्यापक रूपसे उसका विज्ञापन किया जाय तो उसे बेचा जा सकता है। हमारी संस्थाने उन्हें चुनौती दी कि वह जितनी भी रकम चाहे और जिस प्रकार भी चाहें उस पुस्तकके विज्ञापनपर खर्च कर सकते है। हमने उन्हे आश्वासन दिया कि हम उनके तमाम आदेशोंका पालन करेंगे और सारा काम मुफ्त करेंगे, और उन्हे इस बातकी भी आजादी दे दी कि यदि वे चाहें तो अच्छेसे अच्छे विशेषज्ञकी सलाह ले ले, और इस बातकी जिम्मेदारी ली कि यदि उस समयके बाद पुस्तककी बिक्रीसे वसूल होनेवाली कुल रकम विज्ञापनके खर्चके दो-तिहाईके बराबर भी हुई तो सारा खर्च हम देंगे, अन्यथा खर्च लेखकको देना पडेगा। लेखकने हमारी चुनौती स्वीकार कर ली, विज्ञापन बडी अच्छी तरह किया गया, परन्तु बिक्रीसे वसूल होनेवाली कुल रकम विज्ञापनपर खर्च की गयी रकमके आधेके बराबर भी नही थी।[1]

सारांश यह कि यद्यपि यह बात अत्यन्त खेदजनक प्रतीत होगी परन्तु हम इसी नतीजेपर पहुँचते है कि जिस प्रकार जोर लगानेसे किसी नाचते हुए लट्टूको नचाये रखा जा सकता है और उसकी रफ्तार भी

१. विज्ञापन एजेण्टोको दी गयी एक चुनौतीका विस्तृत विवरण और पुस्तकोंके विज्ञापनकी समस्याका विस्तृत विश्लेषण आपको **बेस्ट सेलर्स : आर दे बॉर्न ऑर मेड ?** (लन्दन, जार्ज अलेन एण्ड अनविन लि०) नामक पुस्तिकामे मिल जायगा।

बढायी जा सकती है पर जमीनपर निष्क्रिय पड़े हुए लट्टूको नचाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार विज्ञापन द्वारा किसी ऐसी पुस्तककी बिक्रीको, जिसकी चर्चा हो रही हो, कायम रखा जा सकता है और बिक्रीकी रफ्तार तेज भी की जा सकती है परन्तु ऐसी पुस्तकके सम्बन्धमे विज्ञापन-की सहायतासे कुछ भी नही किया जा सकता जिसमें यों भी लोगोको कोई दिलचस्पी न हो। इसलिए जब हमसे कहा जाता है कि अमुक पुस्तक ज्यादा इसलिए बिकी कि उसका विज्ञापन अच्छी तरह किया गया था, तो वास्तविकता शायद यह होती है कि उसका विज्ञापन बडे पैमानेपर इसीलिए किया गया कि उसकी बिक्री अच्छी हो रही थी।

लाइब्रेरियों, पुस्तक-विक्रेताओ तथा अन्य लोगोको पुस्तकके अस्तित्वकी सूचना देनेके लिए थोडी-बहुत हदतक विज्ञापन देना तो आवश्यक होता ही है, परन्तु आवश्यक रूपसे इसका मतलब यह नहीं होता कि दैनिक समाचारपत्रोंमे विज्ञापन दिये जायँ। इसका अर्थ होता है पुस्तक-व्यापार सम्बन्धी किसी पत्रिकामें, तथा कुछ अन्य अच्छे प्रकारके साप्ताहिकोंमे विज्ञापन देना। इन पत्रिकाओंमे प्रकाशित विज्ञापनोंको बहुधा उतने ही ध्यानसे पढ़ा जाता है जितने ध्यानसे कि मूल पाठ्य-सामग्रीको। इन पत्रिकाओंमे विज्ञापन देनेका अर्थ होता है ऐसे पाठकोंतक अपना सन्देश पहुँचाना जो निश्चित रूपसे नयी पुस्तकोंके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेको उत्सुक हैं; परन्तु, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इसका अर्थ यह नहीं होता कि उन लोगोंमे भी पुस्तकके प्रति दिलचस्पी पैदा करायी जा सकती है, जिन्हे पहलेसे कोई दिलचस्पी नहीं है। जेनाके स्वर्गीय यूजेन दीड्रिक्सने जो दिलचस्प ऑकडे जमा किये हैं उनसे मेरे इस विश्वासकी और भी पुष्टि हो गयी है। ये सज्जन अपने तमाम प्रकाशनोंके साथ एक पोस्ट-कार्ड रख देते थे जिसमें पाठकोंसे यह आग्रह किया जाता था कि वे प्रकाशकको सूचित करें कि उन्हें पुस्तक खरीदनेकी प्रेरणा कैसे मिली। ये ऑकडे इतने उपयोगी हैं कि मैं उन्हे नीचे दे रहा हूँ—

	पुरुष	स्त्रियाँ
१. समालोचनाएं	१८·१	१७·६
२. मित्रो तथा अन्य लोगोकी निजी सिफारिशे	१४·२	१७·०
३. उसी लेखककी अन्य रचनाएँ	१३·८	१२·०
४. विशेष सूचीपत्र	९·८	५·०
५. दूकानमे सजी हुई देखकर	८ ६	५·०
६. प्रकाशकके सूचीपत्र	६·७	५·४
७. पुस्तक-विक्रेताओकी सिफारिश	५·२	७·०
८. उस विषयका अध्ययन करनेके लिए	४·७	३·३
९. विज्ञापन	४·०	१·२
१०. समाचारपत्रोके लेख	३·०	३·३
११. भाषण	२·८	५·०
१२. उद्धरण पढकर	२·६	३·३
१३. पाठ्य्-सामग्रीका नमूना देखकर	२·१	२·५
१४. लेखकके व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर	१·३	१·७
१५. पुस्तक-विक्रेताओके पाससे पसन्द करनेके लिए भेजी गयी पुस्तकोमेसे	०·८	१·२

१६, १७ तथा १८, सब १ प्रतिशतसे कम, इनमे ऐसे कारण शामिल है जैसे पुस्तककी सुन्दर छपाई, आदि।

मै यह नहीं कहना चाहता कि इतने सीमित अनुभवसे प्राप्त किये ाये निष्कर्ष निर्णयात्मक हो सकते है, या जो कारण बताये गये है वे ार्वत्र लागू हो सकते है, परन्तु फिर भी ये निष्कर्ष अत्यन्त शेक्षाप्रद है। लोगोको पुस्तक खरीदनेकी प्रेरणा प्रदान करनेवाले ारणोमे पुरुषो तथा स्त्रियो, दोनोके ही सम्बन्धमे सबसे पहले "समा- ोचनाओ" का नम्बर आता है, दूसरा नम्बर "निजी सिफारिशो" का, ीसरा नम्बर उसी लेखककी अन्य रचनाओका और विशेष सूचीपत्रोका ौथा नम्बर। पुरुषोके उत्तरोमे विज्ञापनोका नम्बर नवाँ और स्त्रियोके

उत्तरोमे तो वह प्राय: बिलकुल आखिरी है।

विज्ञापनके अन्य तरीके—मैं विशेप रूपसे इस बातकी ओर ध्यान आकर्पित कराना चाहूँगा कि "विशेप सूचीपत्रों"का ऊपरकी तालिकामें कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, और इस प्रसंगमे हमारे सामने सवाल उठता है कि पुस्तकोमे लोगोकी दिलचस्पी पैदा करानेके साधनके रूपमें गश्ती चिट्ठियो (सर्कुलरो) का महत्त्व कितना है। यह विज्ञापनका ऐसा स्वरूप नहीं है जो बाहरसे देखनेमें बहुत महत्त्वपूर्ण दिखाई देता हो। जो प्रकाशक अपने विज्ञापनकी रकम इस प्रकार खर्च करता है :उसे कई लेखक "बुरा" प्रकाशक समझते हैं, परन्तु यदि प्रकाशक उतनी ही रकम दैनिक पत्रोमें विज्ञापन देनेपर खर्च करता है तो वह "अच्छा" प्रकाशक समझा जाता है चाहे इससे फायदा अपेक्षाकृत कम ही क्यों न हो। परन्तु कुछ भी कहा जाय, कुछ पुस्तकोके सम्बन्धमे इस प्रकारका विज्ञापन देनेसे और विशिष्ट पत्रिकाओंमें विज्ञापन देनेसे वहुधा सबसे ज्यादा फायदा होता है। परन्तु गश्ती चिट्ठियॉ भेजनेका काम अच्छी तरह करनेके लिए यह जरूरी है कि बडी मेहनत और धैर्यके साथ विभिन्न विपयोंमे दिलचस्पी रखनेवाले लोगोकी जहॉतक सम्भव हो अच्छीसे अच्छी सूचियॉ तैयार की जायॅ। यदि आप चाहते हैं कि आपका निशाना ठीक बैठे तो आपको अपना लक्ष्य बराबर ध्यानमे रखना चाहिये। इन सूचियोमे अपने देशकी तथा विदेशोंकी लाइब्रेरियॉ तो होती ही हैं क्योकि गम्भीर पुस्तकोकी सबसे बडी ग्राहक यही लाइब्रेरियॉ होती है। कुछ प्रकाशन-संस्थाओने तो केवल इसी प्रकारके विज्ञापन द्वारा अत्यन्त लाभदायक व्यापार खडा कर लिया है। इसमें सफलता या असफलता मुख्यतः इस बातपर निर्भर होती है कि नाम और पते कितनी मेहनतसे जमा किये गये हैं, परन्तु इसका भी बहुत असर पडता है कि सर्कुलर, पत्र या सूचीपत्र कितने आकर्पक हैं। कुछ उदाहरणोंमे पोस्ट-कार्डसे बहुत अधिक सफलता प्राप्त होती है, विशेपतः याद दिलानेके साधनके रूपमे। कुछ पुस्तक-विक्रेता सूचीपत्रोंके वितरणमें

प्रभावकारी सहायता देनेको तैयार रहते हैं परन्तु इस दिशामे उनके कामकी ओर न तो उतना ध्यान दिया गया है न उसे उतनी पूरी तरह विकसित ही किया गया है जितना किया जाना चाहिये। यदि पुस्तक-विक्रेता अधिक संख्यामें अपने ग्राहको और सम्भावित ग्राहकोको उनकी रुचिके अनुसार विभिन्न श्रेणियोमें बॉटकर उनकी एक सूची रखा करे तो प्रकाशकोंके सहयोगसे इस दिशामे बहुत कुछ किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, कभी-कभी प्रकाशकके लिए यह बिलकुल सम्भव हो सकता है कि वह पुस्तक-विक्रेताओंकी सुविधाको देखते हुए प्रपत्र जारी करे, जिसके नीचे पुस्तक-विक्रेता अपना हस्ताक्षर करके अपने ग्राहकोंके पास भेज सके, इस प्रकार प्रपत्रका स्वरूप ज्यादा निजी और स्थानीय हो जानेके कारण उसका प्रभाव बढ जाता है।

विज्ञापनका एक तरीका, जिसे मै बहुत उपयोगी समझता हूँ, यह है कि नयी पुस्तकोंका विवरण छोटे-छोटे कार्डोंपर इस प्रकार छापकर भेजा जाय कि लाइब्रेरियन और पुस्तक-विक्रेता उन्हे कार्ड-अनुक्रमणिकाके रूपमे प्रयोग कर सकें और इससे भी अच्छा यह होगा कि उन्हे "डीवी" की विधिके अनुसार छापा जाय। इसके लिए काफी मेहनतकी जरूरत है, और यद्यपि इंग्लैण्डका पुस्तक-व्यापार शायद अभी इतना संघटित नहीं है कि यह योजना सफलतापूर्वक व्यवहारमें लायी जा सके परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि पुस्तकोका विवरण भेजनेका यह तरीका भविष्यमे आम तौरपर प्रयोगमे आने लगेगा।

प्रकाशकका पूर्ण सूचीपत्र और सालमें दो या तीन बार प्रकाशक द्वारा भेजी जानेवाली नयी पुस्तकोंकी सूचनाएँ अभी भी विज्ञापनका एक सबसे बहुमूल्य साधन है। अधिकांश लेखकोको इस बातका कोई अन्दाजा नही होता कि कुछ संस्थाएँ इन सूचीपत्रोंकी कितनी प्रतियाँ बॉटती है या यह कि सूचीपत्र कितने ध्यानसे पढे जाते हैं! नयी पुस्तकोंके प्रकाशनके बारेमे सूचना देनेवाले सूचीपत्रोको कई पतोंपर एक साथ भेजनेसे कितना असर होता है, इसका अन्दाजा उसके एक सप्ताह बाद

आनेवाले आर्डरोंसे लग जाता है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि असर केवल उतना ही होता है जितनेका प्रमाण फौरन मिल जाता है। कुछ संस्थाएँ इसके अतिरिक्त अपनी संस्था-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है। इन पत्रिकाओंका स्वरूप और मूल्य भिन्न-भिन्न संस्थाओंके अनुसार बदलता रहता है। यह बात निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती कि जो पत्रिकाएँ सबसे साफ-सुथरी और सुन्दर छपी हुई तथा महँगी होती हैं वही सबसे ज्यादा प्रभावकारी होती है। यह कहना बहुत कठिन है कि कौन-सी पत्रिका किस हदतक बिक्री बढानेमें सहायक होती है। इन पत्रिकाओंको निरन्तर अच्छे स्तरपर कायम रखनेके लिए उनपर काफी समय और मेहनत खर्च करनी पड़ती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पुस्तकोंकी बिक्री बढानेमें वैयक्तिक पत्रोंसे बड़ी सहायता मिलती है। कभी-कभी तो केवल एक पत्र लिख देनेसे अत्यन्त बहुमूल्य प्रचारकी सामग्री प्राप्त हो जाती है। यह आवश्यक नही है कि जिस विज्ञापनपर सबसे ज्यादा पैसे खर्च किये जायँ वही सबसे ज्यादा उपयोगी भी सिद्ध हो और न यही आवश्यक है, इस बातपर दुबारा जोर देना चाहिये— कि सबसे अधिक प्रभावशाली विज्ञापन वही हो जिसके बड़ी आसानीसे लेखककी नजरसे गुजरनेकी सम्भावना हो।

उसी संस्थाके अन्य प्रकाशनोंको विज्ञापनके लिए तो निरन्तर इस्तेमाल किया ही जाता है। जहाँतक सम्भव होता है हर पुस्तकको उससे सम्बन्धित अन्य पुस्तकोंके प्रचार करनेका माध्यम बनाया जाता है। केवल आवरण-पृष्ठका ही नहीं बल्कि पुस्तकके आखीरमें बचे हुए पृष्ठोंका भी इस कामके लिए प्रयोग किया जाता है। पुस्तकके अन्तके पृष्ठ विशेष-रूपसे उपयोगी होते हैं क्योंकि उनपर पाठककी नजर पुस्तकको खतम करते ही पड़ती है और उस समय इसकी सम्भावना सबसे ज्यादा होती है कि वह किसी नयी पुस्तकसे आकृष्ट हो।

एक जमानेमें यह तरीका बहुत प्रचलित था कि विज्ञापनकी सामग्री अलगसे पुस्तकके अन्दर एक अलग पृष्ठके रूपमें छापकर रख दी जाती

थी। परन्तु जब आस्ट्रेलियाके कस्टम (तट-कर) विभागने उस विज्ञापन-सामग्रीपर टैक्स लगानेका नियम बना दिया जो आस्ट्रेलियामे प्रकाशित न की गयी हो, तब यह तरीक़ा बन्द कर देना पडा। क्योकि तट-कर मालके वजनके अनुसार वसूल किया जाता है इसलिए आयातकर्ताको माल मँगवाते समय ये अलगसे रखे गये पृष्ठ निकलवा देना चाहिये, नही तो पूरी पुस्तकको विज्ञापन-सामग्री मानकर उसके भारके अनुसार तट-कर वसूल किया जायगा। परन्तु कुछ प्रकाशक अभी भी पुस्तकोंके अन्दर इस प्रकारके विज्ञापन अलगसे रख देते है, परन्तु यदि वे आस्ट्रेलिया भेजी जानेवाली प्रतियोमेसे इन विज्ञापनोको नहीं निकालते तो वे बडी परेशानीमें फँस सकते है।

लेखकोंके चित्रका प्रयोग बढता जा रहा है; अमेरिकामे तो इन्हे विज्ञापनका एक अभिन्न अंग समझा जाता है। ख्यातिप्राप्त लेखकके सम्बन्धमें तो यह बात समझमे आ सकती है क्योकि इससे लेखक और पाठकके बीच एक वैयक्तिक सम्बन्ध-सा बढ़ता है, परन्तु अब चित्रोंका प्रयोग केवल ख्यातिप्राप्त लेखकोतक ही सीमित नहीं रह गया है। इस सम्बन्धमें लेखकोको यह याद दिला देना शायद उचित होगा कि इस कामके लिए वे अपने खर्चपर चित्र खिंचवाकर भेजें, किसी फोटोग्राफर द्वारा "मुफ्तमे खीचा गया चित्र" न भेजे, क्योकि उस दशामे फोटोग्राफरको कुछ पैसा देना पडता है और इस कारण उस चित्रको केवल सीमित हदतक ही प्रयोग किया जा सकता है। इस कामके लिए सावधानीके साथ दफ्तीपर चिपकाये हुए चित्रकी आवश्यकता नहीं होती; साधारण-सा चित्र जो फोटोग्राफर सस्तेमे तैयार कर देता है, इस कामके लिए ज्यादा उपयोगी होता है। दुबारा छापनेके लिए बहुत छोटे चित्र प्रायः बिलकुल बेकार होते है, क्योकि ब्लाक बनाते समय बड़े चित्रसे छोटा ब्लाक तो अच्छा बन सकता है पर छोटे चित्रसे बडा ब्लाक बनाना कठिन होता है।

छोटा पोस्टर विज्ञापनका एक दूसरा साधन है जिसका प्रयोग लोकप्रिय उपन्यासोके सम्बन्धमे एक जमानेमे काफी किया जाता

था। यह साधन केवल उन पुस्तकोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त किया जा सकता है जिनके विज्ञापनके लिए काफी रकम रखी गयी हो, क्योंकि १५० पौंडसे कममें इस साधनसे अधिक फायदा नहीं उठाया जा सकता। इसके अलावा, यह माध्यम दूसरे माध्यमोंका स्थान नहीं ले सकता। इस माध्यमको चाहे जितनी अच्छी तरह प्रयोग किया जाय, परन्तु इससे **दि टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेन्ट** जैसे पत्रोंमें विज्ञापन देनेकी आवश्यकता खतम नहीं हो सकती। और फिर इनका प्रयोग लन्दनकी जमीनके नीचे चलनेवाली रेलवेके कुछ स्टेशनोंतक और शायद कुछ टेलीफोनके खम्भोंतक ही सीमित रहता है। यद्यपि लेखक विज्ञापनकी इस विधिसे बहुत प्रभावित होते हैं, परन्तु यदि वे यह याद रखे कि इनका असर बहुत गहरा नहीं होता और यह भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि इनका प्रभाव केवल क्षणिक नहीं होता, तो शायद वे इतने प्रभावित न हों।

छोटे पोस्टरोंकी बात तो दूर रही, पुस्तक-विक्रेता अपनी दूकानोंमें छोटी-छोटी पर्चियाँ भी नहीं लगा पाते। हाँ, शो-कार्डोंका इस्तेमाल वे बहुधा बड़े प्रभावकर ढंगसे कर सकते हैं।

विज्ञापनकी लागत—बहुधा यह सवाल किया जाता है कि प्रकाशक अपनी कुल आमदनीका कितना प्रतिशत भाग विज्ञापनपर खर्च करता है। इंग्लैण्डके बारेमें इसके कोई अधिकृत आँकड़े प्राप्य नहीं हैं। जार्ज एच० डोरान नामक अमेरिकी प्रकाशकका दावा है कि वह अपनी कुल वसूलीका १० प्रतिशत भाग "प्रचार"पर खर्च करता है। इंग्लैण्डके बारेमें मेरा अनुमान है कि प्रकाशक अपनी वसूलीका ६ प्रतिशत भाग विज्ञापनपर खर्च करता है। यदि यह बात ध्यानमें रखी जाय कि इंग्लैण्डके प्रकाशककी कुल वसूलीका बहुत बड़ा भाग पुरानी पुस्तकोंकी बिक्रीका होता है जिनके विज्ञापनपर बहुत थोड़ी रकम खर्च करनी पड़ती है या बिलकुल भी नहीं खर्च करनी पड़ती, तो यह अन्दाजा हो जायगा कि नयी पुस्तकोंपर काफी बड़ी रकम खर्च की जाती है।

७ शिलिंग ६ पेंस कीमतके उपन्याससे वसूल होनेवाली कुल रकम, जिसकी लगभग डेढ हजार प्रतियाँ बिकती हैं, २५० पौंडसे ज्यादा नही होती, फिर भी ऐसी पुस्तकके विज्ञापनपर ५० पौंड खर्च कर देना प्रकाशकके लिए साधारण बात है—जिसका अर्थ होता है कि वसूल की गयी कुल रकमका २० प्रतिशत भाग—और यह भी उस दशामे जब डेढ़ हजार प्रतियोंके पहले संस्करणपर सम्भवतः मुनाफेकी बिलकुल ही गुंजाइश नही होती। वसूल होनेवाली कुल रकमको देखते हुए शायद ही किसी चीजके विज्ञापनपर इतनी रकम खर्च की जाती हो जितनी नयी किताबों-पर। फिर भी ऐसा नही है कि प्रकाशक अपनी जीविका उन पुस्तकोसे कमाता है जिनके विज्ञापनपर बहुत ज्यादा रकम खर्च की जाती है, उसकी असली आमदनी उन पुस्तकोसे होती है जो विज्ञापनके किसी खर्चके विना या बहुत कम खर्चपर लगातार कई वर्षोंतक बिकती रहती है। ऐसी ही पुस्तकें, जिनके बारेमे शायद पाठकोने कभी सुना भी न हो, कई पुरानी प्रकाशन संस्थाओके मुख्य आधार हैं। बिना किसी संकोचके मैं तो यहाँतक कहनेको तैयार हूँ कि बहुत-सी पुरानी संस्थाएँ ऐसी है जिन्हे यदि किसी एक वर्षके दौरानमे नयी पुस्तकोसे होनेवाले मुनाफेपर ही गुजर करनी पड़े, तो वे बड़े संकटमे फँस जायँ।

अबतक प्रकाशक इस सम्बन्धमे अपने अनुभवोपर विचार-विनिमय करनेपर बडी मुश्किलसे तैयार होते थे कि वे अपनी कुल वसूलीका कितना भाग विज्ञापनपर खर्च करते है।

आम तौरपर पुस्तकोका विज्ञापन काफी अच्छी तरह किया जाता है। आलोचना करना आसान है पर सुधार करना कठिन है। यदि हमे यह ध्यान न रखना पडता कि विज्ञापनपर जितनी रकम खर्च की जाय उसका प्रतिफल प्राप्त हो जाय, तो हममेसे हर एक व्यक्ति क्या कुछ नही कर सकता था।

पुस्तकोके विज्ञापनके भविष्यके बारेमे मेरी निजी राय यह है, और मै जानता हूँ कि बहुत थोडे लोग ही इससे सहमत है, कि दैनिक

अखबारोंका प्रयोग मुख्यतः पुस्तकोंके प्रति आम तौरपर रुचि पैदा करने, पुस्तकोंकी आवश्यकताकी भावना जाग्रत करने और दैनिक जीवनमें उनका महत्त्व स्वीकार करानेके लिए किया जाय; विशिष्ट पुस्तकोंके विज्ञापन मुख्यतः ऐसे अखबारोंमें दिये जायँ, जैसे साप्ताहिक पत्र आदि, जिनके पाठक निश्चित रूपसे नयी पुस्तकोंके बारेमें जानकारी प्राप्त करनेके लिए उत्सुक रहते हैं, और प्रपत्रों, सूचीपत्रों आदिका प्रयोग बढ़ाया जाय जिनमें पुस्तकोंमें निश्चित रूपसे दिलचस्पी रखनेवाले लोगोंको विशिष्ट पुस्तकोंके बारेमें सूचना दी जाय। मेरी रायमें इस प्रकारका विज्ञापन, अधिकांशमें, पुस्तक विक्रेताओं द्वारा किया जाना चाहिये तथा उन्हें प्रकाशकोंके साथ और अधिक सहयोगसे काम करना चाहिये। पुस्तकोंके विज्ञापनके विभिन्न तरीकोंसे कितनी सफलता प्राप्त की जा सकती है और कितनी नहीं प्राप्त की जा सकती, इसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेसे कमसे कम इसीकी आशा की जा सकती है, परन्तु उस पुस्तकका नया संस्करण प्रकाशित होनेसे पहले ही पुस्तकोंकी बिक्री बढ़ानेके कई अधिक उन्नत और बेहतर तरीके मालूम किये जा चुके होंगे।

मुझे पूरा विश्वास है कि चूँकि मैंने पुस्तकोंके सम्बन्धमें विज्ञापनके सीमित प्रभावके बारेमें कुछ स्पष्ट सत्योंकी ओर ध्यान आकर्षित करानेका दुस्साहस किया है इसलिए मुझपर यह आरोप लगाया जायगा कि मैं विज्ञापनमें ही विश्वास नहीं रखता। इसलिए मैं यह बता देना चाहूँगा कि मुझपर यह आरोप लगाना भी इतना ही आसान है कि मैं पानीके जहाजमें विश्वास नहीं करता क्योंकि मैं थल-यातायातके साधनके रूपमें उनकी अनुपयोगिता और उनकी सीमितताके प्रति अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता। वास्तवमें मैं विज्ञापनका पक्का समर्थक हूँ, परन्तु इसके साथ ही धीरे-धीरे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि दूसरे क्षेत्रोंमें विज्ञापनके बारेमें प्राप्त किया हुआ अनुभव पुस्तकोंके सम्बन्धमें इतना उपयोगी नहीं होता जितना कि लोग आम तौरपर समझते हैं।

बुक क्लबोंको इंग्लैण्डमें कभी वह पद प्राप्त नही हुआ जो अमेरिकामें प्राप्त है। वहाँ इस प्रकारके किसी प्रमुख संघटन द्वारा किसी पुस्तकका पसन्द कर लिया जाना बिलकुल वैसा ही होता है जैसे किसीकी बहुत बडी लाटरी निकल आये। पुस्तके पसन्द करनेकी क्रियाको इस हदतक बन्धनोमे जकड देना मेरी दृष्टिमे अत्यन्त हानिकारक है। इसके कारण धडाधड बिकनेवाली पुस्तकोंके प्रति पाठकोंका अन्धविश्वास बढता है और ऐसी अच्छी पुस्तकोंके प्रकाशकोंका उत्साह मारा जाता है जिनके ज्यादा बिकनेकी सम्भावना नहीं होती। ब्रिटेनमे बुक-क्लब अन्य कई देशोंकी अपेक्षा इतने छोटे पैमानेपर हैं और उनकी व्यवस्था इतनी सुनियन्त्रित है कि उनके बारेमे विस्तारपूर्वक और निश्चयके साथ कोई बात कहना मुश्किल है। कुछ क्लब राजनीतिक हैं, और प्रायः सभी क्लब "सस्ते दामोंपर पुस्तके उपलब्ध करनेके प्रलोभन" पर आधारित हैं, जब कि पुस्तक-व्यापारने इस सुविधाका उचित और काफी फायदा उठानेमे संकोचसे काम लिया है। फलतः "सस्ते दामोंपर पुस्तकें उपलब्ध करनेका प्रलोभन" देकर बुक-क्लबोंने ऐसी-ऐसी पुस्तकोंकी लाखो प्रतियाँ बेच ली है जिन्हें साधारण रूपसे पुस्तक-व्यापारके माध्यमोंके द्वारा बेचना असम्भव होता। यदि, जैसा कि हममेंसे अधिकतर लोग समझते है, पुस्तकोंकी ज्यादासे ज्यादा बिक्री स्वतः एक वांछनीय बात है तो बुक-क्लबोंने अपनी सार्थकता सिद्ध कर दी है। मेरा निजी विचार तो यह है कि जो बुक-क्लब उस उद्देश्यको पूरा कर सकता है और ऐसी विशेष रूपसे अच्छी पुस्तकोंको पसन्द करके पाठकोंके सामने पेश कर सकता है जिनकी बिक्री प्रकाशनके समय उतनी नहीं हुई थी जितनी कि होनी चाहिये थी और इस प्रकार अच्छी रचनाओंको सफल होनेका दूसरा अवसर प्रदान कर सकता है, वह निश्चय ही अत्यन्त बहुमूल्य जन-सेवा करता है। परन्तु यह बहुत ज्यादाकी आशा करना है, फिर भी इस आदर्शको भुला न देना चाहिये।

व्यापारके अन्य पहलू

पिछले अध्यायोमे कई अत्यन्त दिलचस्प सवालोपर और प्रकाशक-के प्रतिदिनके कामके अधिकतर भागका कोई उल्लेख नही किया गया है। मै यहाँ इन अभावोंमेंसे कुछकी पूर्ति करना चाहता हूँ। इससे पहले जितने भी काम बताये गये हैं उनके कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने या न होनेका फैसला बहुत कुछ हदतक इसपर निर्भर होता है कि विभिन्न विभागोंके बीच कितना सहयोग है। अधिकतम सद्भावना होते हुए भी छोटी-छोटी बातोके कारण यह काम अत्यन्त कठिन हो जाता है और यदि सद्भावना न हो तब तो यह बिलकुल ही असम्भव हो जाता है। प्रकाशकके दफ्तरमे विभिन्न विभागोंको एक दूसरेसे बिलकुल अलग रखनेकी नीति अत्यन्त हानिकारक होती है, क्योंकि एक विभागमे जो भी फैसला लिया जाता है या जो भी काम किया जाता है उसका सम्बन्ध दूसरे विभागोसे भी होता ही है। प्रकाशकके विभिन्न कर्म-चारियोंमे एक-दूसरेके कामके प्रति जितनी अधिक जानकारी होगी, उनके बीच उतना ही अधिक सहयोग होगा और गलतियाँ भी उतनी ही कम होंगी। यदि और किसी कारणवश नही तो केवल इसी कारण मुझे यह नीति हमेशा बुद्धिमानीकी नीति मालूम हुई है कि इस बातकी पूरी कोशिश करनी चाहिये कि तमाम कर्मचारियोंको पूरे व्यापारके बारेमे, व्यवहारमें जितना अधिकसे अधिक सम्भव हो, ज्ञान हो और साथ ही उन्हे यह भी मालूम हो कि उनके कामका दूसरे विभागोंपर क्या असर पडता है। यह तो स्पष्ट है कि कर्मचारियोंकी संख्या जितनी ही ज्यादा होगी यह काम उतना ही कठिन हो जायगा।

सन् १९१४ से पहले पुस्तक-व्यापारमे काम करनेवाले कर्मचारियों-को बहुत ही कम तनख्वाह मिलती थी और बादमे मालिकोंको

कर्मचारियोंके जिन संघर्षोंका सामना करना पडता था वह स्वाभाविक ही थे। कुछ ही संस्थाएँ ऐसी थी जिनमे इतनी शराफत थी, या यो कहना चाहिये कि इतनी दूरदर्शिता थी कि वे रहन-सहनके बढते हुए खर्चके अनुपातसे ही अपने कर्मचारियोके वेतनमे वृद्धि कर दे, कई संस्थाएँ तो कर्मचारियोकी छोटीसे छोटी माँगोको भी उस समयतक टालती रहती थी जबतक कि वे बिलकुल ही मजबूर न हो जायँ। परन्तु अब वह जमाने चले गये और मै आशा करता हूँ कि फिर कभी वापस नही आयेंगे। आज दूसरी ही भावनाका प्रभुत्व है। यद्यपि यह तो ज़ाहिर है कि प्रकाशक अपने कर्मचारियोंको उतनी लम्बी-लम्बी तनख्वाहे नही दे सकते जितनी अखबारोके दफ्तरोमे मिलती है, परन्तु यह भी आम तौरपर स्वीकार किया जाता है कि स्तर काफी ऊँचा कायम रखा जाना चाहिये, जहाँतक व्यवहारमे सम्भव हो संस्थाके अधिक उत्तर-दायित्वपूर्ण कर्मचारियोको अपनी-अपनी संस्थाओकी समृद्धिमें पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिये। यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि बड़े-बड़े सालिसिटरों (वकीलों) के दफ्तरोकी तरह पुस्तक-व्यापारके क्षेत्रमे कुछ पद ऐसे होते है जिनपर बहुत ज्यादा तनख्वाह मिल सकती है। बडीसे बडी संस्थाओमे भी दो या तीन मैनेजरोकी जगहे होती है, छोटी संस्थाओमें तो एक भी नही होती और हुई भी तो हदसे हद एक। सफल प्रकाशकके मैनेजरको बहुधा यह लालच होता है कि वह अपना अलग व्यापार क्यो न शुरू कर दे, कुछ भी हो, प्रकाशन-संस्थाओके मुनाफेकी स्थिति बहुधा इतनी नाजुक होती है कि बडी-बडी तनख्वाहें देना उनके लिए सम्भव ही नही होता है, और प्रकाशक चाहे जितनी भी तनख्वाह दे, यदि उसका पूरा मन इस व्यापारमें लगा है तो वह मैनेजरका ज्यादासे ज्यादा काम स्वयं कर लेना चाहता है।

पूँजी—यह बात तो सभी जानते हैं कि किसी भी व्यापारमे उसके रुपये-पैसेका पहलू सबसे अधिक महत्त्व रखता है परन्तु इसी पहलूकी ओर दूसरे व्यापारोकी अपेक्षा प्रकाशन-गृहोमे सबसे कम ध्यान देनेका

खतरा रहता है। ऐसा करनेका प्रलोभन बहुत बड़ा होता है। यदि आप अपनी रुचिके कारण किसी पुस्तकको प्रकाशित करना चाहते हैं तो उससे लाभ न होनेकी सम्भावनाकी ओर बिलकुल ही ध्यान न देना या उसके बारेमें अत्यन्त आशाजनक अनुमान लगा लेना बहुत ही आसान बात है। जिन पुस्तकोंमें भी आपको निजी दिलचस्पी हो उनके बारेमें तमाम शंकाओंकी ओर बिल्कुल ही ध्यान न देनेकी प्रवृत्तिसे हमेशा बचना चाहिये। परन्तु इन बातोंके अलावा भी, इतना ही महत्त्व-पूर्ण प्रश्न यह भी है कि व्यापारको चलानेका आम आधार आपने क्या निर्धारित किया है। एक जमानेमे प्रकाशकोंके लिए यह बहुत आम बात थी कि वे बहुत बडी हद्दतक कागजवालों, मुद्रकों और जिल्द-साजोंसे उधार करके अपने व्यापारके लिए पूँजी जुटाते थे। यह व्यवस्था कई कारणोंसे अत्यन्त दूषित थी और विशेष रूपसे इस कारण कि इसने कई सर्वथा अयोग्य और कुछ बिलकुल ही दिवालिया संस्थाओंको बढ़ावा दिया जिसका नतीजा यह हुआ कि जब आखीरमें इनका कारोबार ठप हुआ, जो कि अनिवार्य था, तो तमाम सम्बन्धित लोगोंको और विशेष रूपसे लेखकोंको जो नुकसान हुआ वह उससे कहीं ज्यादा था जितना कि साधारण परिस्थितियोंमे होता। मुद्रक और जिल्दसाज तो, यदि उनके पास इस उधारके बदले प्रकाशककी पुस्तकोंके स्टाक होते थे, ऐसी दशामें इस डूबे हुए व्यापारमेंसे भी अपना थोडा-बहुत नुक्सान पूरा कर सकते थे, और शायद पहले भी वह अपनी रकमको बचानेके लिए काफी ऊँची दरसे दाम वसूल करते होंगे; परन्तु बेचारा लेखक तो बिलकुल ही अरक्षित होता था और उसके कर्जमेंसे प्रायः कुछ भी वसूल नहीं होता था या होता भी था तो बहुत थोडा। दोनों युद्धोंके बीचके जमानेमें दीर्घकालके लिए कर्ज देते रहना असम्भव हो गया था और आशा की जाती है कि अब प्रकाशक अपना व्यापार चलानेके लिए आवश्यक पूँजीके वास्ते कभी इस हद्दतक कागजवालों, मुद्रकों और जिल्दसाजोंपर निर्भर रहना न चाहेंगे और न रह पायेंगे। जो संस्थाएँ

अपनी आवश्यकताओंके लिए ठीक समयपर रकम अदा कर सकती हैं उन्हींका काम सबसे अच्छा होता है, परन्तु यदि प्रकाशक बिना किसी-की सहायताके इस स्थितिमे होना चाहते है तो उन्हें, विशेष रूपसे विकासोन्मुख संस्थाओको, चाहिये कि वे (तकलीफ उठाकर भी) समय-समयपर होनेवाले मुनाफेको खर्च न कर डाले। जैसा कि हमे सरकारी तौरपर भी बताया गया है, "व्यापार करनेका सबसे निरापद तरीका—यह बात व्यक्तियो, कम्पनियो और संयुक्त संस्थाओ सभीके लिए सत्य है—यह है कि व्यापार कर्जके आधारपर नही बल्कि अपने निजी साधनो-के आधारपर किया जाये।" परन्तु यह नेक सलाह देनेके बाद सरकारी पदाधिकारियोने, कमसे कम अधिकांश प्रकाशकोंके लिए, इस सिद्धान्त-का पालन करना प्रायः असम्भव बना दिया है।

लेखकोको प्रकाशकोकी आर्थिक दशासे बडी गहरी दिलचस्पी होती है, यद्यपि इसपर बडा आश्चर्य होता है कि कभी-कभी वे इस ओर कितना कम ध्यान देते हैं।

लेखकोंके हिसाब—ये हिसाब करनेमे अलग-अलग संस्थाएँ अलग-अलग हदतक कुशलताका प्रमाण देती है। बिक्रीके बारेमे आवश्यक आँकडे मालूम करनेके तरीके भी अलग-अलग है। सबसे आसान और जल्दीका तरीका तो यह है कि कुल जितनी प्रतियाँ छपी हों इनमेंसे स्टाकमे बची हुई प्रतियोकी संख्या और लेखकको तथा पत्र-पत्रिकाओको मुफ्त भेजी गयी प्रतियोंकी संख्या घटा दी जाय और बाकी प्रतियोको बिका हुआ मान लिया जाय। दूसरा और ज्यादा विश्वस्त तरीका यह है कि बिक्रीका विश्लेषण किया जाय, अर्थात् हर बिलको अलग-अलग जाँचा जाय और हर बिक्रीको एक रजिस्टरमे अलग-अलग श्रेणियोमे बाँटकर चढा लिया जाय, इस रजिस्टरमें उस रचनाके हिसाबमे हर प्रतिकी बिक्रीका पूरा विवरण मिल जाता है। मुझे नहीं मालूम कि कितने प्रकाशक इस तरीकेको अपनाते है। यह बहुत ही मेहनतका काम है, परन्तु इसके कई फायदे भी हैं। इस तरीकेसे दोहरी जाँच हो जाती

है, क्योंकि इस विश्लेषणमें जितनी प्रतियोंकी बिक्रीका हिसाब निकलता है उसमें स्टाकमें बची हुई प्रतियाँ और मुफ्त दी गयी प्रतियाँ जोड देनेसे यदि वह संख्या प्राप्त हो जाय जो कुल छापी गयी प्रतियोंकी थी तो यह निश्चित हो जाता है कि हिसाबमें कोई गलती नहीं है। इसके अलावा प्रकाशक एक नजरमे देखकर यह बता सकता है कि किसी विशेष पुस्तककी प्रतियाँ सबसे ज्यादा किस ग्राहकके जरिये बिकी है।

चाहे जो भी तरीका अपनाया जाय पर सवाल यह उठता है कि क्या लेखकको इस बातका अधिकार है कि उसे "स्टाकका हिसाब" भेजा जाय। आथर्स सोसायटीका कहना है कि "हॉ है"! परन्तु इस उत्तर-के साथ ही उसने यह मूर्खतापूर्ण मॉग भी जोड दी है कि यह हिसाव हर छ माह वाद भेजा जाय, जिससे पता चलता है कि वह प्रकाशकके दफ्तरके काम करनेके ढंगसे कितनी बुरी तरह अपरिचित है। स्टाकके हिसाबका कोई महत्त्व तभी हो सकता है जब वह वास्तवमें स्टाककी गिनती करनेके वाद प्राप्त किये गये ऑकडोपर आधारित हो और कोई भी प्रकाशक सालमें एक वारसे ज्यादाकी गिनती नहीं करता। (यों भी सालमें एक दिनके लिए अपने व्यापारको बिलकुल वन्द रखना ही उसके लिए वहुत काफी बुरा है।) और दूसरी तरफ लेखक भी स्वाभाविक रूपसे यह नहीं चाहते कि उनका हिसाव अकारण ही खटाईमें पडा रहे, और जब कभी भी १० पौंडसे ज्यादाका सवाल हो तो अस्थायी रूपसे हिसाव साफ कर देनेकी माँग उचित है। परन्तु यह वात बिलकुल साफ कर देनी चाहिये कि यह अस्थायी हिसाव है और इसको वही स्थान न दिया जाय जो स्टाककी गिनती करनेके बाद प्राप्त किये गये ऑकडोंपर आधारित हिसाबका होता है। वर्ष समाप्त होनेके वहुत ही थोडे दिनों-के अन्दर साफ कर देनेकी माँगपर जोर देकर जिसका आथर्स सोसायटी-ने उल्लेख किया है, वह यह भूल जाती है कि इस मॉगको पूरा करनेका मतलव कदाचित् यह भी हो सकता है कि लेखकका हिसाब स्टाकके ऑकड़ोंसे मिलाया नहीं जा सकता।

कुछ प्रकाशक इस बारेमे न्यूनतम सूचना प्रदान करनेमें विश्वास रखते हैं जिसके कारण शंका पैदा होती है। मेरी संस्थामें रायल्टीके हिसाबका जो फार्म इस्तेमाल किया जाता है उसमे तमाम आवश्यक सूचनाएँ रहती है और इसे आथर्स सोसायटीकी मान्यता प्राप्त है।

परन्तु इसमे स्टाकका हिसाब शामिल कर देनेके कारण हमे इतनी करारी चोट खानी पडी है, (जब शत्रुके आक्रमणके कारण हमारी लगभग दस लाख पुस्तके नष्ट हो गयी थी), कि मै अब किसीसे भी इस फार्मका अनुसरण करनेकी सिफारिश नही कर सकता। यद्यपि हमे युद्ध-बीमेसे उतनी भी रकम वसूल नही हुई जितनी इन पुस्तकोको रद्दीमें बेच देनेसे हो जाती और यद्यपि हमारे तमाम समझौतोमे यह शर्त शामिल थी कि नष्ट हो जानेवाली प्रतियोपर कोई रायल्टी अदा नही की जायेगी, परन्तु फिर भी कई लेखकोने स्टाकके हिसाबके आधारपर हमारे सामने लम्बी-चौडी माँगें पेश कर दी और अपने पत्रोमे हमे बडी खरी-खोटी सुनायी। उन अनेक प्रकाशकोको, जो स्टाकमे बची हुई प्रतियोकी संख्या लेखकोको नहीं बताते, इस प्रकारकी किसी कठिनाईका सामना नही करना पडा।

लेखकोका हिसाब तैयार करनेके लिए उनके साथ किये गये समझौतो-का सारांश एक अनुक्रमणिकाके रूपमे कार्डोपर बना लेना आवश्यक होता है। ये समझौते जितने ही समरूप होते है यह काम भी उतना ही आसान हो जाता है। परन्तु यह काम चाहे जितनी कुशलतासे किया जाय, जिन छोटी-छोटी बातोपर विचार करना पडता है वह कुल व्यापार-की मात्राके अनुपातमे बहुत ही ज्यादा होती है। जिस प्रकार मेरा यह विचार है कि यह प्रकाशकोके ही हितमे है कि वे पुस्तक-विक्रेताओंके ऊपरी खर्चको जहाँतक हो सके कम करनेकी चेष्टा करे, उसी तरह मेरा यह भी विश्वास है कि यदि आथर्स सोसायटी बुद्धिमानीसे काम ले तो उसे चाहिये कि लेखकोंकी आवश्यकताओको पूरा करनेके लिए प्रकाशकों-को अपने दफ्तरमें जितना काम करना पडता है उसे कम करनेके उपाय मालूम करे (कार्य-कुशलताको किसी प्रकारकी क्षति पहुँचाये विना)।

यह बात तो स्पष्ट है कि प्रकाशकको अनावश्यक ऊपरी खर्चोंमें जितनी ज्यादा रकम खर्च करना पडेगी, उसके पास अपने लिये या लेखकके लिए उतना ही कम पैसा बचेगा।

इस प्रकारकी बचत करनेका एक उपाय तो यह है कि किसी ऐसी पुस्तकके सम्बन्धमे जिसकी बिक्री लगभग बिलकुल ही गिर चुकी है, लेखक बाकी बचे हुए स्टाककी रायल्टीके बदले एक साथ कुछ रकम लेकर, परिस्थितियोको देखते हुए जितनी भी रकम उचित हो, उसका हिसाब-किताब खत्म करवा दे। क्योंकि बादमे बार-बार छोटी-छोटी रकमोके हिसाब तैयार करनेके सम्बन्धमे दफ्तरके क्लर्कोंको जो बेकार मेहनत करनी पडती है उसकी बचत करनेका यही समझदारीका व्यावहारिक तरीका है।

स्टाककी गिनती उससे कहीं पेचीदा काम है जितना कि लेखक समझते है। प्रकाशकके दफ्तरमें जितना स्टाक होता है वह कुल स्टाक-का केवल एक छोटा-सा अंश होता है, यद्यपि यह सम्भव है कि दफ्तरमे हर प्रकाशनकी कुछ प्रतियाँ मौजूद हो। बाकी प्रतियाँ पूरे साम्राज्यके विभिन्न देशोमे बिखरी होती हैं। स्टाकका कुछ हिस्सा ऐबर्डीन या प्लाइमथ जैसे सुदूर शहरोंमें जिल्द बँधी हुई पुस्तकों या छपे हुए फार्मोके रूपमे, या प्रकाशकके अपने गोदामोंमें या उसके जिल्दसाजके गोदामोमे रहता है। इसलिए प्रकाशकके कर्मचारियोंको केवल उन्हीं प्रतियोका हिसाब नहीं लगाना पडता जो वास्तवमे प्रकाशकके कब्जेमे होती हैं बल्कि उन तमाम मुद्रकों और जिल्दसाजोसे भी हिसाब मँगवाना पडता है जिनके यहाँ कि उसकी पुस्तकोंका स्टाक रहता है। इन तमाम हिसाबोंको प्रकाशकके यहाँ रखे गये हिसाबोंके साथ मिलाकर बडी सावधानीसे निरीक्षण करना पडता है। शायद ही कभी ऐसा होता हो कि ये दोनों हिसाब एक दूसरेसे मेल खाते हों। मुद्रकों और जिल्दसाजोसे अनेक प्रश्न पूछने पडते हैं और कई हफ्तोंके पत्र-व्यवहारके बाद यह सम्भव होता है कि ये आँकडे अन्ततः ठीक-ठाक

करके प्रकाशककी स्टाक-बुकमे चढ़ाये जा सके।

जमानत—अब मुद्रक और जिल्दसाज इतना अधिक स्टाक अपने पास रखनेमें सख्त आपत्ति करते है और गोदामोके किरायेका खर्च पूरा करनेके लिए यथानुसार अपनी मॉगे पेश करते है। परन्तु ऐसे भी कई उदाहरण होते है कि यदि उनके पास यह स्टाक न रहे तो उनको बडी घबराहट और भय रहता है क्योंकि प्रायः सभी मुद्रक और जिल्दसाज इस स्टाकको जमानतके रूपमे अपने पास रखते है, अर्थात् वे इस अधिकारका दावा करते है कि यदि उनके छपाई और जिल्दसाजीके बिल अदा न किये गये तो वे इस स्टाकको बेचकर अपनी रकम वसूल कर सकते हैं। जमानतें दो प्रकारकी होती है, एक तो आम जमानत और दूसरी खास जमानत। पहली प्रकारकी जमानत जिसे लागू करना ज्यादा कठिन होता है, एक निरन्तर कायम रहनेवाली जमानत होती है और इसमें इस बातका कोई विचार नही किया जाता कि उस विशेष पुस्तककी छपाई और जिल्दसाजीका बिल चुका दिया गया है कि नहीं। इसके विपरीत खास जमानत, जिसे लागू करना अपेक्षतः ज्यादा आसान होता है, केवल उस विशेष पुस्तकके सम्बन्धमें मुद्रक तथा जिल्दसाज द्वारा किये गये कामके पारिश्रमिकतक ही सीमित रहती है, जिसके स्टाकपर कि मुद्रक और जिल्दसाज अपना अधिकार जमाते हैं। कभी-कभी यह प्रश्न लेखकोंके लिए सर्वोपरि महत्त्वका होता है। मै इस समस्याके अत्यन्त उग्र रूपका उदाहरण दूँगा: मान लीजिये कि किसी लेखकने अपनी पुस्तक अपने आदेशपर छपवायी है और उसकी छपाई आदिका पूरा खर्च प्रकाशकको अदा कर दिया है, और यद्यपि उसकी छपाई और जिल्दसाजी पूरी हो गयी है पर प्रकाशकने न मुद्रकके पैसे अदा किये है न जिल्दसाजके। यदि इस परिस्थितिमे प्रकाशकका कारोबार कुर्क होकर अदालतके कब्जेमे पहुँच जाता है, तो लेखक इस संकटमय अवस्थामें फँस जायगा कि जबतक वह दुबारा पैसे न दे तबतक उसे उस स्टाकका कब्जा नही मिल सकता जिसके

लिए वह एक बार पैसे भर चुका है। हम यह मानकर चल रहे हैं, जैसा कि बहुधा होता भी है, कि कुछ स्टाक मुद्रकके पास है और कुछ जिल्दसाजके पास। यह भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि यदि मुद्रक और जिल्दसाजने उस स्टाकको बेचकर अपनी रकम वसूल नहीं कर ली है, तो उनकी क्या स्थिति होगी। मुद्रक और जिल्दसाज दोनो ही यह दावा करते है कि उन्हे इस स्टाकको बेच लेनेका अधिकार है ताकि इसकी बिक्रीसे वह अपनी-अपनी रकमे वसूल कर सकें। जहाँ-तक प्रकाशककी अपनी सम्पत्तिका सवाल है, अर्थात् उन भौतिक पदार्थोंका जिनसे वह पुस्तक तैयार की गयी है, उनका यह दावा बिलकुल न्यायोचित है परन्तु यदि वह उस पुस्तकको एक पुस्तकके रूपमे बेचते हैं तो एक तीसरे आदमीका, अर्थात् कापीराइटके मालिकका, अर्थात् लेखकका अधिकार मारा जाता है। व्यवहारमे, बहुधा ऐसी परिस्थितियोंमे कोई समझौता हो जाता है, क्योंकि मामलेको तै करनेके लिए अदालत भी उतनी ही उत्सुक होती है जितना उत्सुक कि लेखक और प्रकाशक पुस्तकके स्टाकपर कब्जा पानेके लिए होते हैं।

किसी प्रकाशन-व्यापारकी आर्थिक समर्थताका आधार इसपर होता है कि उसके स्टाक छपाईके साधनों और कापीराइट अधिकारोंका मूल्य कितना है। यदि आप अपने-आपको स्टाकके मूल्यके बारेमे धोखेमे रखे तो मुनाफा दिखाना सबसे आसान बात है। दूसरे व्यापारोंपर जो माप-दण्ड लागू होते हैं वे प्रकाशनके व्यापारपर लागू नहीं होते। यदि बचा हुआ स्टाक सचमुच उतनी ही कीमतका होता जितना कि वह छपे हुए मूल्यके हिसाबसे मालूम होता है, तब तो हर पुस्तकके प्रकाशनपर फायदा ही होता। यदि कीमतमेंसे १० या २० प्रतिशत रकम कम कर देनेसे काम चल जाता तब भी कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु दुर्भाग्य तो यह है कि जिन पुस्तकोंकी बिक्री रुक चुकी है, उनमेसे शायद ही कोई ऐसी होती हो जिसकी कीमत लागतके लगभग भी होती हो, कई पुस्तकोंका मूल्य तो इससे अधिक कुछ भी

नहीं होता कि उन्हें रद्दी कागजके रूपमे बेच दिया जाय। यदि पुस्तक लगातार और काफी संख्यामे नही बिक रही है तो सबसे सुरक्षित तरीका यह होता है कि यह मालूम कर लिया जाय कि यदि बाकी बचे हुए स्टाकको एक 'लाट' मे बेच दिया जाय तो उससे निश्चित रूपसे कितनी रकम वसूल हो सकती है और यदि पुस्तक लगातार बिक रही है तो उसके बचे हुए स्टाककी कीमतको उसका वास्तविक मूल्य मान लेनेसे पहले यह निश्चित कर लेना चाहिये कि उसका स्टाक तीन वर्षकी आवश्यकताओंसे ज्यादा तो नही है। प्रायः सभी प्रकाशक इसे स्वीकार करते है कि स्टाककी कीमतको उसके प्रत्यक्ष मूल्यसे बहुत कम करके ऑकना आवश्यक है, प्रायः सभी प्रकाशक आपको यह भी विश्वास दिलानेका प्रयत्न करते हैं कि वे स्वयं इस बातकी देखरेख रखते है कि उनके अपने स्टाकका मूल्य बहुत ठीक-ठीक अनुमान लगाकर उसके प्रत्यक्ष मूल्यसे बहुत काफी कम करके देखा जाय; परन्तु फिर भी यह सच है कि प्राय. सभी प्रकाशक अपने-आपको धोखेमे रखते है—बहुधा जानबूझ कर नही—और अपने स्टाकका मूल्य उसके वास्तविक मूल्यसे ज्यादा आँकते हैं। यदि प्रकाशक अपने स्टाका मूल्य ऑकते समय उसमे उचित कमी करके देखे तो उन्हे अपने हानि-लाभके ब्योरेको देखनेका साहस भी नहीं होगा। यह बात बहुत निराधार तो मालूम होगी पर इस सत्यको सिद्ध करनेके लिए काफी प्रमाण हैं। मुझे किसी न किसी सम्बन्धमे दर्जनो प्रकाशकोके हिसाबोका निरीक्षण करनेका अवसर मिला है—यह सच है कि इनमेसे कई प्रकाशक ऐसे थे जो संकटमे फॅस चुके थे—और मुझे एक भी उदाहरण ऐसा नही मिला जब उन्होने अपने स्टाकका मूल्य अविश्वसनीय हदतक ज्यादा न ऑका हो। परन्तु हमें इस प्रकारकी गुप्त जानकारीतक सीमित रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस किसीको भी इस विषयमे दिलचस्पी है उसे सोमरसेट हाउसमे प्राप्त कागज-पत्रोंसे पता चल जायगा कि पुरानी और अत्यन्त प्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्थाओंमें ऐसी संस्थाओंकी संख्या कितनी अधिक है

जिनका उनके अस्तित्वके किसी न किसी समयपर किसी न किसी रूपमें पुनर्निर्माण न किया गया हो ताकि उनकी पूँजी, उनके स्टाक, अन्य प्रकाशन-साधनों तथा कापीराइट अधिकारों आदिके मूल्यको कम करके दिखाया जा सके, क्योंकि उनके पास इस उद्देश्यको पूरा करनेका इससे ज्यादा सीधा कोई उपाय था ही नहीं। शायद ही कोई प्रकाशक ऐसा हो जो अपने स्टाकके बदले वह कीमत प्राप्त करनेपर कृतज्ञ न हो जो कि उसके बही-खातेमें उसके स्टाककी दिखायी गयी है, और यदि यह बात सच है तो यह स्पष्ट है कि उसने अपने स्टाकका मूल्य वास्तविक मूल्यसे अधिक ऑका है। और बातोंको छोडकर भी, दो बातें ऐसी हैं जिनकी ओर स्टाकका मूल्यांकन करते समय बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया जाता :—

१. स्टाकके मूल्यको वसूल करनेपर आनेवाला भारी खर्च : यदि प्रकाशकको स्टाकके अनुमानित मूल्यसे बहुत ज्यादा रकम वसूल नहीं होती तो स्टाकके नकद रकमके रूपमें परिवर्तित होनेतक उसके लिए परिस्थिति अत्यन्त सकटमय हो चुकी होगी।

२. स्टाकमें लेखकका हिस्सा : यदि प्रकाशकको पुस्तकोंके बेचनेपर कुछ भी खर्च न करना पडे तब भी यदि स्टाकसे केवल उतनी ही रकम वसूल हो जितना कि उसका मूल्य ऑका गया है तो प्रकाशकको लेखककी रायल्टीके बराबर रकमका नुकसान तो होगा ही। उन पुस्तकोंके सम्बन्धमें जिनके मुनाफेमें प्रकाशक और लेखकका साझा होता है, लेखकका हिस्सा ५० प्रतिशततक हो सकता है।

विभिन्न प्रकाशक अपने-आपको विभिन्न हदतक धोखा देते हैं, परन्तु सबसे आश्चर्यजनक उदाहरण जो मैंने देखा है वह डायरियोंके एक प्रकाशकका था, जो बहुत दिन हुए मर चुका है। वह पूरे विश्वास-के साथ अपने स्टाकके मूल्यमें पिछले सालोंकी डायरियोंका मूल्य भी लगाता था! यह बात अविश्वसनीय मालूम होगी पर यह बिल्कुल सम्भव है कि कई प्रकाशकोंके स्टाकके मूल्यांकनकी जाँच करनेमें ऐसे

उदाहरण मिल जायँ, जो शायद इतने प्रत्यक्ष न होते हुए भी बहुत ही ज्यादा बढा-चढाकर मूल्यांकन करनेका स्पष्ट प्रमाण दे। ऐसे प्रकाशकोंके भी उदाहरण मिलते है जिन्होने किसी वर्ष अपने व्यापारके फलोंको सन्तोषजनक न पाकर भी अपने स्टाकके मूल्यको और भी बढाकर आँका है।[1]

जब हम छपाईके साधनोपर विचार करते हैं, जो इनकम-टैक्सकी शब्दावलीके यन्त्र-साधनोसे सर्वथा भिन्न होते हैं, क्योंकि प्रकाशन-व्यापारमें इनसे अभिप्राय होता है मोल्डो, स्टीरियोप्लेटों, एलेक्ट्रोप्लेटो, निगेटिवों और ब्लाकोसे, तो हमें केवल एक ही तरीका सबसे सुरक्षित मालूम होता है और वह यह कि इनके मूल्यका हिसाब जितनी जल्दी सम्भव हो धातुके आधारपर लगा लिया जाय। धातुके आधारसे मेरा मतलब यह है कि हिसाब इस आधारपर लगाया जाय कि प्लेटो आदि-को गलवाकर उनकी धातुका मूल्य कितना मिलेगा। स्थायी महत्त्वकी रचनाओकी प्लेटोके सम्बन्धमे, जिनसे कई आवृत्तियाँ छापी जाती है, यदि आवश्यक हो तो उनके मूल्यको पाँच, सात या दस वर्षोंमे बाँटकर

१. यह लिखनेके बाद कई प्रकाशकोंके स्टाक शत्रुके आक्रमण द्वारा नष्ट हो गये। युद्ध-क्षति वीमे और एक्सेस प्राफिट टैक्सकी धाराओके अन्तर्गत सावधान प्रकाशकोको बहुत काफी नुकसान वर्दाश्त करना पडा क्योकि अपनी बैलेन्स-शीटोमे उन्होने स्टाकका मूल्य वास्तविक मूल्यसे कम लिखा था और बैलेन्स-शीटमे लिखे हुए इस मूल्यसे ज्यादा उन्हे जो कुछ भी मिला वह 'एक्सेस-प्राफिट'के रूपमे उनसे छीन लिया गया, परन्तु उन नासमझ प्रकाशकोंको, जिन्होने अपने स्टाकका मूल्य ज्यादा आँका था या जान-बूझकर उसके वास्तविक मूल्यसे ज्यादा लिखा था, बहुत फायदा हुआ क्योंकि उन्हे स्टाक-का मूल्य इस बढी हुई रकमके हिसाबसे अदा कर दिया गया, क्योकि उन्हे बैलेन्स-शीटमे दिखाये गये ऑकडोके अनुसार कोई "मुनाफा" नहीं हुआ।

हिसाब लगाना चाहिये और इस अवधिके बाद उनका मूल्य बिलकुल ही न लगाना चाहिये, परन्तु यह मूल्य बराबरकी किस्तोंमें काटना चाहिये, क्योंकि हर साल दस प्रतिशत काटनेका यह अर्थ नहीं होता, जैसा कि बहुतसे लोग अज्ञानवश समझते हैं, कि दस वर्षमें पूरी रकम गायब हो जायगी। इसके विपरीत, दस वर्षतक १० प्रतिशत प्रति वर्ष काटनेके बाद भी एक तिहाई रकम बाकी रह जायगी और इसके बाद दस वर्ष-तक काटते रहनेके बाद भी मूल रकमकी केवल ९० प्रतिशत रकम ही कट पायेगी। यदि छपाईके साधनोंका मूल्यांकन धातुके आधारपर नहीं किया गया है तो अब उसमें बुनियादी परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है क्योंकि अब छपाईकी ऐसी-ऐसी नयी विधियाँ मालूम की जा चुकी हैं जिनके द्वारा ऐसी पुस्तकोंकी भी पुनरावृत्तियाँ छापी जा सकती हैं जिनकी कोई प्लेटें वगैरह मौजूद नहीं होतीं। यह एक ऐसा उपकरण है जिसकी उपेक्षा इनकम-टैक्स अधिकारी भी नहीं कर सकते।

कापीराइट अधिकारोंके मूल्यको बहुत ज्यादा आँकनेके संकटमें पिछली पीढ़ीके बहुत-से प्रकाशक फँस चुके हैं। उन दिनों आजकी अपेक्षा यह चलन बहुत ज्यादा था कि कापीराइट अधिकार एक साथ कुछ रकम देकर खरीद लिये जाते थे, और इस दशामें यह स्वाभाविक ही था, और बहुधा आवश्यक भी था, कि बैलेन्स-शीटमें कापीराइटके लिए काफी बड़ी रकम रखी जाय। परन्तु यह परम्परा आजतक भी चली आती है, जब कि शायद ही कोई प्रकाशक किसी पुस्तकके कापीराइट अधिकार प्राप्त करता हो। कापीराइट अधिकारकी अवधिके लिए पुस्तकके तमाम अधिकार प्राप्त कर लेना प्रकाशकके लिए बैलेन्स-शीटकी दृष्टिसे उपयोगी हो सकता है, परन्तु उपन्यास और कहानियाँ छापनेवाले जो बड़े-बड़े प्रकाशक छोटी-छोटी अवधियोंके लिए ये अधिकार प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते हैं उससे निश्चय ही कोई फायदा नहीं होता। इस सम्बन्धमें बुद्धिमानीकी योजना यह हो सकती है कि कापीराइट अधि-कारोंकी गणना उसी कोटिमें की जानी चाहिये जिसमें "गुडविल" की

जाती है, और इन अधिकारोंको फौरन मुनाफा देनेवाला साधन नही बल्कि गुप्त संचय समझा जाय।

पत्र-व्यवहार और मिलनेवालोंसे निबटनेमे प्रकाशकका दिनका अधिकांश भाग खर्च हो जाता है। कभी-कभी तो ये दोनो ही काम उसपर बुरी तरह छा जाते है और उसकी समझमे नही आता कि वह उनसे कैसे निबटे। पत्र-व्यवहार प्रभावक ढगसे करनेके लिए अन्य सभी योग्यताओसे बढकर विचार-शक्तिकी आवश्यकता होती है। बहुत ही थोड़े लोग ऐसे होते है जो अपने-आपको पत्र पानेवालेकी स्थितिमे रखकर परिस्थितिको देखनेका महत्त्व समझते है। अनिवार्य रूपसे लोगोमें एक प्रवृत्ति यह पायी जाती है कि वे यह मान बैठते हैं कि जो चीज उनके लिए इतनी स्पष्ट है वह पत्र पानेवालेके लिए भी उतनी ही स्पष्ट होनी चाहिये परन्तु कमसे कम नये लेखकोंके लिए प्रकाशकोंकी विशिष्ट शब्दावली उतनी ही विचित्र होती है जितनी कि चीनियोंकी चित्र-लिपि। अपने कामकी हलचलमे प्रकाशकके लिए यह याद रखना आसान नही होता कि लेखक अपनी पुस्तकको ही एकमात्र पुस्तक समझता है। यह बात कभी-कभी बहुत ही ज्यादा परेशान करनेवाली सिद्ध हो सकती है पर यह स्वाभाविक ही है कि लेखक अपनी रचनाके बारेमे सभी कुछ जाननेके लिए उत्सुक हो। स्नेहमयी माँकी ही तरह उसे भी हरदम यही चिन्ता लगी रहती है कि उसकी सन्तानको कही कोई ऐसी-वैसी बात न हो गयी हो। स्वर्गीय डब्ल्यू० बी० मैक्सवेलने प्रकाशककी "भयंकर चुप्पी"का उल्लेख किया है। मेरे विचारसे तो यह कुछ हदतक अनिवार्य है, परन्तु फिर भी मै समझता हूँ कि इस चुप्पीको भंग करनेके लिए कुछ न कुछ अवश्य किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, एक कार्ड छपवाकर रखा जा सकता है और परिस्थिति-के अनुकूल जो उत्तर उचित हो उसके नीचे लाइन खींचकर लेखकको भेजा जा सकता है। परन्तु इसमे खतरा यह रहता है कि इससे शंका दूर होनेके बजाय कही और बढ न जाय। लेखकके बिना माँगे ही उसे

कोई सूचना देते हुए पत्र लिखनेसे बहुधा बड़ी मुसीबत सरपर आ पड़ती है, फिर भी मैं इससे सहमत हूँ कि प्रकाशकको इस प्रकारके पत्र लिखना चाहिये, हालाँकि प्रायः हमेशा ही इसके फलस्वरूप पत्र-व्यवहारका एक क्रम-सा आरम्भ हो जाता है। मुसीबत तो यह है कि यदि आप कुछ लेखकोंको कोई सूचना देने लगें, तो फिर उस सूचनाकी विस्तारपूर्वक व्याख्या करनेके लिए पत्र लिखने पड़ते हैं और यह समझाना पड़ता है कि आपने यह सूचना दी ही क्यों।

पत्रोंका "एक निश्चित स्वरूप" निर्धारित करके पत्र-व्यवहार करनेसे काफी मेहनतकी बचत हो सकती है। ऐसे पत्र, जिनमें बार-बार एक ही बात लिखनी होती है, जैसे लेखकको प्रूफ भेजते समय उसके साथ भेजा जानेवाला पत्र, इसी प्रकार लिखना चाहिये। परन्तु यदि पत्रका एक बँधा हुआ रूप रखना हो तो उसका विषय तैयार करनेकी ओर बहुत ज्यादा ध्यान देना चाहिये। "बँधे हुए रूपके पत्रों"का छपा होना आवश्यक नहीं है। जहाँतक हो सके इनका छपा हुआ न होना ही अच्छा है। परन्तु इस तरीकेसे समयकी भी बचत होती है और हर पत्रके लिए दिमागपर अलग-अलग जोर देनेकी आवश्यकता नहीं होती।

पाण्डुलिपियाँ वापस करनेके कई तरीके हैं—कुछ प्रकाशक इस सम्बन्धमें काफी सोच-विचारसे काम लेते हैं, कुछ प्रकाशक इस ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते। मेरा निजी विचार तो यह है कि पाण्डुलिपि किस प्रकार वापस की जाय यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह पत्र लेखकके पास ऐसे समयपर पहुँचता है जब उसकी भावनाओंको बहुत जल्दी ठेस लग सकती है। परन्तु साथ ही पाण्डुलिपि स्वीकार न करनेके कारण समझाना भी बुद्धिमानी नहीं होती। प्रायः सभी लेखक यह कहेंगे कि वे पाण्डुलिपि वापस किये जानेका कारण जानना चाहते हैं पर पाँचमेंसे चार ऐसे होंगे जो प्रकाशकके कारण बतानेपर नाराज ही नहीं होंगे बल्कि उससे बहस भी करेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी याद रखना चाहिये कि सम्भव है कि निर्णय सही होने

हुए भी उसके कारण गलत हों।

मिलने आनेवालोंकी समस्या बहुत ही टेढी होती है: वे आपका बहुत ज्यादा समय खराब कर सकते है। मेरा विश्वास है कि कई प्रकाशक तो किसी भी ऐसे व्यक्तिसे मिलनेसे इन्कार कर देते है जिसने पहलेसे मुलाकातका समय निश्चित न कर रखा हो। ऐसा करना मुझे गलत मालूम होता है, और मै पूरे विश्वासके साथ कह सकता हूँ कि यदि मैंने यह किया होता तो मैंने व्यापारमे काफी नुकसान उठाया होता। परन्तु इसके साथ ही दिनका कुछ समय ऐसा अवश्य होना चाहिये जिसमे किसीको विघ्न डालनेकी इजाजत न हो और मेरी रायमें तो किसी कारोवारी आदमीको सुबहकी डाक देखनेका अवसर दिये विना ही उससे मिलनेकी आशा करना न्यायोचित नही है।

यदि समयका ज्यादासे ज्यादा उपयोग करना अभीष्ट है तो दिन-भरके कामको वडी सावधानीसे सुनियोजित करना चाहिये, कुछ हदतक नियमित कार्यक्रमका पालन करना आवश्यक है। आम धारणाके विरुद्ध, टेलीफोनसे कार्य-कुशलतामे वडी वाधा पड़ती है, और टेलीफोनका जितना दुरुपयोग किया जाता है, विशेष रूपसे लेखकों द्वारा, वह अविश्वसनीय है। किसी भी हालतमे टेलीफोनपर ऐसी सूचना नही मॉगनी चाहिये जो विना किसी सोच-विचारके न दी जा सकती हो; और यह तो सर्वथा अनावश्यक है कि आप संस्थाके प्रमुखसे ही कोई ऐसा प्रश्न करनेका आग्रह करें जिसका जवाव वहॉका कोई छोटा-मोटा कर्मचारी भी दे सकता हो, और शायद ज्यादा अच्छी तरह दे सकता हो। प्रायः रोज ही मुझे स्टेनोग्राफरका काम करना पडता है और टेलीफोन करने-वालोकी नासमझी या पत्र न लिखनेकी काहिलीके कारण उनके लम्बे-लम्बे सन्देश या प्रश्न लिखने पड़ते हैं। लेखकोंको यह याद रखना चाहिये कि यदि वे इस प्रकारके प्रश्न, कि उनकी पुस्तककी प्रति समालोचनार्थ लिटिल पेमिंगटन गजटको भेज दी गयी है कि नहीं, पोस्टकार्डपर लिखकर पूछे तो उनका उत्तर विना किसी कठिनाईके

दिया जा सकता है पर यही प्रश्न किसी बड़ी प्रकाशन-संस्थाके प्रमुखसे टेलीफोनपर करना वैसा ही है जैसे सुगमतासे चलती हुई मशीनमे रेत झोक दी जाय।

पुस्तकोका नाम रखनेकी समस्या उन कठिनतम समस्याओमें-से एक है जिनका सामना कि प्रकाशकको करना पड़ता है। कुछ उदाहरणोमें तो पुस्तककी सफलता या असफलता सही नाम चुननेपर निर्भर होती है। अच्छा तो यही होता है कि पुस्तकका नाम छोटा भी हो और वह पुस्तकका सही-सही विवरण भी दे दे, ये दो ऐसी शर्तें है जिन्हे एक साथ पूरा करना बहुधा बहुत कठिन होता है। इस कठिनाईको दूर करनेके लिए कभी-कभी मूल नामके साथ एक उपनाम भी जोडा जा सकता है जो आवश्यकतानुसार लम्बा भी हो सकता है और उसमे पुस्तककी विषय-वस्तुका ठीक-ठीक विवरण भी दिया जा सकता है। ऐसे कल्पना-जनित नाम जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता और जो प्रायः किसी भी प्रकारकी पुस्तकके लिए इस्तेमाल किये जा सकते हैं, प्रायः हमेशा अनुपयोगी सिद्ध होते है। रस्किन जैसे लेखक ऐसे नाम बिना किसी झिझकके इस्तेमाल कर सकते थे क्योंकि लोग उनकी पुस्तकें पढ़ना चाहते थे, पुस्तकका नाम कुछ भी रखा जाता; परन्तु उनसे छोटे लेखकोंको इस सम्बन्धमे उनके उदाहरणका अनुसरण न करना चाहिये।

यद्यपि पुस्तकोके नामपर कोई कापीराइट नहीं होता पर प्रकाशक किसी दूसरी पुस्तकके नामको दोहराना पसन्द नहीं करते, क्योंकि इसके कारण बडी गडबडी पैदा होनेका खतरा रहता है। दुर्भाग्यवश पुस्तकोंके नामोंकी कोई सूची प्राप्य नही है इसलिए कभी कभी यह होता है कि बहुत बादमें यह पता चलता है, जब कि नाम बदलना सम्भव नही रह जाता, कि वह नाम तो किसी दूसरी पुस्तकका पहले भी रखा जा चुका है। यदि लेखकको नाम पसंद करनेमें कोई कठिनाई हो तो वह प्रकाशकको कई नामोकी एक सूची दे सकता है कि वह उनमेंसे कोई नाम पसन्द कर ले। यह भी हो सकता है कि सूचीमें दिये गये

नामोंमेंसे एकको भी ज्योंका त्यों पसन्द करना सम्भव न हो, परन्तु उनमेंसे किसी नामसे प्रकाशकको कोई दूसरा ही सचमुच बहुत अच्छा नाम सूझ जाये।

अनुवादोंके सम्बन्धमें पुस्तकका नाम विशेष महत्त्व रखता है। मूल पुस्तकके नामको ज्योंका त्यों अनुवाद कर देना बहुधा सम्भव नहीं होता। नियम यह बना लेना चाहिये कि यदि मुखपृष्ठपर नहीं तो उसके पीछे मूल पुस्तकका नाम अवश्य दे दिया जाय, विशेष रूपसे यदि अनुवादके नामसे इस प्रकारकी कोई शंका रह जानेका भय हो कि लेखककी कौन-सी रचनाका अनुवाद किया गया है। इस बातको इतनी आसानीसे भुला दिया जाता है कि मैं अनुरोध करूँगा कि वे स्वयं ऐसी बातोंकी ओर ध्यान आकर्षित करायें, जैसे पुस्तक-सम्बन्धी सूचनाका कितना भाग ऐसा है जिसकी आशा करनेका पाठकोंको अधिकार है। कुछ ही समय पहलेतक अनुवादोंका आम स्तर अत्यन्त असन्तोषजनक था परन्तु पिछले कुछ वर्षोंमें इस दिशामें काफी उन्नति हुई है। अब इस बातको ज्यादा अच्छी तरह समझा जाने लगा है कि किसी विदेशी भाषाका पूर्णतम ज्ञान होनेपर भी कोई व्यक्ति अच्छा अनुवादक नहीं बन सकता; लोग इस बातको समझने लगे हैं कि इस कामके लिए एक विशेष प्रकारकी निपुणतामें सिद्धहस्त होनेकी आवश्यकता होती है; इसके लिए असाधारण लगनके साथ काम करनेकी जरूरत होती है और छोटीसे छोटी बातका भी ध्यान रखना पड़ता है और किसी भी व्यक्तिसे अपनी मातृभाषाके अलावा किसी दूसरी भाषाका सचमुच प्रथम श्रेणीका अनुवादक होनेकी आशा नहीं की जा सकती। वास्तवमें मूल पुस्तक साहित्यिक दृष्टिसे जितनी उच्चकोटिकी होती है, अनुवादकमें भी उतनी ही ज्यादा साहित्यिक योग्यता होनेकी आवश्यकता होती है।

अनुवादोंका प्रकाशन बहुत बड़ी सट्टेबाजी है, मूल रचनाओंके प्रकाशनकी अपेक्षा कहीं ज्यादा, क्योंकि इसमें एकके बजाय दो लेखकोंको पैसे देने पड़ते हैं, और दोनोंका ही यह नियम है कि वे अपने पैसे

फौरन माँगते है और अपने पारिश्रमिकको पुस्तककी सफलता या असफलतापर निर्भर नही रहने दे सकते या नही रहने देना चाहते। विदेशी लेखक और प्रकाशक, जिन्होंने कुछ विशेष अनूदित पुस्तकोंकी आश्चर्यजनक बिक्रीके बारेमे सुन रखा है, अंग्रेजीमे अनुवाद करनेके अधिकारोके मूल्यके बारेमें अत्यन्त अव्यावहारिक और असम्भव धारणाएँ रखते है, और यदि "अमेरिका" का नाम ले लिया जाय तब तो विदेशी प्रकाशक इतनी बडी रकम माँगते है, और मै ऐसे विदेशी प्रकाशकोंको स्वयं जानता हूँ, जितनेमे कि वे शायद अपना सारा कारोबार बेचनेपर भी सहर्ष तैयार हो जायँ। आजसे केवल बीस-पचीस वर्ष पहले अनुवादके अधिकार प्रायः हमेशा एक साथ कुछ रकम लेकर बेच दिये जाते थे परन्तु आज इतनी रायल्टी माँगी जाती है जो अदा करना सर्वथा असंभव है। यह बात तो स्पष्ट है कि यदि शुरूसे ही रायल्टी देना स्वीकार कर लिया जाय तो वह मूल पुस्तकके लिए दी जानेवाली रायल्टी-का एक निश्चित भाग ही हो सकती है। दूसरे शब्दोंमे, किसी विदेशी लेखकको और अनुवादकको मिलाकर उससे ज्यादा रकम देनेका कोई न्यायोचित कारण नही है जितना कि उसी प्रकारकी मूल रचनाके लिए अंग्रेजी लेखकको (जिस भाषामे अनुवाद किया जा रहा है उसके लेखक-को—अनु०) दी जाती है। यह बात स्वतःस्पष्ट मालूम होती है, परन्तु अक्सर ऐसे प्रकाशक मिलते है (विशेषरूपसे अमेरिकी प्रकाशक) जो एक तरफ तो यह कहते है कि वह किसी अज्ञात नये लेखकको १० प्रतिशत-से अधिक रायल्टी देनेकी क्षमता नहीं रखते और साथ ही यह भी कहते हैं कि उन्होने किसी ऐसे विदेशी लेखककी रचनाके अनुवादके अधिकारके लिए १० प्रतिशत रायल्टी देना स्वीकार कर लिया है, जिसका नाम भी शायद कभी किसीने नहीं सुना। वे शायद इस बातको ध्यानमे नहीं रखते कि अनुवादकका पारिश्रमिक अदा करनेके बाद शायद उस रचनाके लिए वे २० प्रतिशतके हिसाबसे रकम अदा कर चुके होंगे। इस प्रकारके एक प्रकाशकने अभी हालमे मुझे बताया कि उसने अनुवादोंके

प्रकाशनपर कभी कोई मुनाफा नहीं कमाया था। मुझे तो यह भय है कि वह कभी कोई मुनाफा कमायेगा भी नहीं।

पुस्तकमालाओंके कई लाभ भी होते है और कई नुकसान भी। कई पुस्तकमालाएँ तो किसी सफल रचनाके फलस्वरूप ही अस्तित्वमे आयी है, जिन्हे शुरूसे पुस्तकमालाके रूपमे आयोजित नही किया गया था। यदि किसी प्रकाशकका 'क' के बारेमें कुछ प्रश्न नामक प्रकाशन अप्रत्याशित रूपसे सफल होता है तो वह स्वाभाविक रूपसे उसके बाद 'ख' के बारेमें कुछ प्रश्न नामक पुस्तक प्रकाशित करेगा, और उसे इसका ज्ञान होनेसे पहले ही "प्रश्न" पुस्तकमाला अस्तित्वमे आ चुकी होगी। परन्तु कुछ पुस्तकमालाएँ शुरूसे ही बहुत विचारपूर्वक आयोजित की जाती हैं, लेकिन आरम्भकी पाँच-छ रचनाएँ असफल रहनेपर इस प्रकारकी कई अत्यन्त लम्बी-चौड़ी योजनाएँ ढह गयी है। इस प्रकारकी पुस्तकमालाओंकी सहायतासे प्रकाशकको ऐसी पुस्तके प्रकाशित करनेका अवसर प्राप्त होता है जिन्हे यदि अलग-अलग छापा जाता तो वे निश्चित रूपसे असफल होतीं। उदाहरणके लिए ओबैदियापर एक अलग पुस्तक प्रकाशित करके उसे सफल बनाना बहुत ही कठिन होगा, परन्तु यदि छोटे छोटे पैगम्बरोंपर एक पुस्तकमाला प्रकाशित हो तो उस पुस्तककी ओर भी लोगोंका ध्यान फौरन आकर्षित होगा। प्रकाशकको इस बातका बडा लालच होता है कि वह किसी ऐसी पुस्तकको भी पुस्तकमालामें शामिल कर दे जो उस पुस्तकमालाके लिए सर्वथा उपयुक्त न भी हो, क्योंकि वह जानता है कि ऐसा करनेसे पुस्तककी सफलताकी सम्भावनाएँ बढ जाती है। शायद यही बात प्रायः हर पुस्तक-मालाका स्तर गिरनेकी जिम्मेदार है। बहुत थोड़ी पुस्तकमालाएँ ऐसी हैं जिनमे यह अवनति देखनेमे न आती हो। इस प्रकारका एक अपवाद है 'म्योरहेड लाइब्रेरी आफ फिलासफी', और इसका उच्च स्तर कायम रहनेका कारण शायद केवल सम्पादककी पुस्तके चुननेकी योग्यता ही नहीं है, बल्कि इसका कारण यह भी है कि उसके प्रकाशकोंने उसे पूरा

अधिकार दे रखा है कि यदि कोई रचना उस स्तरपर पूरी न उतरती हो तो उसे शामिल करनेसे वह इन्कार कर सकता है ।

सेंसरशिपकी विपदासे (पहले महायुद्धको छोडकर जब हम सब डी० ओ० आर० ए० के अधीन थे) सौभाग्यवश ब्रिटिश प्रकाशक हमेशा मुक्त रहे हैं; परन्तु सेंसरशिप न होनेसे स्वयं प्रकाशकोंपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है । उच्च कोटिके प्रकाशक पुस्तकें पसन्द करनेमें बहुत सोच-विचारसे काम लेते हैं । जिन लोगोंपर यह उत्तरदायित्व नहीं पडा है वह शायद कभी भी इस बातका अन्दाजा नहीं लगा सकते कि इस बातका ठीक ठीक निर्णय करना कितना कठिन काम है कि किस समय कौन-सी चीज मान्य होगी । कुछ बातें तो प्रचलित प्रथाके अनुसार तै की जाती हैं पर प्रचलित प्रथाएँ तेजीसे बदलती रहती हैं । आज जिन विचारोंको आम तौरपर हर जगह स्वीकार किया जाता है, उन्हींपर आजसे एक पीढ़ी पहले लोग स्तम्भित हो जाते थे । जो प्रकाशक अतीतके बजाय भविष्यकी आवश्यकताओंको पूरा करनेका लक्ष्य अपने सामने रखता है और नये विचारोंको व्यक्त करनेका अवसर देना चाहता है, उसके सामने यह समस्या उग्रतम रूप धारण करके आती है । अधिकांश प्रकाशक अधिकारियोंके सामने बिलकुल भीगी बिल्ली बन जाते हैं, परन्तु यदि आपको पूरा विश्वास हो कि आप जो कुछ कर रहे हैं वह सर्वथा न्यायोचित है, तो सरकारकी तरफसे चाहे जितना भी दबाव डाला जाय, आपके लिए भयभीत होनेका, कमसे इंग्लैण्डमें कोई कारण नहीं है ।

इस सम्बन्धमें मुझे एक अत्यन्त दिलचस्प अनुभव हुआ । 'रेनबो' नामक पुस्तकके फैसलेके कुछ ही दिन बाद मेरे पास स्काटलैंडयार्डका एक कर्मचारी आया जिसने मुझे सूचना दी कि मेरे एक प्रकाशनके बारेमें उनके पास कुछ शिकायतें आयी हैं। मुझे याद है कि उसने कहा कि हमारे लेखकने निर्धारित सीमाओंका उल्लंघन किया था, और यह भी बताया कि उसके अफसरने उसे आदेश दिया है कि वह जाकर यह मालूम करे कि

हम अपना प्रकाशन वापस लेनेको तैयार हैं कि नहीं। मैंने फौरन इन्स्पेक्टरको कागजका टुकडा और पेंसिल देकर उससे कहा कि वह कागजपर यह लिखनेकी कृपा करे कि क्या सन्देश भेजा गया है—हमें प्रकाशन वापस लेनेका आदेश दिया जा रहा है, या हमसे प्रार्थना की जा रही है, या केवल एक शिष्ट आशा प्रकट की जा रही है कि हम उसे वापस ले लेंगे? मैंने उसे यह भी चेतावनी दी कि वह जो कुछ लिखेगा वह उसके खिलाफ गवाहीके रूपमें पेश किया जायगा। मेरे इस आखिरी वाक्यका फौरन असर हुआ। इन्स्पेक्टरको यही बात दूसरोंसे कहनेकी इतनी आदत पड चुकी थी कि जब वही बात उससे कही गयी तो वह कुछ चकरा-सा गया। परन्तु जब मैंने स्वयं उसके अफसरसे मिलनेका प्रस्ताव रखा तो उसने सन्तोपकी साँस ली। उसके जानेसे पहले मैंने उस पुस्तककी एक प्रतिमें उन हिस्सोंपर निशान लगा लिये जिनपर कि उसके पासवाली प्रतिमें निशान लगे हुए थे। ये निशान अत्यन्त शिक्षाप्रद थे। अधिकांश हिस्सोंपर इकहरी लाइनसे निशान लगा हुआ था, कुछपर दोहरी लाइनके निशानवाले हिस्सोंमें एक ऐसा हिस्सा था जिसे पढकर मै बहुत ही अचरजमें पड गया कि अधिकारियोंको उसपर क्या आपत्ति हो सकती थी।

स्काटलैंड यार्डमें मैंने वह कागज दिखाया जिसपर मैंने उस इन्स्पेक्टर-का दिया हुआ सन्देश लिख लिया था और पूछा कि क्या वह सन्देश ठीक है। मुझे बताया गया कि इन्स्पेक्टरने निर्धारित सीमाओंका उल्लंघन किया था, इसपर मैंने यह कहा कि यही बात उसने लेखकके बारेमें भी कही थी। इसके बाद मैंने पूछा कि क्या इस बातपर विचार किया गया है :

(क) कि जिस पुस्तकपर आपत्ति की जा रही है वह सात वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी।

(ख) कि हमारे प्रकाशित करनेसे पहले दो और संस्थाएँ उसे प्रकाशित कर चुकी थी।

(ग) कि यह पुस्तका तीसरा संस्करण था।

(घ) और यह कि लेखकको अभी हालमे ही उसकी वर्षगाँठके अवसरपर देशके प्रायः सभी प्रमुख साहित्यिक व्यक्तियोने अत्यन्त प्रशंसात्मक शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए एक पत्र भेजा था।

इसके बाद मैने पूछा कि जिस हिस्सेके नीचे दोहरी लाइने खींची गयी थीं उस विशेष हिस्सेमे क्या आपत्तिजनक बात थी। उस अफसरने वह हिस्सा पढा और उत्तर दिया कि वह उसे अत्यन्त आपत्तिजनक समझता है और जब मैने कारण पूछा तो मालूम हुआ कि उसने उस हिस्सेका अर्थ बिलकुल उसका उल्टा लगाया था जो कि उसके स्पष्ट शब्दोसे निकलता था। जब मैने उसका ध्यान इस ओर आकर्षित कराया तो उसने फौरन अपनी गलती मान ली, और बडी ईमानदारीके साथ यह स्वीकार किया कि उसे सारे वक्त इतनी आपत्तिजनक चीजोसे निबटना पडता है कि जहाँ बुराई नही भी होती है वहाँ भी उसे बुराई दिखाई देती है। जब उसने कहा कि उसकी मेरे खिलाफ मुकदमा चलानेकी कोई इच्छा नहीं है, तो मैने उत्तर दिया कि मेरी बडी इच्छा है कि आप मुकदमा चलाये ताकि उन लोगोंको, जिन्होने लेखकके पास शुभ-कामनाएं प्रकट करते हुए प्रशंसापत्र भेजा था (जिसकी एक प्रति मैने उस अफसरको दिखायी) मालूम हो जाय कि वह अफसर उस पुस्तकके बारेमे क्या सोचता है। कुछ अनिश्चित भावसे उसने कहा कि यदि वह पुस्तक राज्य-सुरक्षा कानून (डी० ओ० आर० ए०)के अन्तर्गत आपत्ति-जनक हुई तो मेरे खिलाफ मुकदमा चलाया जायगा अन्यथा नहीं। परन्तु डी० ओ० आर० ए०के अनुसार उसमें कोई चीज आपत्तिजनक नही थी। इस घटनाका कारण सम्भवतः यह था, और यह घटना बडी शिक्षाप्रद है, कि रेनचो नामक पुस्तकको किसी कानूनी या अन्य कठिनाईके बिना जिस तरह फौरन दबा दिया गया था और पृष्ठभूमिमे राज्य-सुरक्षा कानूनकी शक्ति अनुभव करते हुए अधिकारियोंने शायद उससे ज्यादा असावधानीसे काम लिया था जितना कि वे साधारण

परिस्थितियोंसे करते। वे गुमनाम शिकायतोंपर आवश्यकतासे अधिक ध्यान देने लगते थे और वे कई प्रकारकोंकी पुस्तकें बिना किसी सुनवाईके रद करवानेमें भी सफल हो गये थे: लेखकोंके लिए यह वास्तवमें बहुत बड़ा अन्याय था, क्योंकि उन्हे अपनी सफाई पेश करने-का पूरा अधिकार होना चाहिये था। हमारी इस घटनाके सम्बन्धमें बादमें कोई काररवाई नहीं हुई, बस इतना जरूर हुआ कि मेरे वहाँ जाने-की वजहसे न्यू स्काटलैंड यार्डमें प्रतीक्षा करनेका जो कमरा था उसमें कुछ सुधार कर दिये गये और अब लोगोंको सर्दीमें ठिठुरते हुए उस निर्जन बरामदेमें नहीं खड़ा रहना पड़ता है।

मैं अश्लील मानहानिके सम्बन्धमें चौथे अध्यायमें लिख चुका हूँ। मैं यहाँ केवल यह और कहना चाहता हूँ कि कितना ही अच्छा हो यदि सरकारी अफसरोंको, और केवल उन्हींको क्यों उन तमाम लोगोंको भी जो समय समयपर सेंसरशिपकी माँग करते रहते है, मिल्टनकी **एरियो-पैजिटिका** नामक रचना रटा दी जाय। और जहाँतक गम्भीर विषयोंकी पुस्तकोंका सम्बन्ध है, सार्वजनिक मत उनसे निबट लेगा। अन्य बातोंके अलावा, एक बात यह भी है कि "निर्धारित सीमाओंका उल्लंघन" करनेसे ख्यातिप्राप्त प्रकाशकको कभी भी फायदा नहीं होता। यदि वह उल्लंघन करेगा तो पुस्तक-व्यापारसे सम्बन्धित लोग और आम पाठक उसकी गरदन पकड लेंगे, अधिकारियोंके हस्तक्षेप करनेकी उस समय-तक नौबत भी न आ पायेगी।

इस जगहपर सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियों द्वारा पुस्तकोंपर "प्रतिबन्ध" लगानेका भी उल्लेख कर देना उचित होगा। इसकी सम्भावना है कि लोग इन लाइब्रेरियोंकी इस काररवाईकी व्यापकता और प्रभावको बहुत बढ़ा-चढ़ाकर देखते हों। अपने कारोबारको चलानेके लिए उन्हें अपने ग्राहकोंकी आवश्यकताओंको देखना पडता है।[1] यदि कोई पुस्तक ऐसी है जिससे उनके अधिकांश ग्राहकोंकी भावनाओंको ठेस लगनेकी

१. और मानहानि-सम्बन्धी कानूनका भी।

सम्भावना है तो स्पष्ट है कि वे ऐसे उपाय करेंगे कि ग्राहकोंमेंसे बहुत थोड़े लोग ही उस पुस्तकको देख सके और दूसरे ग्राहकोंतक इस पुस्तककी प्रति भूलसे भी न पहुँचने पाये। इस उद्देश्यकी पूर्तिका सबसे सरल उपाय यह है कि ऐसी पुस्तक उस समयतक दी ही नहीं जाती जबतक कि विशेष रूपसे उसकी माँग न की जाय। इस प्रकार उस पुस्तकका प्रचलन केवल उन्हीं लोगोंतक सीमित रहता है जो उसे पसन्द करते हैं, और इसे सेंसरशिप नहीं कहा जा सकता। लेखकोंका यह कहना बिलकुल निराधार है कि उनकी रचनाकी सफलता या असफलता अनावश्यक रूपसे सर्कुलेटिंग लाइब्रेरियोंके रवैयेपर निर्भर होती है; इस प्रकारकी अधिकांश लाइब्रेरियाँ केवल अपने ग्राहकोंकी इच्छाओंकी पूर्तिमें ही दिलचस्पी रखती हैं।

कारोबारको नये क्षेत्रोंमें फैलानेके तरीके अनेक हैं, परन्तु सबसे अच्छा तरीका सन्तुष्ट लेखकोंकी सिफारिश है, यह एक ऐसा प्रशंसापत्र है जिसे केवल सेवाके द्वारा—ईमानदारी, लगन और निपुणताके साथ काम करके—प्राप्त किया जा सकता है। कुछ प्रकाशक अपना सम्पर्क बढ़ानेके लिए हर प्रकारके सामाजिक समारोहोंका फायदा उठाना आवश्यक समझते हैं। यह बहुत अच्छा तरीका है, विशेष रूपमें यदि प्रकाशक अविवाहित हो और उसपर घरकी कोई जिम्मेदारी न हो। एक और प्रभावक तरीका यह है कि हर प्रकारकी गम्भीर पत्रिकाओंका व्यापक रूपसे अध्ययन किया जाय और पहलेसे ही यह मालूम किया जाय कि कौन-कौनसे लेखक उन्नति करके प्रथम श्रेणीमें आ रहे हैं और कौन-कौनसे विषय आगे चलकर लोकप्रिय होनेवाले हैं। इस संस्थाके पूर्व-व्यवस्थापकोंने फ्रायडकी इंटरप्रेटेशन आफ ड्रीम्स नामक पुस्तक मनोविश्लेषण शब्दके प्रचलनसे कई वर्ष पहले छापी थी, और हमने भी इस विषयपर पहली लोकप्रिय पुस्तक इस विषयके असाधारण रूपसे प्रचलित होनेसे प्रायः बारह महीने पहले लिखवायी थी। पहले महायुद्धके जमानेमें हमारी संस्थाने जब काण्टकी

परपेचुअल पीस नामक पुस्तक दुवारा प्रकाशित की और लीग आफ नेशन्सके वारेमे पुस्तकें प्रकाशित कीं तो इसे जर्मनीका समर्थन समझा गया। प्रकाशनके तीन माह बादतक बादुइनकी सजेशन एण्ड आटो-सजेशन नामक पुस्तककी बहुत ही थोडी प्रतियाँ विकी थीं। ब्रुककी प्रैक्टिस आफ आटो-सजेशन नामक पुस्तक—जिसकी १८,०,००० प्रतियाँ इंग्लैण्ड और अमेरिकामें बिकी थी—निश्चित रूपसे इस वातको ध्यानमें रखकर लिखवायी गयी थी कि वादुइनकी पुस्तकके बाद उसी विपयपर एक सस्ती और अधिक लोकप्रिय ढंगसे लिखी हुई पुस्तककी माँग पैदा होगी।

किसी विशेष विपयकी पुस्तकोंके प्रकाशनका विशेषज्ञ हो जानेसे व्यापारके विकासमें बहुत सहायता मिलती है। कभी-कभी यह अपेक्षाकृत वहुत आसान होता है कि किसी विशेष विषयकी श्रेष्ठतम पुस्तकोंके आप "एकमात्र प्रकाशक" वन जायँ, और एक वार इसमें सफलता प्राप्त हो जानेपर उस विषयकी तमाम अच्छी पुस्तकें आपके ही पास आयेंगी।

पुस्तकमालाएँ आरम्भ करना, लेखकोंसे विशेपरूपसे अपने लिए पुस्तकें लिखवाना, ये सब व्यापारको बढ़ानेके अन्य तरीके हैं, और फिर एक उपाय यह भी है कि साहित्यिक एजेण्टोंकी सहायता ली जाय, परन्तु सभी प्रकाशक समान रूपसे इस तरीकेके पक्षमें नहीं हैं। एक और भी तरीका है कि आप दूसरे प्रकाशकके लेखकोंको तोड़कर अपने साथ मिला लें—या अगर आपको स्वयं ऐसा करनेमें कुछ संकोच होता है तो दूसरोंको पैसा देकर आप यह काम सम्पन्न करवा लें। मैं तो पुराने विचारोंका आदमी हूँ इसलिए मुझे यह तरीका इस पेशेकी प्रतिष्ठाके लिए हानिकारक मालूम होता है। हमें अपने सामने हमेशा वह आदर्श रखना चाहिये जो स्वर्गीय हेनरी होल्टने वताया था; पिछली शताब्दीके सातवें दशकमें अमेरिकी प्रकाशकोंकी स्थितिका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा :

"वे सव पुराने प्रकाशक—पुटनैम, ऐपिलटन, हार्पर और स्क्रिबनर

—ओछी और दिखावटी बातोकी क्षमता नही रखते थे, और बर्बर प्रतियोगिताके बजाय वे मित्रतापूर्ण सहयोग और एक-दूसरेके साथ रियायत करनेको ही अच्छा समझते थे। दूसरे लोगोको कोई मूर्खता करते देखकर उन्हे कभी यह लालच नही होता था कि वे भी उसी भेडियाधॅसानमे शामिल हो जायॅ। उनमेसे कोई भी, और उनके अलावा कई और प्रकाशक भी, किसी दूसरे प्रकाशकके लेखकको तोड़कर अपनी तरफ मिला लेना उतना ही बुरा समझते थे जितना उसकी घड़ी चुरा लेनेको; और यदि किसी सामयिक या अन्य प्रकाशनके सम्बन्धमे वे किसी दूसरे प्रकाशकके लेखकके चक्करमे फॅस भी जाते थे तो वे उससे उतनी ही जल्दी पीछा छुडा लेते थे, जितनी जल्दी कि वे किसी दूसरेकी घडी गलतीसे अपने पास आ जानेपर वापस कर देते। मेरी युवावस्थामे वे मेरे साथ बहुत ही नेकीसे व्यवहार करते थे और उनकी नेकी तथा उनके उदाहरणसे मुझे अपने जीवनभर अत्यन्त बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है।"

यदि हमारे लिए आज इस उच्च आदर्शको पूरा करना न भी सम्भव हो पर हमे इसे ध्यानमे तो रखना ही चाहिये।

उत्तराधिकारका मूल्यांकन—उत्तराधिकारका हक प्राप्त करनेके लिए आवश्यक मूल्यांकनके लिए मुझे वारिस (एक्जीक्यूटर) की हैसियतसे बहुत बडी-बडी फीसे अदा करना पड़ी है। प्रकाशककी हैसियतमे मुझसे यह आशा की जाती है कि मैं बिना कोई पारिश्रमिक लिये मृत लेखकोकी साहित्यिक सम्पत्तिका मूल्यांकन करूँ। मेरे ख्यालसे कोई भी प्रकाशक यह काम करनेसे इनकार नहीं करता, परन्तु वे ही ऐसे एकमात्र विशेषज्ञ क्यो है जिन्हे इस सहायताके बदले, जिसके लिए विशेष ज्ञानकी आवश्यकता है, कोई पारिश्रमिक नही दिया जाता। प्रकाशक और चाहे जिस बातके लिए बदनाम हो, परन्तु उनपर यह आरोप नही लगाया जा सकता कि वे इस मामलेमे लेखकोके उत्तराधिकारियोंके साथ अनुदारताका व्यवहार करते हैं।

जिन पुस्तकोपर मुनाफा नही होता—गम्भीर विषयोंकी

पुस्तकोंके हर प्रकाशकके सामने यह समस्या आती है कि वह उन उच्चतम कोटिकी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकोंके सम्बन्धमें क्या करे जिनका प्रकाशन नितान्त आवश्यक मालूम होता है पर साथ ही जिनके बारेमें यह भी विश्वास होता है कि उनकी बिक्री इतनी काफी नहीं होगी कि उनका पूरा खर्च भी वसूल हो जाय। पुराने जमानेमें प्रायः सभी अच्छे प्रकाशक इसे अपना उत्तरदायित्व समझते थे कि वे अपने सामर्थ्यभर ऐसी पुस्तकें प्रकाशित करें। इस प्रकार ज्ञानका प्रसार करनेकी दिशामें बहुधा उनके लिए बहुत-कुछ करना सम्भव होता था, क्योंकि यदि उनकी कोई लोकप्रिय पुस्तक विशेष रूपसे असाधारण सफलता प्राप्त करती थी तो अधिकांश मुनाफा उन्हींके हाथ लगता था। परन्तु आज रायल्टीकी घटती-बढ़ती दरोंके कारण यदि कोई पुस्तक असाधारण रूपसे बहुत ज्यादा बिकती है तो उसका मुनाफा लेखकके हाथ लगता है। यह बात तो पूर्णतः न्यायोचित है पर इसके कारण समाजको फायदा पहुँचानेकी तीव्रतम भावना रखनेवाला प्रकाशक भी ऐसी रचनाओंके प्रकाशनमें पैसा लगानेमें अपने-आपको असमर्थ पाता है। "यह नवीनतम धनिक", —यह नाम मिस्टर आइवर ब्राउनने[1] उन सौभाग्यशाली और कुशल आधुनिक लेखकोंका रखा था जिनकी आमदनी आजकलके या पिछले जमानेके किसी भी प्रकाशकसे ज्यादा है—इस उत्तरदायित्वको सँभालनेकी कोई तत्परता प्रकट नहीं करते जिसे अबतक कई प्रकाशक पूरा करते आये थे, यद्यपि आजकल कई लेखकोंकी आमदनी असाधारण रूपसे बढ़ गयी है। क्या सफल लेखकोंके सामने यह प्रस्ताव रखना उचित न होगा कि इस सम्बन्धमें उनका बहुत बड़ा कर्तव्य है? क्या उनसे यह आशा करना अनुचित होगा कि वे साहित्यिक प्रयासको प्रोत्साहन देनेमें कमसे कम उतनी उदारता तो दिखायें जितनी पुराने जमानेके श्रेष्ठतम प्रकाशक दिखाते थे?

---

१. मानचेस्टर गार्जियन, २७ मार्च, १९२६

नवाँ अध्याय

पुस्तक-प्रकाशन द्वारा जीविकोपार्जन

"महान् प्रकाशक एक प्रकारसे साहित्य-विभागका मन्त्री होता है और उसमे एक राजनीतिज्ञके गुण होना ही चाहिये।"

—लार्ड मार्ले द्वारा उद्धृत

पिछले अध्यायोके पढ़नेसे पाठकोंको यह तो अच्छी तरह समझमे आ ही गया होगा कि पुस्तक-प्रकाशन उतना आसान काम नहीं है जितना कि आम तौरपर समझा जाता है। यद्यपि इस समय आम धारणा इसी प्रकारकी है परन्तु इसके लिए न तो यूनिवर्सिटीकी डिग्री ही काफी होती है और न साहित्यिक योग्यता ही, इसके लिए कई प्रकारके कौशलोके ज्ञान और व्यावसायिक निपुणताकी आवश्यकता होती है। इसके अलावा, आम तौरपर यह देखनेमे आयेगा कि सबसे योग्य और सफल प्रकाशक वही होते है जो शुरूसे आखीरतक इसी व्यापारमें रहे है और इसलिए अपने अनुभवसे पूरे कामका निरीक्षण कर सकते है और उसे समझ सकते है, उसकी उत्पादन-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओंको भी। इस कामके लिए जितनी जानकारी आवश्यक है वह न तो एक दिनमे प्राप्त हो सकती है, न एक वर्षमें। बहुधा तो यह होता है कि दस या पन्द्रह वर्षके व्यापक अनुभवके बाद जाकर प्रकाशकको यह आभास होता है कि अभी भी कितनी बातें सीखना बाकी हैं। केवल वही व्यक्ति जो अपने काममें कभी भी निपुणता नहीं प्राप्त कर पाता, वही यह विश्वास करता है कि उसे उस सम्बन्धमे जानने योग्य सारी बातोंकी जानकारी है।

इस व्यापारमे बहुत ही थोडे लोगोंको उनकी मेहनतका पूरा प्रतिफल आर्थिक लाभके रूपमें मिल पाता है। वास्तवमे प्रकाशनके कारोबारमे "बन जाना" उससे कहीं ज्यादा कठिन होता है जितना कि आम तौरपर समझा जाता है। इस प्रसंगमें शायद यह बहुत दिलचस्प होगा कि हम

कुछ लेखकों, प्रकाशकों, पुस्तक-विक्रेताओं, साहित्यिक एजेण्टों और समाचारपत्रोंके मालिकों द्वारा मरनेपर छोड़ी गयी रकमोंकी तुलना करके देखें।

पुस्तक-प्रकाशक :

जान लेन, १२,००० पौंड।

विलियम हीनेमन, ३२,००० पौंड।

पुस्तक-विक्रेता :

बी. एच. ब्लैकवेल (आक्सफर्ड), ५४,००० पौंड।

हेनरी सी. सोथेरान, ६८,००० पौंड।

लेखक :

आर्नल्ड बेनेट, ४०,५५१ पौंड।

टामस वर्क, २८८ पौंड।

रायडर हैगर्ड, ६१,००० पौंड।

साहित्यिक एजेण्ट :

जे. बी. पिंकर, ४०,००० पौंड।

ए पी. वाट, ६०,००० पौंड।

साप्ताहिक समाचारपत्रोंके मालिक :

सर विलियम इन्ग्राम (इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज, आदि) २६५,००० पौंड।

प्रान्तीय समाचारपत्रके मालिक :

जे. जे. रिले (साउथपोर्ट गार्जियन), ४०,००० पौंड।

इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पुस्तक-विक्रेताके कारोबारमें बहुत फायदा होता है (नयी पुस्तकोंके बेचनेमें तो नहीं होता), परन्तु यह पता स्पष्ट रूपसे चलता है कि प्रतिष्ठित और ख्यातिप्राप्त प्रकाशन गृहोंके मालिक आवश्यक रूपसे उतने धनिक नहीं होते जितना कि उन्हें आम तौरपर समझा जाता है। यह बात शायद सच है कि जो भी व्यक्ति पुस्तक-प्रकाशनसे पैसा पैदा कर सकता है वह अन्य व्यापारोंमें और

ज्यादा रकम पैदा कर सकता है। यदि इस व्यापारमें प्रवेश करनेवाला कोई नया आदमी आपकी सलाह माँगे तो आप पूरे विश्वासके साथ उससे कह सकते हैं: "यदि पैसा पैदा करना आपका मुख्य उद्देश्य है तो पुस्तक-प्रकाशनके व्यापारमें प्रवेश न कीजिये। जो प्रकाशक अपने कामको केवल पैसा पैदा करनेका साधन समझते हैं उन्हें देखकर वही भावना पैदा होती है जो ऐसे डाक्टरको देखकर होती है जिसे केवल अपनी फीसकी ही धुन रहती है। प्रकाशनका जो पुरस्कार मिलता है उसका महत्त्व पैसेसे कहीं अधिक है; यदि आपने इसके बारेमें कौशल-सम्बन्धी निपुणता सचमुच हासिल कर ली है और आपको इसके प्रति रुचि है तो इससे आप अच्छे खासे स्तरका जीवन बिताने योग्य पैसा पैदा कर सकते हैं; परन्तु इस व्यापारमें आपका दिनभरका काम कभी पूरा नहीं होगा और सम्भव है कि आप जितना अच्छा काम करें, पैसेक रूपमें आपको उतना ही कम प्रतिफल मिले।"

पुस्तक-प्रकाशनके इस पहलूपर विशेष रूपसे जोर देना इसलिए आवश्यक है कि इसके बारेमें लोगोंमें बड़ी ही आशाजनक धारणाएँ पायी जाती हैं। किसी जमानेमें प्रकाशकोंने इस व्यापारसे जो दौलत कमा ली है उसका हवाला आजके प्रसंगमें दिया जाता है जब कि परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल चुकी हैं; और यह समझ बैठना बिलकुल गलत है कि पिछले जमानेमें जो हो चुका है या युद्धके जमानेमें जो हो सकता था वह आजकी परिस्थितियोंमें भी सम्भव है, परन्तु इसी प्रकार इस परिस्थिति को दूसरी तरफसे भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया जा सकता है। जो लोग प्रकाशनके व्यापारमें अपनी पूँजी लगाकर खो चुके हैं उनकी यह धारणा कि किसी भी परिस्थितिमें प्रकाशनके व्यापारमें इतना पैसा नहीं कमाया जा सकता कि कारोबार चलता रहे, उतनी ही निराधार है जितनी कि निराश लेखककी यह धारणा कि हर प्रकाशक आगे चलकर लखपती बन जाता है।

कई प्रकाशन-संस्थाओंमें मूर्खोंकी भरमार रहती है। यदि कोई ऐसा प्रकाशक, जिसकी हालत बहुत बिगड चुकी है यह विज्ञापन दे कि जो कोई भी उस संस्थामें पूँजी लगायेगा उसे उसका डाइरेक्टर या साझीदार बना दिया जायगा, तो उसके पास कई लोग दौडे हुए आयेंगे, विशेष रूपसे लाडले बेटोंके माता-पिता जो चाहते हैं कि उनके बेटे एक-एक सीढ़ी चढकर पूरे व्यापारका अनुभव प्राप्त करनेके बजाय शुरूसे ही डाइरेक्टर बन जायँ।

ऐसे प्रकाशन-गृहोंकी संख्या, जिनका सचमुच कोई महत्त्व है, इंग्लैण्डमें (और अमेरिका जैसे बड़े देशमें भी) बहुत ही थोडी है, परन्तु जीविकोपार्जनके साधनके रूपमें इसका आकर्षण इतना अधिक है कि शायद ही कोई सप्ताह ऐसा गुजरता हो जब हर ख्यातिप्राप्त संस्थाके पास यूनिवर्सिटीसे पास होकर नये-नये निकले हुए नवयुवकोंके इस आशयके प्रार्थनापत्र न आते हों कि वे इसे अपनी जीविका कमानेका साधन बनाना चाहते हैं। अधिकांश प्रकाशकोंकी तरह मैंने भी ऐसे दर्जनों प्रार्थियोंसे मुलाकात की है। इनमेंसे कुछमें तो सचमुच लगन होती है, जो इस कामके लायक योग्यता प्राप्त करनेके लिए कुछ कुर्बानी देनेको भी तैयार रहते हैं, परन्तु अधिकतर ऐसे होते हैं जो प्रकाशनको एक "आरामका काम" समझते हैं जिसमें केवल कभी-कभी एकाध पाण्डुलिपि भर पढ लेनी पडती है।' व्यवहारमें शायद होता यह है कि नवयुवकका पिता उससे पूछता है कि वह क्या करना चाहता है और वह उत्तर देता है कि उसे नहीं मालूम। जब उससे यह प्रश्न किया जाता है कि उसे किस चीजमें रुचि है, शायद वह उत्तर देता है कि उसे पढने-लिखनेमें रुचि है। इसपर यह फैसला कर लिया जाता है कि उसे प्रकाशक बन जाना चाहिये।

१. हिज मैजेस्टीज स्टेशनरी आफिस द्वारा प्रकाशित "च्वायस आफ कैरियर्स सिरीज"की १० वीं पुस्तकपर एक नजर डाल लेनेसे भी उसका यह भ्रम दूर हो जाता।

मै इस बातपर जोर इसलिए दे रहा हूँ कि मेरी रायमे प्रकाशनके व्यापारपर इसका अत्यन्त विनाशकारी प्रभाव पडता है। इसके कारण बिलकुल ही अयोग्य और बेकार संस्थाओंको अधिक दिनोतक कायम रहनेका अवसर मिलता है और कुशल प्रकाशकोंको कठिनतम प्रतियोगिता-का सामना करना पडता है। मुझे एक ऐसी संस्थाका उदाहरण मालूम है जिसमे बारी-बारीसे कई साझीदारोने ६०,००० पौंडकी रकम लगायी। पूँजीमे सहसा इतनी अधिक वृद्धि हो जानेके कारण (जिसपर सूद भी देना पडता था) कई ऐसी योजनाओंमें हाथ डाला गया जिनकी सफलताकी बहुत कम आशा की जा सकती थी और साथ ही हर नये साझेदारको तनख्वाह भी देनी पडती थी, और अधिकांश उदाहरणोमे इन साझीदारोंके पास अपनी पूँजीके अलावा कोई विशेष योग्यता नहीं होती थी। केवल आर्थिक दृष्टिसे भी देखते हुए यह पूँजी जुटानेका अत्यन्त फिजूलखर्चीका तरीका है। मान लीजिये कि एक साझीदार व्यापारमें ५,००० पौंड लगाता है और उसे ६ प्रतिशत सूद दिया जाता है, इस प्रकार हर साल ३०० पौंड तो सूद ही हो जाता है। फिर इसके अलावा उसे प्रति वर्ष ४०० या ५०० पौंड तनख्वाह भी दी जाती है, जब कि शायद उसकी योग्यताको देखते हुए उसका मूल्य कुछ भी न हो। इस प्रकार इस अतिरिक्त पूँजीपर लगभग १५ प्रतिशतके हिसाबसे सूद अदा करना पडता है। इस दरसे सूद अदा करके तो किसी भी व्यापारीकी कमर टूट जायगी। सम्भव है कि कुछ वर्षोंके अनुभवके बाद वह साझीदार व्यापारके बारेमें शायद इतनी जानकारी प्राप्त कर ले कि वह अपने वेतनका सही माननेमें अधिकारी हो जाय, परन्तु उस समयतक तो उसके ५,००० पौंडका अधिकांश भाग उसे सूद और वेतनके रूपमें दिया जा चुका होगा, और वह संस्था फिर एक बार पूँजी काफी न होनेकी शिकायत करने लगेगी। फिर नये साझीदारकी तलाश शुरू होती है और यही क्रम दुबारा आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार पूँजी लगानेवालोंमे बैंकर, बडे-बडे वकील और व्यापारी होते हैं। वे अपनी शक्तिभर तो अधिकतम

सावधानीसे काम लेंगे, संस्थाके बहीखातोकी जाँच चार्टर्ड एकाउन्टेन्टोसे करवायी जायगी और एक प्रमाणित बैलेन्स-शीटकी माँग की जायगी; परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्यायमे देख चुके है, यदि स्टाक, छपाईके साधनों और कापीराइट अधिकारोका मूल्य ठीक तरहसे नही आँका गया है तो इससे कोई भी फायदा नही होगा। यह ऐसी समस्या है जो साधारण चार्टर्ड एकाउन्टेन्टके भी वसके वाहरकी वात है और कुछ पेशेवर मूल्यांकन करनेवालोके प्रमाणपत्र भी इस सम्बन्धमे विलकुल ही व्यर्थ होते हैं। एक बात याद रखनेकी यह है इस व्यापारमे प्रवेश करनेके सच्चे मौके बहुत ही कम पैदा होते है। जो संस्था समृद्धिशाली और सुव्यवस्थित होती है उसे, साधारण परिस्थितियोमे, अतिरिक्त पूँजीकी जरूरत नहीं पडती। जिन संस्थाओको इस प्रकारकी पूँजीकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है वे बहुधा ऐसी होती है जिनके हाथमे पूँजी सौपना सबसे ज्यादा खतरनाक होता है।

यह तो हुई किसी स्थापित प्रकाशन-व्यापारमे प्रवेश करनेकी कठिनाइयाँ; अब रही अपना नया कारोबार खोलनेकी वात। उन संस्थाओकी संख्याको देखते हुए, जो बरसाती पौधोकी तरह जन्म लेती रहती है, इसे सबसे आसान काम समझा जा सकता है। वास्तवमे, इसमे भी अत्यन्त बडी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं। जितनी नयी संस्थाएँ स्थापित होती है उनमेसे बहुत थोडी हैं जो सात वर्षसे ज्यादा चलती हैं, जब-तक कि उसके संस्थापकको किसी दूसरी संस्थाकी व्यवस्थाको सफल रूपसे संघटित करनेका अनुभव न हो। वाकीमेसे शायद ही कोई ऐसी होती है जो अपना काम चलानेके लिए और पूँजी जुटाये बिना सात वर्षके वाद चल पाती हो। जिन लोगोंको प्रकाशनका अनुभव है उनकी समझमें यह बात बड़ी आसानीसे आ जायगी। ऐसी नयी संस्थाओको कारोबार चलानेका खर्च बहुत ही थोडी-सी पुस्तकोसे निकालना पडता है, और ये पुस्तकें भी पुरानी प्रकाशन-संस्थाओंके साथ बड़ी सख्त प्रतियोगिताके बाद प्राप्त की जा।

हैं। यह तो मानी हुई बात है कि कुछ पुस्तकें तो असफल होती ही हैं और जबतक कि प्रकाशक बहुत ही भाग्यशाली नहीं है तबतक दूसरी पुस्तकोंपर इतना बडा मुनाफा नहीं होगा कि कारोबारका पूरा खर्च निकल आये—इसमें साझेदारों द्वारा निकाली जानेवाली रकमें या पूँजीपर दिया जानेवाला सूद शामिल नहीं है। यदि नयी संस्था बहुत ही ज्यादा पूँजीसे न खोली गयी हो, जैसा कि बहुधा नहीं होता, तो इस क्रमके कारण, और नयी पुस्तकोंके प्रकाशनकी लागतके कारण शुरूमें लगायी गयी पूँजी शीघ्र ही खत्म हो जायेगी और इसके बाद एक खीचा-तानी शुरू हो जायगी जिसे कुछ और रकम जुटाकर, जिसपर और सूद देना पडेगा, कुछ दिनके लिए दूर किया जा सकता है। जब संस्थाका अन्त समीप आता है तब संस्थापकोंको यह पता चलता है, और उस वक्ततक बहुत देर हो चुकी होती है, कि वे केवल अपनी पूँजीके ही बलपर अबतक जी रहे थे।

व्यवहारमें, बहुधा इस बातमें अपेक्षाकृतः बहुत कम खतरा होता है कि किसीका चलता हुआ कारोबार खरीद लिया जाय, वह चाहे जितनी लडखडाती हुई हालतमें क्यों न हो; केवल इतना ध्यान रखा जाय कि उसके दाम बहुत ज्यादा न दिये जायँ; क्योंकि यदि कारोबार कुछ दिनोंसे कायम है तो उसमें कमसे कम कुछ पुस्तकें तो ऐसी अवश्य जमा हो गयी होंगी जो लगातार बिकती रहती हैं, फिर इसके साथ पुराने स्टाककी बिक्रीमें प्राप्त होनेवाले मुनाफेमें (यदि कारोबारको खरीदते समय उचित मूल्य अदा किया गया है तो) कारोबार चलानेका खर्च बहुत बडी हदतक पूरा किया जा सकता है और इसी बीचमें सूचीमें नयी पुस्तकें भी शामिल होती जायँगी। परन्तु इसके लिए भी अनुभव नितान्त आवश्यक है, क्योंकि पुराने स्टाककी बिक्रीमें ज्यादासे ज्यादा फायदा उठानेपर ही सफलता बहुत कुछ निर्भर करती है। इस विचारसे कि कहीं कुछ लोग यह न समझ बैठें कि केवल काफी पूँजी लगा देनेसे सब काम ठीक हो जाता है, मैं हालके ही एक उदाहरणकी ओर

ध्यान आकर्षित करानेकी धृष्टता करूँगा, जिससे एक नयी संस्था स्थापित करनेके लिए २०,००० पौंड लगाये गये और तीन वर्षसे भी इसमें यह सारी रकम डूब गयी और एक दूसरा उदाहरण है जिसमें ९०,००० पौंडसे अधिक इसी प्रकार खत्म हो गये। इस समस्याको हल करनेका कोई छोटा रास्ता नहीं है। कमसे कम इधर कुछ वर्षोंमें तो किसी ऐसे प्रकाशकने सफल कारोबारकी स्थापना नहीं की है जिसने पहलेसे आवश्यक कौशल-सम्बन्धी ज्ञान न प्राप्त कर लिया हो। जो लोग भी प्रकाशन-संस्थाके दफ्तरमें काम शुरू करते हैं उन सबको यह बात जोर देकर समझा देनी चाहिये।

जिन लोगोंने इस पुस्तकके पिछले अध्याय पढ़े हैं उन्हें इस बातका कुछ अन्दाजा हो गया होगा कि प्रकाशकके सफल होनेके लिए किन विशेष योग्यताओंकी आवश्यकता होती है। यहाँ मैं केवल दो बातोंका उल्लेख करूँगा जिन्हें अन्यथा भूल जानेका खतरा है : और दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पहली तो है, पुस्तकें बेचनेका वास्तविक अनुभव, आम जनताके हाथ भी (किसी पुस्तककी दूकानमें) और पुस्तक विक्रेताओंके हाथ भी (प्रकाशकके सफरी एजेण्टके रूपमें)। जिस प्रकाशकने इन दोनोंमेंसे कोई भी अनुभव प्राप्त नहीं किया है उसे व्यापारियोंकी आवश्यकताओंका अंदाजा लगानेमें तथा उसके पास आनेवाली पाण्डुलिपियोंको व्यावसायिक दृष्टिसे परखनेमें भी बड़ी कठिनाई होती है।

दूसरी है स्मरण-शक्ति, जिसका महत्त्व प्रकाशकके काममें अन्य व्यापारोंकी अपेक्षा बहुत ज्यादा है। कारोबार कितना ही सुसंघटित क्यों न हो, काम करनेकी प्रणाली कितनी ही निर्विकार क्यों न बना ली गयी हो, फिर भी वह बहुत-कुछ प्रकाशककी स्मरण-शक्तिपर निर्भर होता है। उसके अनुभवका महत्त्व बहुत बड़ी हदतक इसपर आधारित होता है कि उसे किसी विषयके साहित्यके बारेमें कितनी बातें याद हैं और यह किस हदतक याद है कि उसके ही नहीं बल्कि अन्य प्रकाशकों-

के प्रकाशन भी किस हदतक सफल या असफल हुए हैं। केवल अपनी सही या गलत धारणापर आधारित फैसलेमें और उसी विषयकी अन्य कई पुस्तकोंके इतिहासकी सही-सही जानकारी और उनकी खपतके क्षेत्रोंपर आधारित फैसलेमें बहुत बड़ा अन्तर होता है। सारांश यह कि स्मरण-शक्तिपर भरोसा करनेसे बचनेके चाहे जितने उपाय किये जायँ पर थोड़े ही कारोबार ऐसे हो सकते है जिनमे स्मरण-शक्तिपर इतना जोर देना पड़ता हो, या जिनमे स्मरण-शक्तिकी उपयोगिता इतनी अधिक होती हो जितनी प्रकाशन-व्यापारमे होती है।

पुस्तक-प्रकाशन बहुत ही निजी किस्मका कारोबार है और यही इसका बहुत बडा आकर्षण है: इसलिए इस व्यापारमें व्यक्तिगत क्षमताओंका सबसे बडा हाथ होता है। हम यह तो देख ही चुके हैं कि प्रकाशनके लिए पाण्डुलिपियाँ पसन्द करनेका फैसला प्रकाशककी निजी रुचियोंके आधारपर किया जाता है। इसीलिए प्रकाशककी रुचियोंकी छाप निर्णायक रूपसे कारोबारके स्वरूपपर भी पडती ही है। जो प्रकाशक गुणकी अपेक्षा मात्राको ज्यादा महत्त्व देता है, जो बाहरी सफलताको सुसंस्कृत गिने-चुने लोगोंके मतसे बढ़कर समझता है और जो प्रकाशनको केवल एक व्यावसायिक प्रयास समझता है, वह अनिवार्य रूपसे उन रचनाओंकी ओर खिंचेगा जिन्हें "बडे उपन्यास" और "बडे संस्मरण" कहा जाता है: दूसरे शब्दोंमे, ऐसे लेखकोंकी रचनाओंके प्रकाशनकी ओर जिनकी साख जम चुकी है और जिनकी रचनाओंकी बिक्री बहुत बडी संख्यामे होना निश्चित है। दूसरोंकी बोयी हुई फसलको काटनेके फेरमे ऐसी संस्थाएँ अपने प्रतियोगियोंके लेखकोंको तोडकर अपने साथ मिला लेनेके लिए बहुत ही बेईमानीके तरीके प्रयोग करती हैं, और साहित्यिक एजेन्ट भी सबसे पहले इन्हीं प्रकाशकोंका दरवाजा खटखटाते है। एक जमानेमे धाराका प्रवाह बहुत जोरोंमें इन्हीं लोगोंकी तरफ था, पर अब धारा पलट गयी है और अधिक समझदार लेखकोंमेंसे कई ऐसे हैं जो इस बातको समझने लगे हैं कि ऐसे प्रकाशकोंके यहाँ काम ज्यादा

अच्छा होता है जो उनकी रचनाके प्रकाशनकी ओर स्वयं ध्यान दे सकते है, उन संस्थाओंकी तुलनामें जहाँ उनकी रचना आवश्यक रूपसे एक लम्बी सूचीमे अन्य कई पुस्तकोंकी तरहकी ही एक पुस्तक होती है। अब वह जमाना धीरे-धीरे खत्म होता जा रहा है जब प्रकाशककी अच्छाई-बुराईकी परख इस आधारपर की जाती थी कि वह भावी रायल्टीके हिसाबमेंसे कितनी रकम "पेशगी अदा कर देने"का साहस कर सकता था। जैसा कि चार्ल्स मार्गनने कहा है, "प्रकाशकका स्थायी विश्वास बडीसे बडी पेशगी रकमसे बडा होता है।" अधिकतर लोगोंके दिमागपर बड़े उपन्यास और सस्ते उपन्यास बहुत बडी हदतक छाये रहते हैं; लेकिन, "कुल मात्रा" के अलावा किसी भी माप-दण्डसे नापनेपर यह पता चलता है कि प्रकाशित होनेवाली कुछ पुस्तकोंका वे केवल एक बहुत ही छोटा अंश होते हैं।

किसी प्रकाशन-संस्थाके कारोबारपर कब्जा होनेसे आदमीको अपने विचारोंको व्यावहारिक रूप देनेका बहुत मौका मिलता है। यदि प्रकाशको यन्त्र-सम्बन्धी विषयोंमें दिलचस्पी है तो शीघ्र ही वह अपने कारोबारमें यन्त्र-सम्बन्धी पुस्तकोंके प्रकाशनको उन्नति दे सकेगा; इसी प्रकार यदि उसे डाक्टरी, वकालत, भवन-निर्माणकला, या किसी अन्य विषयमें दिलचस्पी है तो वह कारोबारको इन दिशाओंमे मोड़ देगा। परन्तु ज्यादातर हर प्रकाशन-गृहके पीछे उसकी परम्पराएँ होती हैं और इन परम्पराओंमें सहसा कोई परिवर्तन कर देना विनाशकारी सिद्ध हो सकता है। यदि कोई संस्था, जो पिछली कई पीढियोंसे केवल धार्मिक पुस्तकें छापती आयी है, सहसा उपन्यास प्रकाशित करने लगे तो परिणाम न धार्मिक पुस्तकोंके लिए अच्छा होगा न उपन्यासोंके लिए। इसके विपरीत यदि कई प्रकाशक अपनी प्रकाशित की हुई पुस्तकें एकमें मिलाकर एक ही संस्था बना लें तो इस संस्थाके पीछे कई परम्पराएँ होंगी और इनमेंसे हर एकका फायदा उठाया जा सकता है।

हर प्रकाशन-व्यापारके लिए शायद सबसे सन्तोषजनक पहलू शिक्षा-

सम्बन्धी (स्कूलोंमें पढायी जानेवाली) पुस्तकोका प्रकाशन होता है क्योंकि यदि प्रकाशककी सूचीमे कई पुस्तकें ऐसी है जो स्कूलोमे "लगी हुई" हैं तो वे किताबें तो हमेशा बिकती ही रहेंगी—उस संस्थाका कारोबार चाहे जिस तरह भी चलाया जाता हो। कई संस्थाएँ तो अपने अस्तित्वके लिए इन्ही पाठ्य-क्रमकी पुस्तकोपर निर्भर रहती है। पहली बात तो यह कि इन पुस्तकोंका काम एक साथ बहुत सा आ जाता है : और आर्डर सालके एक विशेष हिस्सेमे ही आना शुरू होते हैं; उस समय प्रकाशकके यहाँ इतना अधिक काम हो जाता है कि उसके कर्मचारी सारा काम निवटा नही सकते, और कुछ ही सप्ताह वाद सब कर्मचारियोंके लिए काफी काम नहीं रह जाता। इसके अलावा, एक बार जब पुस्तक "लग जाती है" तब तो सब कुछ सुगमतापूर्वक होता रहता है, पर पुस्तकको स्कूलोंके लिए स्वीकार कराना ही बहुत कठिन काम होता है। और नयी स्कूली किताबोपर मुनाफा इतना कम होता है कि अनेक असफल पुस्तकोंका घाटा पूरा नहीं हो पाता।

इंग्लैण्डमे (अमरीकामें नहीं) अभी कुछ ही दिन पहलेतक "बालोपयोगी" पुस्तकोंका प्रकाशन क्षेत्रका सबसे असन्तोपजनक पहलू था। इस क्षेत्रमे प्रतियोगिता बहुत ही सख्त थी और एक निन्दनीय प्रवृत्ति यह थी कि बच्चोकी पुस्तकोंका मूल्य उनके आकार तथा उनमें छपे हुए चित्रोंकी संख्याके हिसाबसे लगाया जाता था, उसकी पाठ्य-सामग्री या चित्रकारके कलात्मक गुणकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। "बालोपयोगी" पुस्तकोंके बड़े-बडे खरीदार कई मिली-जुली पुस्तकें सैकडेके हिसाबसे खरीदते थे, उन्हें अलग-अलग पुस्तकोंमें कोई दिलचस्पी नहीं होती थी। इसमें तो संदेह नहीं कि इन पुस्तकोंको बहुत ही बडी संख्यामें छापकर ही इन कीमतोंपर इतनी बहुमूल्य सामग्री दी जा सकती है। इसलिए उन प्रकाशकोंके लिए, जो बड़े पैमानेपर प्रकाशन करनेकी अपेक्षा पाठ्य-सामग्री तथा चित्रोंको अच्छेसे अच्छा बनाना अपना लक्ष्य रखते हैं, ऐसी कीमतपर पुस्तकें प्रकाशित करना कठिन हो

जाता है कि वे बडे पैमानेपर पुस्तकें छापनेवाले प्रकाशकोंके मुकाबलेमें ठहर सकें। सौभाग्यवश अब माता-पिता अपने बच्चोंके मानसिक भोजनकी ओर भी उतना ही ध्यान देने लगे हैं जितना कि वे उनके नये कपडोकी ओर देते हैं और फलस्वरूप अब बच्चोंके लिए सचमुच अच्छी पुस्तकें छापनेवाले साहसी प्रकाशकोंकी हालत सुधरती जा रही है। बच्चे स्वयं पुस्तकके आकारसे उतना आकर्षित नहीं होते जितना कि उनकी चाचियाँ या आयाएँ होती है और "बालोपयोगी पुस्तक सप्ताह" आदि अनेक प्रकारकी सुविधाओंके द्वारा अब बच्चोंके लिए यह सम्भव हो गया है कि वे स्वयं अच्छी प्रकारकी बालोपयोगी पुस्तकोंके लिए आग्रह करें जिन्हे वे बहुत पसन्द करते हैं।

क्योंकि मैं ऊपर यह कह चुका हूँ कि किसी संस्थासे प्रकाशित पुस्तकोंके स्वरूपपर प्रकाशककी निजी रुचिका बहुत प्रभाव पडता है, इसलिए मै इस आम धारणाके बारेमे भी दो शब्द कहना चाहूँगा कि प्रकाशक अपने प्रकाशनोंमे व्यक्त किये गये सभी विचारोंसे सहमत होता है, या उसे होना चाहिये। यह बिलकुल ही निराधार धारणा है, और यदि इस धारणाको इसके तर्कसंगत परिणामतक पहुँचा दिया जाय तो प्रकाशक गिनती-पहाडोंकी पुस्तकों और अपनी रचनाओंके अलावा कुछ प्रकाशित ही नही कर सकता।

किसीकी रचनामे काट-छाँट करना (मानहानि या अश्लील बातोंकी काट-छाँटको छोडकर) प्रकाशकके लिए उचित नहीं है। उसके लिए केवल यह देख लेनेकी सीमित जिम्मेदारी ही काफी है कि पुस्तककी विषय-वस्तु काफी ठीक है और स्पष्ट रूपसे व्यक्त की गयी है। वास्तवमे, मैं तो यह समझता हूँ कि विवाद-ग्रस्त रचनाओंका प्रकाशन हर प्रकारकी पुस्तकें छापनेवाले आम प्रकाशकका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। नये विचारों और अप्रचलित मतोंकी छानबीन करनेका इससे अच्छा तरीका और क्या हो सकता है? आपत्तिजनक विचारोंको नष्ट करनेका साधन उनको कुचलना नहीं बल्कि उन्हे प्रकाशित करना है: साँचको

आँच क्या; तर्कहीन विचार ही दिनके प्रकाशमें मुरझा जाते हैं। जो विचार आज आम तौरपर स्वीकार नहीं किये जाते वही कल घर-घरमें प्रचलित हो जाते हैं, और इसके अलावा भी बुद्धिमान् लोग हर समस्याके बारेमे दोनो पक्षोके तर्क सुनना चाहते हैं। प्रकाशनके द्वारा सत्य रूपी अन्न अन्धविश्वास रूपी भूसेसे अलग हो जाता है और प्रकाशकका यह कर्तव्य है कि वह अपने द्वार सबके लिए खुले रखकर इस क्रमको कायम रखे।

मैं तो हर प्रकारकी पुस्तकें छापनेवाले उस प्रकाशकके भाग्यको सराहता हूँ जिसे नाना प्रकारके विषयोंमे रुचि होती है, विशेष रूपसे यदि उसकी प्रकाशित की हुई पुस्तकोमें अतीतकी विचार-धाराओके बजाय भविष्यकी विचार-धाराओका प्रभुत्व हो। इसका कारण कुछ हद-तक तो यह है कि मुझे विवाद-ग्रस्त विषयोके साहित्यसे विशेष रुचि है। इस प्रकारका प्रकाशक अपने कामके दौरानमे अपने युगके विचार-जगत्के सम्पर्कमे आता है, उसे अपनी योजनाओंकी पूर्तिका बहुत मौका मिलता है और वह प्रगतिके ध्येयको आगे बढानेमे बहुत सहायता पहुँचा सकता है। समाचारपत्रोकी शक्तिके बारेमे तो बहुत-कुछ कहा जाता है, जो कई पीढियोतक कायम रहती है। यह भावना कि आप चिरस्थायी सामग्रीसे किसी चीजका निर्माण कर रहे है, यह आभास कि आपका नाम ऐसी पुस्तकोसे सम्बद्ध है जिसमे गूढ विचारोका खजाना छिपा हुआ है और रचनात्मक कल्पनासे प्राप्त सफलताके कारण श्रेष्ठतम पुस्तकें प्रकाशित करनेका आकर्षण और भी बढ जाता है। पाठकोको केवल वही चीजें देना जो वे चाहते हैं, किसी समयके निम्नतम विचारों और भावनाओंका दास बन जाना, मुनाफा कमानेका सबसे अच्छा और आसान तरीका हो सकता है, हमारे देशमें भी और दूसरे देशोंमे भी—पर यह मार्ग अत्यन्त नीरस है। जो लोग अग्रणी व्यक्तियोके साथ नये पथपर चलनेके लिए तत्पर है उनके लिए प्रकाशनके क्षेत्रमे अत्यन्त रोमांचकारी अनुभवोंकी सम्भावनाएँ हैं: उन लोगोके लिए जो अरुचि, अज्ञान और

अकारण विरोधको दूर करनेमें सहायता देनेके लिए उत्सुक हैं, उन लोगों-के लिए जिनमे सब चीजोसे बढकर सत्यके दीपकको जलाये रखनेकी उत्कण्ठा है। सम्भव है कि इसमे आर्थिक दृष्टिसे उतना लाभ न हो, पर इससे जो सन्तोष प्राप्त होगा वह धनसे नहीं खरीदा जा सकता। यदि आप मानव प्रकृतिका उसके विभिन्न रूपोमे अध्ययन करना चाहते है और उसके प्रति प्रेम रखते है, तो आपको अपनी इच्छा-की पूर्तिके लिए प्रकाशनक्षेत्रसे अच्छा अवसर और कहाँ मिल सकता है? लेखकोमे आपको अत्यन्त सज्जन लोग भी मिलेंगे और उनसे सर्वथा भिन्न प्रकृतिवाले लोग भी; आपको वहाँ अहंकी भावनामे चूर वह लेखक भी मिलेगा जो अपनी रचनाको युग-प्रवर्तक महत्त्व देता है और अत्यन्त विनम्र स्वभाववाले प्रकाण्ड विद्वान भी मिलेंगे और इन दोनोंके बीचके भी हर स्तरके लोग मिलेंगे। जैसे-जैसे समय बीतता है आपके कुछ ग्राहक आपके निजी मित्र बन जाते हैं और आप उनके विश्वासका प्रत्युत्तर जिस रूपमे दे सकते है उसे प्रायः आम तौरपर व्यापार-क्षेत्रकी सीमाओके भीतर नहीं समझा जाता।

फिर इसमे आश्चर्यकी क्या बात है कि इतनी अधिक संख्यामे विचारवान् तथा उच्च आदर्श रखनेवाले लोग इस क्षेत्रमें प्रवेश करनेके लिए उत्सुक रहते हैं? परन्तु मै एक बार फिर यह बात दोहरा दूँ, जिसे मैं बार-बार दोहराता आया हूँ, कि कोई व्यक्ति पुस्तक-प्रकाशनके क्षेत्रमे प्रवेश करनेसे पहले यदि उसकी तमाम अरुचिकर और कष्टदायक छोटी-छोटी बातोंसे, उसके जटिल संघटनसे और उसके आर्थिक पहलूसे पूरी तरह परिचय प्राप्त नहीं कर लेता है तो वह अपने लिए मुसीबत मोल ले रहा है। इस प्रकारका अनुभव पुस्तकोके अध्ययन द्वारा नही प्राप्त किया जा सकता। परन्तु मेरा उद्देश्य प्रकाशनकी शिक्षा देना नही है, बल्कि मैं अपने विविध तथा असाधारण अनुभवोके आधारपर लेखको तथा पुस्तकोसे सम्बन्धित तमाम लोगोको ऐसी जानकारी प्रदान करना चाहता हूँ, जो उन सबके लिए आवश्यक

है। इस सम्बन्धमें और भी बहुत-कुछ कहा जा सकता है, और शायद बहुत-सी बातें इससे भी अच्छे ढङ्गसे कही जा सकती हैं, फिर भी मुझे आशा है कि मै अपने उद्देश्यको प्राप्त करनेमें थोड़ी-बहुत हदतक सफल हुआ हूँ।

दसवाँ अध्याय

कापीराइट तथा अन्य "अधिकार"

पुस्तकके रूपमें अंग्रेजी भाषामे किसी रचनाके प्रकाशनके अधिकारको छोडकर, जो इस पुस्तकका मुख्य विषय है, पुस्तक-सम्बन्धी अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण अधिकारोंपर बहस करनेसे पहले यह अच्छा होगा कि इन "अधिकारो" के दो मूल स्रोतोंपर विचार कर लिया जाय, चाहे संक्षेपमें ही सही।

सन् १९११ के ब्रिटिश कापीराइट ऐक्टके बारेमें कई पुस्तके लिखी जा चुकी हैं और इसलिए यहाँ केवल इतना बता देना काफी होगा कि इस ऐक्टमें कापीराइटकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है: "उक्त रचना या उसके किसी गण्य भागको किसी भी भौतिक रूपमें प्रस्तुत करने या पुनःप्रस्तुत करने, उक्त रचना या उसके किसी गण्य भागको नाटकके रूपमें सार्वजनिक तौरपर खेलने या किसी सार्वजनिक सभामें भाषणके रूपमे प्रयोग करनेका पूर्ण अधिकार; यदि रचना अप्रकाशित है तो उसे या उसके किसी गण्य भागको प्रकाशित करनेका अधिकार; और इसमें ये पूर्ण अधिकार भी शामिल होगे"...अनुवाद प्रकाशित करना, रचनाको नाटकके रूपमे प्रकाशित करना; और उसकी फिल्में बनवाना आदि। सबसे पहले ब्रिटिश साम्राज्यके क्षेत्रमें प्रकाशित होनेवाली हर मूलसाहित्यिक रचनाके सम्बन्धमें ये अधिकार लेखकके जीवनभर और उसकी मृत्युके पचास वर्ष बादतक सुरक्षित रहेंगे और इस संरक्षणके साथ इस शर्तके अलावा कोई दूसरी शर्त नहीं होगी कि उस रचनाकी एक प्रति प्रकाशनके एक माहके अन्दर ब्रिटिश म्यूजियमके ट्रस्टियोंके पास पहुँचा दी जाय।

प्रकाशित करनेका अर्थ होता है "किसी रचनाकी प्रतियाँ जनतातक पहुँचा देना और यदि उक्त रचना किसी दूसरी जगह चौदह दिनसे अधिक पहले प्रकाशित नहीं हुई है तो उसे इस ऐक्टके अन्तर्गत

ब्रिटिश साम्राज्यके क्षेत्रमें ही सबसे पहले प्रकाशित माना जायगा।"

अमेरिकी प्रकाशक बहुधा इस आखिरी बातकी ओर कभी ध्यान नहीं देते और कभी-कभी इंग्लैण्डके साहित्यिक एजेण्ट भी, जिन्हें इस बातका अधिक ज्ञान होना चाहिये, इस बातको भूल जाते हैं। वास्तवमें यदि गौरसे देखा जाय तो अमेरिकी पुस्तकोंकी एक आश्चर्यजनक हदतक बड़ी संख्या ब्रिटेनमें (कमसे कम सिद्धान्तकी दृष्टिसे) कापीराइटके नियमके अन्तर्गत नहीं आती। मैं "सिद्धान्तकी दृष्टिसे" इसलिए कह रहा हूँ कि जबतक इंग्लैण्डके प्रकाशक इस बातको मानकर चलते रहेंगे कि तमाम जीवित लेखकोंकी अंग्रेजी भाषाकी रचनाएँ **अपने आप** कापी-राइट अधिकारके अन्तर्गत सुरक्षित होती ही है और कानूनकी दृष्टिसे इसकी सार्थकतापर जबतक कोई दूसरा व्यक्ति उँगली नहीं उठायेगा तबतक तमाम रचनाएँ **पूरे ब्रिटिश राज्यमें** व्यावहारिक रूपसे "कापी-राइट" अधिकारके अन्तर्गत सुरक्षित रहेंगी। मैंने इन चार शब्दोंपर विशेष रूपसे जोर इसलिए दिया है कि दूसरे देशोंमें "एक साथ," प्रकाशनका अर्थ "एक साथ" ही होता है। बर्नमें स्वीकृत नियमावलीमें चौदह दिनकी कोई छूट नहीं दी गयी है जैसी कि ब्रिटिश कानूनमें है। इसके अलावा हालैण्डकी अदालतोंने यह फैसला दिया है कि "वितरण" चाहे जितने विस्तृत और प्रभावी रूपसे किया जाय और चाहे वह किसी स्वतन्त्र संस्था द्वारा ही क्यों न किया जाय, उदाहरणके लिए कनाडामें, परन्तु उसका अर्थ आवश्यक रूपसे "प्रकाशन" नहीं समझा जा सकता। इसकी सम्भावना है कि अन्य देश भी इसी निर्णयका अनुसरण करें। ब्रिटिश कानूनमें भी "प्रकाशनके सन्दिग्ध प्रतिरूप"को कापीराइटका उल्लंघन नहीं माना जा सकता।

परन्तु जब परिस्थिति इसकी उल्टी होती और इंग्लैण्डकी प्रकाशित पुस्तकोंको अमेरिकामें प्रकाशित करनेका सवाल होता है तो यह माना जाता है कि उस पुस्तकपर अमेरिकामें कापीराइटकी कोई पाबन्दी नहीं है जबतक कि इसके खण्डनके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण न हो। इस बातके

कई अरुचिकर परिणाम होते हैं जिनका उल्लेख हम बादमें करेंगे।

बर्न नियमावली, जिसके अन्तर्गत बिना किसी शर्तके इस नियमावलीपर दस्तखत करनेवाले देशोंके तमाम प्रकाशनोंको अपने-आप कापीराइटका संरक्षण प्राप्त हो जाता है, अब इतने आम तौरपर स्वीकार की जाने लगी है कि बहुत थोड़े लोगोंको यह आभास होता है कि साहित्यिक सम्पत्तिको यह संरक्षण प्राप्त हुए अभी कुल पैंसठ-सत्तर वर्ष ही हुए हैं। पहली बार इस नियमावलीपर १८८६ में हस्ताक्षर हुए थे, सन् १८९६ मे, १९०८ मे और फिर १९२८ मे इसमें संशोधन किये गये।

दुनियाके प्रायः सभी सभ्य देशोंने इसपर हस्ताक्षर किये, हस्ताक्षर न करनेवाले देशोंमें प्रमुख है रूस, अमेरिका, दक्षिणी अमेरिकाके कुछ प्रजातन्त्र (जिनके अपने अलग नियम हैं) और चीन। सोवियत अधिकारियोंने यह रवैया जारशाहीके जमानेके अपने पूर्वाधिकारियोंसे उत्तराधिकारमे पाया है और आशा की जाती है कि वे अपने पूर्वजोंकी परम्परापर हमेशा नहीं चलेंगे। अमेरिका इस समय इस नियमावलीपर इसलिए दस्तखत नही कर सकता कि वह इस बातपर अडा हुआ है कि कापीराइटके लिए यह लाजिमी शर्त होनी चाहिये कि पुस्तक वहीं छापकर तैयार की गयी हो। परन्तु वहाँ निरन्तर ऐसे कानून बनानेकी कोशिश की जा रही है जिनसे यह स्पष्ट हो जाय कि अमेरिका भी इस नियमावलीको स्वीकार करता है। परन्तु अभी तक इस प्रकारके तमाम प्रयत्न वाद-विवादतक ही सीमित रहे है।

इन देशोंको छोडकर भी ९० करोडसे अधिक लोग इस नियमावलीके क्षेत्रमे आते हैं। इस नियमावलीकी शर्तें इतनी महत्वपूर्ण है, और लेखकोंको इनके बारेमें इतना कम ज्ञान है कि मै नीचे उस सरकारी पुस्तिकाका विवरण दे रहा हूँ जिसमें इस नियमावलीका सरकारी अंग्रेजी रूपान्तर दिया गया है, यद्यपि इस पुस्तिकामे वे संशोधन शामिल हैं जो १९२८ मे रोममें स्वीकार

किये गये थे, किन्तु (दुर्भाग्यवश !) वे नहीं हैं जो १९४८ में ब्रुसेल्समें किये गये थे।

सन् १९०८ के संशोधनोंके द्वारा अन्य परिवर्तनोंके अलावा एक परिवर्तन यह किया गया कि अनुवादोंको मूल रचनाओंके बराबर स्थान दिया गया, जब कि इससे पहले की नियमावलियोंमें यह कानून था कि यदि किसी रचनाके मूल प्रकाशनके दस वर्षके अन्दर किसी भाषामें उसका अनुवाद प्रकाशित न हो तो उस भाषामें अनुवाद करनेका अधिकार सार्वजनिक हो जाता था। यद्यपि इन संशोधनोंका पालन ऐच्छिक था परन्तु हस्ताक्षर करनेवाले सभी देशोंने धीरे-धीरे १९०८ की नियमावलीको मान्यता दे दी। परन्तु कुछ देशोंने स्वीकृतिके साथ कुछ शर्तें भी लगा दीं, और विशेष रूपसे यूनान, हालैण्ड, इटली और जापानने अनुवादोंके अधिकारके सम्बन्धमें यह दस वर्षकी शर्त कायम रखी।

हर देशमें कापीराइट संरक्षणका विस्तार और अवधि उतनी ही होती है जितनी कि स्वयं उस देशके लेखकोंको प्राप्त होती है, जहाँ इस अधिकारका प्रयोग किया जा रहा है, बशर्ते कि किसी दशामें भी यह अवधि उससे ज्यादा न हो जितनी कि उस रचनाकी उत्पत्तिके देशके लेखकोंको प्राप्त है। "रचनाकी उत्पत्तिके देश" की परिभाषा इस प्रकार की गयी है : "अप्रकाशित रचनाओंके सम्बन्धमें, वह देश जहाँका लेखक निवासी है; प्रकाशित रचनाओंके सम्बन्धमें, वह देश जहाँ उस रचनाका प्रथम प्रकाशन हुआ"; और उन रचनाओंके सम्बन्धमें जो इस संघमें सम्मिलित कई देशोंमें (या उसके बाहरके देशोंमें भी) एक साथ प्रकाशित हों, रचनाकी उत्पत्तिका देश संघके उस देशको माना जायगा जहाँ यह संरक्षण सबसे कम अवधिके लिए दिया जाता है।

कई देशोंमें, फ्रांस और ब्रिटेनमें भी यह संरक्षण लेखककी मृत्युके पचास वर्ष बादतक लागू रहता है (ब्रिटेनमें पचीस वर्षके बाद कुछ

शर्तें बढ़ा दी जाती हैं); कुछ देशोंमें तीस वर्षतकके लिए यह संरक्षण दिया जाता है; स्पेनमें यह अवधि अस्सी वर्षकी है।

सन् १९११ के ब्रिटिश कापीराइट ऐक्ट तथा बर्न नियमावलीके अन्तर्गत ब्रिटिश लेखकोंको जो अनेक अधिकार प्राप्त हैं उनमें सबसे पहले **धारावाहिक रूपमें प्रकाशित करनेका अधिकार** विचारणीय है; यों सिद्धान्तमें तो यह अधिकार सभी प्रकाशनोंके सम्बन्धमें होता है परन्तु प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेवाली हजारों पुस्तकोंमेंसे बहुत थोड़ी ही धारावाहिक रूपमें प्रकाशित होती हैं, और इसी प्रकार समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओंमें धारावाहिक रूपसे प्रकाशित होनेवाली सभी रचनाएँ पुस्तकोंके रूपमें प्रकाशित नहीं होतीं। यह आवश्यक नहीं है कि सर्वोत्तम पुस्तकें धारावाहिक रूपसे प्रकाशित करनेके लिए भी सर्वोत्तम हों, और न सर्वोत्तम धारावाहिक रचनाएँ ही सर्वोत्तम पुस्तकें बन सकती हैं। वास्तवमें यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि सर्वोत्तम धारावाहिक रचनाएँ वही होती हैं जो विशेष रूपसे धारा-वाहिक रूपसे प्रकाशित होनेके लिए लिखी जाती हैं और इस दशामें इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि एक अंकमें जितना अंश प्रकाशित हो वह किसी अत्यन्त सन्तोषजनक "घटना" पर खत्म हो और सम्पा-दककी दृष्टिसे सन्तोषजनक "घटना" वही होती है जो पाठकको उस पत्र या पत्रिकाका दूसरा अंक खरीदनेपर बाध्य कर दे। उपन्यासोंके अलावा बहुत कम किताबें ऐसी होती हैं, विख्यात व्यक्तियोंके वैयक्तिक संस्मरणोंको छोड़कर जो पुस्तकके रूपमें प्रकाशित होनेसे पहले बहुत विस्तृत रूपसे धारावाहिक रूपमें प्रकाशित होती हों। ("संस्मरण" किसी भी प्रकारके हो सकते हैं और इसमें यात्रा या खोजबीनके बारेमें वैयक्तिक अनुभवोंके वर्णन शामिल हैं, "विख्यात" होनेका मतलब यह नहीं है कि लोग लेखकोंको प्रशंसाकी ही दृष्टिसे देखते हों।) इसके अलावा कई पुस्तकोंके कुछ हिस्से प्रकाशनसे पहले लेखोंके रूपमें भी प्रकाशित किये जा सकते हैं।

धारावाहिक प्रकाशनमें काफी समय लगता है और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि चाहे कहानी विशेष रूपसे इसी कामके लिए तैयार करायी गयी हो, पर लेखक पुस्तकके रूपमे उसके प्रकाशनको स्थगित करके इस बातका फायदा उठानेपर तैयार नही होता। अधिकांश अखबार और पत्रिकाएँ धारावाहिक प्रकाशनके लिए रचनाएँ बहुत पहलेसे तै कर लेती है और किसी रचनाके धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार सफलतापूर्वक बेचनेके लिए इस बातकी ठीक-ठीक जानकारी आवश्यक है कि उस समय उसके बेचनेकी क्या-क्या सम्भावनाएँ हैं। यदि और सब परिस्थितियाँ एक जैसी हों, तो इन अधिकारोको बेचनेके लिए जितना अधिक समय मिलेगा उतना ही ज्यादा फायदा इससे उठाया जा सकता है।

धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार बेचते समय यह विशेष रूपसे महत्त्वपूर्ण है कि दिये जानेवाले अधिकारकी स्पष्ट शब्दोंमें व्याख्या कर दी जाय और यह निश्चित कर दिया जाय कि पूरी रचना कमसे कम तीन किस्तोंमे प्रकाशित की जायगी।[१] कभी-कभी सारी दुनियामे धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार एक साथ बेच देना ज्यादा लाभदायक होता है, परन्तु बहुधा धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार अलग-अलग देशों या राज्योंके लिए अलग-अलग बेचे जाते हैं। इसके अलावा, अधिकांश उदाहरणोंमें, जो अधिकार बेचा जाता है वह किसी पत्र या पत्रिकामें केवल "प्रथम धारावाहिक प्रकाशन" या "केवल एक बार धारावाहिक प्रकाशन" का अधिकार होता है। इस प्रकार इस बातकी सम्भावना रहती है कि दुबारा धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार बेचकर और मुनाफा कमाया जा सके। दुबारा बेचते समय यह अधिकार कभी-कभी "सिंडीकेटेड रूपमे प्रकाशन"के लिए खरीदे जाते हैं; अर्थात् कोई संस्था धारावाहिक प्रकाशनके बचे हुए तमाम अधिकार एकदम खरीद

१. पूरे उपन्यासको किसी पत्रिकाके एक ही अंकमे प्रकाशित कर देनेमे पुस्तकके रूपमें उसकी बिक्री मारी जाती है।

लेती है और फिर कई छोटे-छोटे पत्र-पत्रिकाओंके हाथ उन्हे बेचकर मुनाफा कमाती है, क्योंकि इन छोटे-छोटे पत्र-पत्रिकाओंमेसे कोई भी इतना पैसेवाला नहीं होता कि धारावाहिक प्रकाशनका दूसरा अधिकार भी अकेले अपने बूतेपर खरीद सके। इन अधिकारोंको इंग्लैण्डके छोटे-छोटे प्रान्तीय अखबारोंके हाथ बेचनेके अलावा इस प्रकारकी संस्थाएँ अन्य जगहोंसे, जैसे लंका, तस्मानिया, या न्यूजीलैण्डके उत्तरी तथा दक्षिणी द्वीपोसे, जहाँके अधिकांश पत्र साधारण परिस्थितियोंमे धारावाहिक रूपसे कोई न कोई रचना छापते रहते है, १०-१० या १५-१५ पौंड कमा लेनेमे नही चूकती।

तमाम सम्भावनाओकी जानकारीके अलावा, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार बेचनेमे तकदीरका भी बहुत बडा हाथ होता है। दो धारावाहिकोंके बीच यदि कोई अवकाश पड रहा है तो सम्पादक कोई दूसरी रचना जल्दीमें खरीदनेके लिए विशेष रूपसे उत्सुक रहता है—ऐसी दशामें जो कुछ भी उसके हाथ लगता है उसका वह असाधारण उत्सुकतासे विचार करता है—असाधारण इसलिए कि बहुधा इस प्रकारकी रचनाएँ उससे कहीं अधिक संख्यामें उपलब्ध रहती है जितनी माँग होती है।

धारावाहिक प्रकाशनके अधिकारके लिए अदा की जानेवाली रकम बहुत बदलती रहती है। लोकप्रिय उपन्यास-लेखकों या सार्वजनिक क्षेत्रमे ख्यातिप्राप्त व्यक्तियोंकी रचनाओंके लिए बहुत बडी-बडी रकमें मिल जाती हैं। लोकप्रिय पत्रिकाओंके कथा-कहानी विभागके सम्पादक-को बहुधा यह फैसला करना पडता है कि वह किसी ख्यातिप्राप्त लेखककी ऐसी रचना ले, जो धारावाहिक प्रकाशनके लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो या उससे चौथाई मूल्यपर किसी अज्ञात लेखककी सच-मुच अव्वल दर्जेकी धारावाहिक रचना ले। ऐसी परिस्थितिमें प्रायः हमेशा ही "लेखकका नाम" ही पसन्द किया जाता है। मुझे एक उदाहरण याद है जब एक प्रख्यात लेखकने, जो बहुत कोशिश करनेपर

भी अपनी पुस्तकके धारावाहिक प्रकाशनके अधिकार बेचनेमें असफल रहा था, एक प्रकाशकको उस पुस्तकके प्रकाशनका अधिकार इस शर्तपर देनेको कहा कि वह उसके धारावाहिक प्रकाशनका अधिकार भी खरीदे। लेखकको विश्वास था कि धारावाहिक प्रकाशनका अधिकार बेचनेका कोई दूसरा उपाय था ही नहीं। उपन्यास लगभग १,५०,००० शब्दोंका था और उसमें घटनाओंका सर्वथा अभाव था। प्रकाशकने लेखककी शर्त स्वीकार कर ली पर साथ ही यह शर्त भी लगा दी कि उसे उस रचनाको धारावाहिक प्रकाशनके लिए काटने-छाँटनेकी पूरी आजादी दी जाय, और लेखकने प्रकाशककी यह शर्त सहर्ष स्वीकार कर ली। प्रकाशकने एक अनुभवी पत्रकारको इस कामके लिए नियुक्त किया कि वह पुस्तकका आधेसे अधिक भाग काट दे और केवल उतना ही हिस्सा रहने दे जो कहानीके क्रमके लिए सर्वथा आवश्यक हो। लेखकको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इस रूपमें एक प्रकाशक उस रचनाके धारावाहिक प्रकाशनके लिए ४०० पौंड देनेपर तैयार हो गया, मुख्यतः लेखकके नामके कारण।

धारावाहिक प्रकाशनके लिए रचनाएँ पसन्द करते समय उसके गुण या उपयुक्तताकी अपेक्षा लेखकके "नाम"को ही निर्णयका आधार बनानेकी प्रवृत्ति आवश्यकतासे अधिक पड़ गयी है और अन्ततः यही इसके सर्वनाशका कारण बनेगा।

आम तौरपर धारावाहिक कहानियों या क्रमिक लेखोंके लिए सबसे अच्छी कीमत अमेरिकी पत्र अदा करते हैं, बशर्ते उन्हें उनकी-आवश्यकताके अनुसार चीज दी जा सके। ब्रिटेनके लेखकोंके हितमें यह अत्यन्त उपयोगी है कि वे इन पत्रोंकी आवश्यकताओंका ध्यानपूर्वक अध्ययन करें क्योंकि उनकी आवश्यकता पूरी करनेका पारिश्रमिक बहुत काफी मिलता है।

इस कथनकी पुष्टिके लिए कोई प्रमाण नहीं मिल सकता कि पहले धारावाहिक रूपमें प्रकाशित कर देनेसे किसी पुस्तककी बिक्रीमें बड़ी

सहायता मिलती है। परन्तु इसके साथ ही इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि धारावाहिक प्रकाशनसे बिक्री कम हो जाती है। शायद कुछ हिसाब लगानेपर इसमें पुस्तकको लाभकी अपेक्षा हानि ही ज्यादा होती है, परन्तु इस थोडे-बहुत नुकसानके बदले लेखकको जो पैसा मिलता है उससे इस हानिकी पूर्ति हो जाती है।

अमेरिकी संस्करणके प्रकाशनके अधिकार (उन गिने-चुने नामी लेखकोको छोडकर जिनकी रचनाएँ निस्सन्देह ही दोनो जगह अलग-अलग छपती है) बहुधा इंग्लैण्डके प्रकाशकके हाथोमे ही रखना ज्यादा उपयोगी होता है। इसके कुछ कारण समझौतोवाले अध्यायमे दिये गये है।

किसी ब्रिटिश पुस्तकपर अमेरिकामे कापीराइट अधिकार[१] केवल उस दशामे प्राप्त किया जा सकता है जब यह पुस्तक इंग्लैंडमे प्रकाशित होनेके ६० दिनके अन्दर (और यदि उसके ब्रिटिश संस्करणकी एक प्रति वाशिंगटनमे जमा कर दी जाय तो ६० + १२० दिनके अन्दर) पूरी तरह अमेरिकामे छापकर तैयार कर दी जाय। ऐसी पुस्तकोके सम्बन्धमे, जो छापकर तैयार की जा चुकी हो या यहाँ छप रही हो, इस शर्तको पूरा करनेके लिए यह आवश्यक होता है, और दूसरे उदाहरणोमे भी व्यवहारमे यही करना पडता है कि दोनों जगह उसे टाइपमे जमाया जाय और दो जगह छपाई करायी जाय, और नये प्रकाशनोमेसे बहुत थोडे ही ऐसे होते हैं जिनमे यह करना व्यावहारिक रूपसे सम्भव या लाभदायक होता हो। इसलिए स्वाभाविक ही है कि ब्रिटिश प्रकाशक यथासम्भव इसी प्रकारका प्रबन्ध करनेकी कोशिश करता है, विशेष रूपसे उन पुस्तकोके सम्बन्धमे जिनके चुरा लिये जानेका खतरा होता है।

---

१. इसकी अवधि अट्ठाइस वर्षकी होती है, परन्तु यह अवधि अट्ठाइस वर्षके लिए बढ़ायी जा सकती है; लेकिन अवधि बढ़ानेकी अर्जी कापीराइट अधिकार रखनेवालेको पहली अवधि खत्म होनेके पहलेवाले सालके दौरानमे ही दे देनी चाहिये।

परन्तु इस प्रकार छापी जानेवाली नयी पुस्तकोंकी संख्या (उन गिने-चुने लेखकोंको छोडकर जिनके बारेमें हम यहाँपर विचार नहीं कर रहे है) बहुत ही थोडी होती है। परन्तु यदि अमेरिकामें पुस्तक प्रकाशित करानेके लिए कोई भी दूसरा प्रबन्ध करना हो, चाहे वह एलेक्ट्रोप्लेटो या स्टीरियोप्लेटोंकी बिक्री हो या अमेरिकी प्रकाशकके नामके साथ छपे हुए फार्म या जिल्द-बँधी हुई पुस्तकें हों, तो हमेशा ब्रिटिश प्रकाशककी ही सहायता लेनी चाहिये।

क्योंकि अधिकांश साधारण पुस्तकोंके सम्बन्धमे इन्हींमेंसे कोई तरीका अपनाया जाता है, इसलिए यदि लेखक अमेरिकी संस्करणके अधिकार अपने पास सुरक्षित रखता है तो बादमें जब प्रकाशकसे अमेरिकी संस्करणके अधिकार बेचनेके लिए कहा जाता है तो अधिकांश उदाहरणोंमे, उसके लिए कोई सन्तोषजनक सौदा करना यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाता है। यदि ये अधिकार शुरूसे ही उसके पास हो तो वह लेखकके हितमें ज्यादा अच्छी तरह सौदा कर सकता है। परन्तु एक और भी महत्त्वपूर्ण बात है जो विशेष रूपसे नये लेखकों या नये विषयोंपर लिखी गयी रचनाओंपर लागू होती है। लंदन आनेवाले अमेरिकी प्रकाशकोंके पास बहुधा समयका बहुत अभाव रहता है, वे सर्वोत्तम उपलब्ध सामग्री प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु इस सामग्रीको जाँचनेके लिए उनके पास बहुत ही थोडा समय होता है। अपनी पाण्डु-लिपियाँ बेचनेको उत्सुक लेखकों या उनके एजेण्टोंकी लम्बी-चौड़ी बातोंको वे ध्यानसे भले ही सुन लें परन्तु उसका इतना प्रभाव नहीं पडता जितना कि किसी दूसरे प्रकाशककी इतनीसी बातका, कि "हमारी संस्थाके पाण्डुलिपि जाँचनेवालोंकी इस पुस्तकके बारेमे यह राय है; हम पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं।" इस कथनके सत्यको परखनेकी एक सीधी-सादी और खरी कसौटी है। किसी अज्ञात लेखककी पुस्तकको किसी अमेरिकी प्रकाशकने, उस रचनाको बगैर पढे या बगैर किसीसे पढवाये, उस लेखकसे या उसके एजेण्टसे खरीदा हो, इसके कितने

उदाहरण हैं ? एक भी नही। इसके विपरीत, कई अमेरिकी प्रकाशकोने अपने अत्यन्त सफल प्रकाशन पूर्णतः किसी ब्रिटिश प्रकाशककी सिफारिशपर खरीदी गयी रचनाओपर किये है। कुछ ब्रिटिश प्रकाशकोंके साथ हमेशा यही होता है और उनकी सिफारिशपर अमेरिकी प्रकाशक हमेशा विश्वास भी करते है। क्या यह बात अज्ञात लेखकके लिए कोई महत्व नहीं रखती ? इसके अलावा, कुछ प्रकाशकोंकी साख कुछ विषयों-के बारेमें इतनी ऊँची होती है कि उस विषयकी पुस्तकपर उस प्रकाशकका नाम होनेसे ही उसके प्रकाशनका अधिकार अमेरिकामें (या अमेरिकी प्रकाशनका अधिकार इंग्लैडमे) बडी आसानीसे बेचा जा सकता है। जीवन या व्यापारके किसी दूसरे क्षेत्रमे अपनी साखसे इस प्रकारका फायदा पहुँचानेका पुरस्कार और महत्त्व कितना अधिक समझा जायगा ?

उचित अमेरिकी प्रकाशक पसन्द करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है, और इसका निर्णय ब्रिटिश प्रकाशक भी उन्ही बातोंके आधारपर करता है, जिन्हे कि हर लेखक अपनी पाण्डुलिपि बेचते समय ध्यानमे रखता है।

पहली बात तो है आर्थिक दृष्टिसे प्रकाशकका स्थायित्व (कई लेखक तो इस बातकी ओर ध्यान देते ही नही और देते भी हैं तो सबसे आखीर-मे, परन्तु किसी ऐसी सस्थाके साथ सौदा करना, जो रायल्टी अदा नहीं करती, केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि उससे भी बदतर है।)

दूसरी बात ध्यान रखनेकी है प्रकाशकका सूचीपत्र (अधिकाश प्रकाशक कुछ न कुछ हदतक कुछ विशिष्ट विषयोपर ही पुस्तके प्रकाशित करते हैं, और यह हमेशा हितकर होता है कि आप ऐसा प्रकाशक चुने जो इस प्रकारकी पुस्तके छापनेके लिए मशहूर हो जैसी कि आपकी रचना है।)

तीसरी बात है प्रकाशकका बिक्रीका सघटन कितना विस्तृत है (इस कसौटीपर परखनेसे बहुत छोटी या नयी सस्थाएँ कभी पसन्द नहीं की जायँगी।)

चौथी बात यह कि ऐसा प्रकाशक पसन्द करना अच्छा है, जो उस रचनामे वैयक्तिक रूपसे दिलचस्पी ले (इस कसौटीपर परखनेसे बहुत बड़ी-बड़ी संस्थाएँ पसन्द नही की जायँगी।)

प्रकाशकके निर्णयपर कई अन्य अपेक्षाकृत कम विचारणीय उपकरणोंका भी प्रभाव पड़ता है, जैसे विभिन्न अमेरिकी संस्थाओके बारेमें पहलेका अनुभव आदि, परन्तु एक बार किसी संस्थाको पसन्द कर लेनेके बाद प्रकाशक यह बात अपने अनुभवसे सीख जायगा कि उसी लेखककी आगामी रचनाओंके लिए भी उसे उसी प्रकाशकको चुनना चाहिये। यदि एक ही सूचीपत्रमे एक लेखककी कई पुस्तके हों तो उनमेंसे हर पुस्तक दूसरी पुस्तकोंके लिए विज्ञापनका काम करती है। जिस प्रकार कोयलेका एक ही टुकडा थोडी देरमें बुझ जाता है, परन्तु यदि एक दर्जन टुकड़े हों तो आग सुलगती रहती है इसी प्रकार एक अकेली पुस्तकका जोर कुछ समय बाद खत्म हो जायगा परन्तु यदि एक ही प्रकाशकके पास एक ही लेखककी एक दर्जन पुस्तकें हो तो वे सब मिलकर बिकती रहेंगी। पुस्तकोंके एक समूहकी ओर जितना ध्यान दिया जा सकता है और उनका जितना विज्ञापन किया जा सकता है, उतना एक अकेली पुस्तकके लिए सम्भव नहीं होता। यदि किसी लेखककी पुस्तकें एक दर्जन प्रकाशकोंके सूचीपत्रोंमें बिखरी हों तो पुस्तकोंका आर्डर देते समय उनमेंसे कुछ पुस्तकें लाइब्रेरियन या पुस्तक-विक्रेताकी नजरमे चूक भी सकती है, परन्तु यदि वे एक ही सूचीपत्रमें एकत्रित हों तो इसकी सम्भावना नहीं रह जाती। सौभाग्यवश ये स्वतःस्पष्ट बातें लेखक अधिकाधिक स्वीकार करते जा रहे हैं, और यह भी बता देना उचित होगा कि साहित्यिक एजेण्ट भी इन बातोंको स्वीकार करने लगे है, क्योंकि यद्यपि वे अब कसमें खा-खाकर यह कहते हैं कि वे इस सम्बन्धमें बिलकुल निर्दोष है, परन्तु इस बातकी ज्यादातर जिम्मेदारी उन्हीं पर थी कि लेखक किसी तात्कालिक सुविधाके लोभमें, जैसे थोड़ी अधिक "पेशगी रकम", एक प्रकाशकको छोड़कर दूसरेका पल्ला पकड़ लेते थे,

चाहे आगे चलकर उन्हे स्थायी रूपसे कितना ही ज्यादा नुकसान क्यो न हो।

कभी-कभी अमेरिकामे पुस्तककी बिक्री इंग्लैण्डकी बिक्रीसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है, क्योकि अमेरिकाकी जनसंख्या ज्यादा होनेके कारण यदि कोई पुस्तक वहाँ "चल निकले" तो वहाँ उसकी बिक्री इंग्लैण्डकी अपेक्षा बहुत ज्यादा हो जाती है। लेकिन इसके बारेमे कोई नियम निश्चित नही किया जा सकता। अमेरिकामे पुस्तके खरीदनेवाले लोग इंग्लैण्डकी अपेक्षा ज्यादा आसानीसे दूसरोके सुझावोको स्वीकार कर लेते है, और वे अपने स्वतन्त्र निर्णयसे बहुत कम काम लेते हैं। धाराके साथ बहनेकी प्रवृत्तिके आगे कोई दूसरी चीज ठहर नही पाती, इसीलिए वहाँ पुस्तक-प्रकाशन इंग्लैण्डकी अपेक्षा ज्यादा बडा जुआ है भी और नहीं भी है।

वहाँ प्रकाशन-संस्थाओका "कारोबार चलानेका खर्च" और कमीशनकी दर ज्यादा होती है इसीलिए वहाँ ऐसे उदाहरण अपेक्षाकृत कम होते है जब अमेरिकी प्रकाशकोकी रायल्टीकी दर अज्ञात या कम ख्यातिप्राप्त लेखकोके लिए १० प्रतिशत और विख्यात लेखकोके लिए १५ प्रतिशतसे अधिकसे आरम्भ होती हो। फिर पुस्तककी बिक्री चाहे कितनी भी क्यो न हो पर यह दर २० प्रतिशतसे अधिक तो कभी ही नही होती, और इतनी रायल्टी भी बहुत ही कम उदाहरणोमे दी जाती है।

बहुधा उन पुस्तकोपर भी रायल्टी दी जाती है जिनपर कानूनकी दृष्टिसे अमेरिकामे कापीराइट अधिकार नही होता, परन्तु उस दशामें साधारणतया १० प्रतिशतसे अधिक रायल्टी कभी नही दी जाती। यह व्यवस्था भी सम्भवतः उसी दशामे लागू होती है कि इंग्लैण्डका प्रकाशक अमेरिकामे पुस्तककी छपाईके लिए एलेक्ट्रोप्लेटोका एक सेट दे ताकि उसे दुबारा कम्पोज करनेके लिए बहुत ज्यादा रकम न खर्च करनी पड़े या फिर उस दशामें, जब अमेरिकी प्रकाशक पुस्तकका आयात करनेके बाद उसे प्रकाशित करनेका फैसला करे।

किये जीवित लेखकोकी रचनाएँ उडा लेना इस प्रकाशककी आदत है ? कई सम्पादकोने इस सस्थाको पत्र द्वारा सूचना दी कि इस हालतमे वे उसकी छापी हुई पुस्तकोकी समालोचना नही छापेगे।

५. किसी अमेरिकी प्रकाशकसे किसी पुस्तकके प्रकाशनके बारेमें करार करते समय हम शर्तनामेमे एक शर्त यह भी शामिल करने लगे कि वह प्रकाशक अपने किसी प्रकाशनको उस अपराधी प्रकाशककी पुस्तक-मालामे प्रकाशित करनेका अधिकार नही देगा, और साथ ही उन्हे यह भी समझा देते थे कि हम ऐसा क्यो करते है।

६. और इसके बाद हमने इस सस्थाको यह सूचना दे दी कि हमने इस सम्बन्धमे क्या काररवाई की है और साथ ही यह भी चेतावनी दे दी कि यह केवल शुरुआत है।

शीघ्र ही यह लोग समझौता करनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगे और पिछली तथा आगामी तमाम बिक्रीपर रायल्टी देनेके लिए राजी हो गये। बादमे इस संस्थाके एक साझेदारने मुझे बताया कि हमारी इस काररवाईसे उनकी जान इतने संकटमें पड गयी थी कि उन्होने यही बेहतर समझा कि वे भी दूसरे प्रकाशकोंकी तरह पैसे अदा करने लगें। उन्होने प्रशंसनीय स्पष्टवादिताके साथ यह बताया कि हर बार जब टेलीफोनकी घंटी बजती थी तो कोई-न-कोई उनसे यही सवाल करता था कि "क्या यह सत्य है कि आपकी संस्था बिना पैसे अदा किये ही अंग्रेजी साहित्यिक सम्पत्ति हडप लेती है ?" यहाँतक कि इस प्रकारके प्रश्नोका ताँता उनके लिए असह्य हो गया।

दुर्भाग्यवश, कुछ प्रकाशक बहुत ही बेहया होते हैं और वे अपनी दुष्ट हरकतें नहीं छोडते, जिसके कारण अंग्रेज-अमेरिकी सम्बन्धोंको नुकसान पहुँचता है।

इस प्रकारकी चोरीका एक अत्यन्त आश्चर्यजनक उदाहरण फ्रायडकी एक रचनाके सम्बन्धमें है। एक अमेरिकी प्रकाशकने, जिसका नाम इससे पहले कभी नहीं सुना गया था, डाक्टर ब्रिल द्वारा अ...

हमारे स्वप्नोंकी व्याख्या नामक प्रकाशनमेंसे पूरेके पूरे हिस्से (पूरे-पूरे अध्याय भले ही न सही) उड़ाकर, उनके बीच-बीचमें कुछ और हिस्से डाल दिये, जिनमें फ्रायडकी कमसे कम एक और रचना (हीनेमन द्वारा प्रकाशित) के कुछ अंश भी थे, तथा इस पुस्तकको नये नामसे प्रकाशित कर दिया और केवल यही नहीं कहा कि यह फ्रायडकी नयी पुस्तक है बल्कि यह भी कि यह डाक्टर एडरका "अधिकृत अनुवाद" है, जबकि फ्रायडकी तरह अनुवादक सज्जनको भी इस पुस्तकके बारेमें कुछ भी नहीं मालूम था—और इससे भी ज्यादा अविश्वसनीय बात तो यह थी कि इस सराहने योग्य प्रकाशकने इस पुस्तकपर कापीराइट भी घोषित कर दिया !

परन्तु एक बार फिर मैं इस बातपर जोर देना चाहूँगा कि इस प्रकारकी चोरी नियम नहीं बल्कि अपवाद है। कई अत्युत्तम अमेरिकी प्रकाशकोंकी संस्थाओंमेंसे, जिनके नाम इतने प्रख्यात और सम्मानित हैं, शायद ही कोई ऐसी हो जो कापीराइट अधिकार रखनेवालेसे उचित बातचीत किये बिना जीवित लेखकोंकी रचनाएँ प्रकाशित करती हो। इस सम्बन्धमें उनका व्यवहार बिलकुल वैसा ही होता है जैसा कि उस दशामें होता जब अमेरिकाने भी बर्न नियमावलीपर दस्तखत किये होते और हमें आशा है कि निकट भविष्यमें ही अमेरिका भी इसपर हस्ताक्षर कर देगा।

ब्रिटेनके प्रकाशकको एक और कठिनाईका भी सामना करना पड़ता है और वह है अमेरिकी पत्रिकाओंके पुराने अंकों, सस्ते संस्करणों और "बाकी बचे हुए स्टाक"को इंग्लैण्डके बाजारमें कम दाममें झोंक देना (डम्पिंग)। बहुत बड़े पैमानेके प्रकाशनके फलस्वरूप कभी-कभी बहुत बड़े-बड़े स्टाक जमा हो जाते हैं और जिन लोगोंके पास यह स्टाक जमा होते हैं, जिन्हें जल्दीसे जल्दी निकाल देना नितान्त आवश्यक होता है, वे यह नहीं सोचते कि अपना यह फालतू माल भिन्न-भिन्न इलाकोंमें बेचनेका उन्हें अधिकार है। इसके फलस्वरूप पत्रिकाओंके

पुराने अंकोंके आयातको रोकने या उनपर टैक्स लगानेके उद्देश्यसे कानून बनाया गया है। परन्तु इस प्रकारके अस्थायी कानूनके कुछ अरुचिकर परिणाम भी होते हैं, जैसा कि मैंने "पुस्तकोंपर टैक्स" के शीर्षकसे **द टाइम्स** नामक अखबारमें (१४ मई १९२४ के अंक मे) एक पत्रमें बताया था।

अनुवादके अधिकार उन तमाम देशोंमें लागू होते हैं जिन्होंने बर्न नियमावलीपर दस्तखत किये हैं, यद्यपि, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इन अधिकारोंकी अवधि सब देशोमे एक ही नही होती। सम्भव है कि लोगोकी धारणा इस प्रकारकी हो पर इन अधिकारोके न होनेसे अनुवादोंके प्रकाशनको प्रोत्साहन नहीं मिलता। इसके विपरीत, जहाँ यह परिस्थिति होती है कि कोई भी व्यक्ति बिना इजाजतके अनुवाद प्रकाशित कर सकता है वहाँ बहुधा कोई भी इस प्रकारका खतरा मोल लेनेको लाभदायक नही समझता। इस दशामें खतरा तीन तरफसे होता है, क्योंकि केवल यही खतरा नहीं होता कि शायद अनुवाद न बिके, बल्कि इसकी भी सम्भावना होती है कि कोई दूसरा प्रकाशक भी उसी समय उसी पुस्तकका अनुवाद तैयार करा रहा हो और फिर यह तो बिलकुल निश्चित होता है कि यदि वह प्रकाशन सफल सिद्ध हुआ तो उसकी होडमें कई दूसरे संस्करण भी प्रकाशित होगे।

अनुवादके अधिकार बेचनेसे सभी देशोंसे एक जैसी रकम नहीं मिलती और इससे यह अन्दाजा लगाना कठिन होता है कि किस देशमें अनुवाद प्रकाशित करानेका महत्त्व कितना है। उदाहरणके लिए स्वीडेनका प्रकाशक किसी पुस्तकका अनुवाद प्रकाशित करनेके लिए यूनानी या रूमानियाई और बल्गेरियाई प्रकाशकोंसे मिलाकर भी ज्यादा रकम दे सकता है और देता भी है, परन्तु इस बातको ध्यानमें रखते हुए कि स्वीडेनके कितने ही लोग अंग्रेजी पढ़ते हैं, राष्ट्रीय दृष्टिकोणसे ऊपर बतायी गयी अन्य भाषाओंमें अनुवाद प्रकाशित कराना अधिक वांछनीय है। और इस समस्याके इसी राष्ट्रीय पहलूपर मैं बार-बार जोर देना

चाहता हूँ। अंग्रेजीकी सर्वश्रेष्ठ रचनाओंके अच्छे अनुवाद अधिकसे अधिक भाषाओंमें छपवानेके महत्त्वको हानि-लाभकी कसौटीपर न रखना चाहिये। परन्तु साथ ही मैं यह भी बता दूँ कि यदि कोई भावुक लेखक किसी विदेशी प्रशंसकका भावपूर्ण पत्र पाकर भावावेशमें आकर उसे अनुवादका अधिकार दे देता है, तो इससे यह निश्चित नहीं हो जाता कि अनुवाद प्रकाशित होगा ही, अच्छा अनुवाद तो दूर रहा। इसका एकमात्र सन्तोषजनक तरीका यह है कि किसी जिम्मेदार प्रकाशक-को यह काम सौंप दिया जाय, जो पुस्तकका ठीक अनुवाद कराने और उसे ठीक समयसे प्रकाशित करनेकी जिम्मेदारी ले ले। इस कामके लिए उसे कुछ पैसे देना वांछनीय है। बहुधा गलती यह की जाती है कि "प्रकाशकपर उससे अधिक भार लादनेकी कोशिश की जाती है जितना कि वह सहन कर सकता है।" यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि अधिकांश लेखक और कुछ साहित्यिक एजेण्ट तथा प्रकाशक भी, यह अनुमान लगानेमें बड़ी कठिनाईका अनुभव करते हैं कि इस कामके लिए उचित रकम कितनी होगी। इस समस्यापर थोड़ा-सा भी विचार करनेसे कई महत्त्वपूर्ण बातें उठ खड़ी होती हैं। पहली बात यह है और यह सभी भाषाओंके सम्बन्धमें उठती है, कि अनुवाद करानेकी लागत "रचयिता"के हिसाबमें सबसे पहले लगानी पड़ती है। यह बात तो स्पष्ट है कि यह रकम रायल्टीमेंसे काटी जानी चाहिये, क्योंकि यदि प्रकाशकसे उचित रायल्टी देनेकी आशा की जाती है तो प्रकाशकके लिए यह असम्भव होता है कि वह अनुवादकको अलगसे पारिश्रमिक दे। इसी बातको यदि दूसरी तरफसे देखा जाय तो इसमें किसीका भी मत-भेद नहीं होगा कि यदि प्रकाशक रायल्टीके अलावा अनुवादकको पारि-श्रमिक दे सकता है तो उस हालतमें जब उसे अनुवाद न कराना हो वह ज्यादा रायल्टी भी दे सकता है।

इसलिए रायल्टीकी रकम निश्चित करते समय अनुवादकी लागत ध्यानमें रखनी चाहिये। इसका एक तरीका तो यह है कि जबतक

अनुवादकका पारिश्रमिक न निकल आये तबतक रायल्टी आधी कर दी जाय या किसी और अनुपातमे विभाजित कर दी जाय। दूसरा तरीका यह है कि पहली "कुछ निश्चित" प्रतियोंपर लेखक केवल एक निश्चित रकम ही ले और उसके बाद पूरी रायल्टी ले। इस बातका फैसला हो जानेके बाद, और यह बुनियादी बात है, कई और सवालोंपर विचार करना पड़ता है :

१. बिक्रीकी सम्भावना कितनी है (अर्थात् पहला संस्करण कितनी प्रतियोंका होगा और उसका मूल्य कितना रखा जायगा)? इस प्रश्नका उत्तर इसपर निर्भर होता है कि उस भाषाके बोलनेवालोंकी संख्या कितनी है, उन्हे अंग्रेजी चीजोंके प्रति कितनी रुचि है और जनसंख्याका कितना भाग पढा-लिखा है। यह बात तो स्पष्ट है कि किसी ऐसी भाषामे अनुवाद प्रकाशित करनेवाला प्रकाशक, जिसे अपेक्षाकृत बहुत ही कम लोग बोलते हो, और उनमेसे भी अधिकांश अनपढ़ हो, अनुवादके अधिकारके लिए बहुत थोडे ही पैसे दे सकता है। ऐसी दशामे यह तै कर लेना महत्त्वपूर्ण है कि रायल्टीके अलावा जो भी रकम दी जायगी वह केवल प्रतियोंकी एक निश्चित संख्याके अनुपातसे होगी और इस बातकी भी गुंजाइश होनी चाहिये कि उससे अधिक प्रतियॉ बिकनेपर उन प्रतियोंपर भी रायल्टी दी जायगी।

२. उस देशके लोगोंकी क्रय-शक्ति कितनी है? इसमें केवल वहॉके लोगोंके जीवनका स्तर ही नहीं बल्कि वहॉकी मुद्रा और इग्लैण्डके पौंडके विनिमय-अनुपातका भी सवाल आता है।

३. उन्हीं परिस्थितियोंमें कितनी रायल्टी इग्लैण्डमें उचित समझी जायगी। क्योंकि इस रकममेंसे अनुवादकी लागत घटाकर इस बातका कुछ अन्दाजा लग जायगा कि कितनी रकम मॉगनी चाहिये या कितनेकी आशा करनी चाहिये।

यह बात ध्यानमे रखनी चाहिये कि अनुवादके अधिकारमें धारा-वाहिक प्रकाशन तथा पुस्तकके रूपमें प्रकाशन दोनों ही अधिकार शामिल

होते हैं, इसलिए यह महत्त्वपूर्ण है कि इस सम्बन्धमें किसी प्रकारकी अस्पष्टता न रहने पाये कि कितने अधिकार दिये या खरीदे जा रहे है। कई विदेशी समाचारपत्र अनुवादोंको "हलकी-फुलकी पाठ्य-सामग्री" के रूपमें प्रयोग करते हैं, और इस उद्देश्यसे "अधिकार" प्राप्त कर लेनेका मतलब आवश्यक रूपसे यह नही होता कि उसे पुस्तकके रूपमे प्रकाशित करनेका भी अधिकार दे दिया गया है। अधिकांश लेखकोंकी यह मॉग सर्वथा न्यायोचित है कि अनुवादका पुस्तकके रूपमे सचमुच प्रकाशित होना एक अनिवार्य शर्त रखी जानी चाहिये और इसलिए यह तै कर लेना समझदारी होगी कि यदि पुस्तक एक निश्चित अवधिके भीतर प्रकाशित न हो गयी तो अनुवादका अधिकार उस प्रकाशकसे छिन जायगा। यदि लेखक उस भाषाको इतनी अच्छी तरह जानता है कि वह अनुवादकी अच्छाई-बुराई परख सके, तो इस बातका प्रबन्ध करना चाहिये कि अनुवाद उसे निरीक्षणके लिए दे दिया जाय। यह बात भी पहलेसे ही पक्की कर लेनी चाहिये कि लेखककी लिखित अनुमतिके बिना पुस्तकका कोई भाग काटा या बदला नही जायगा।

समझौतेमें यह भी शर्त होनी चाहिये कि शुरूमें हिसाब हर छ माह बाद (और बादमे हर साल) किया जायगा, और यह बात भी पहलेसे साफ कर लेनी चाहिये कि रायल्टी कपडेकी जिल्दवाले और कागजकी जिल्दवाले दोनों ही संस्करणोंपर छपे हुए मूल्यके हिसाबसे दी जायगी कि नही। स्वीडेनके कई प्रकाशक केवल कागजकी जिल्दवाले संस्करणपर छपे हुए मूल्यके हिसाबसे ही सारी रायल्टी अदा करते हैं। एक जमानेमे इस बातको कोई महत्त्व नही दिया जाता था क्योंकि अधिकांश बिक्री कागजकी जिल्दवाली प्रतियोंके रूपमें ही होती थी परन्तु कपडेकी जिल्दका चलन बहुत बढ जानेके कारण फर्क बहुत काफी होने लगा है।

रायल्टीके समझौतोंकी गाइडमें, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, एक परिशिष्ट भी है जिसमें यह बताया गया है कि अनुवादके

अधिकारकी बिक्रीका शर्तनामा किन शब्दोंमे तैयार किया जाना चाहिये। युद्धसे पहलेके दिनोंमें यह मालूम करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती थी कि यूरोपके प्रमुख देशोंके कौन-कौन प्रकाशक अनुवाद प्रकाशित करनेमें दिलचस्पी रखते हैं, क्योंकि उस समय 'इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट फार इलेक्चुअल कोआपरेशन' नामक संस्था हर तीसरे महीने "इण्डेक्स ट्रान्सलेशनम" नामक एक पत्रिका प्रकाशित करती थी जिसके द्वारा यूरोपीय भाषाओंसे और यूरोपीय भाषाओंमे हर प्रकारकी पुस्तकोंके अनुवादोंके बारेमें अत्यन्त उपयोगी सूचना प्रदान की जाती थी; परन्तु इसमे सन्देह है कि इंग्लैण्ड या अमेरिकामें एक दर्जन लोगोंने भी कभी इस "इण्डेक्स" (अनुक्रमणिका) के अध्ययनका कष्ट उठाया हो।

चूँकि हर देशकी परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं इसलिए हर देशके बारेमें अलग-अलग विचार करना ही उचित होगा।

जर्मन अनुवादका अधिकार—एक जमानेमें इसके लिए एक साथ कुछ रकम अदा कर देना काफी सन्तोषजनक समझा जाता था, परन्तु अब रायल्टीके आधारपर समझौता करनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु इसमें अनुभवहीन लोगोंके धोखा खा जानेका बडा खतरा है। जर्मनीमें प्रकाशकोंकी संख्या बेशुमार है (या कमसे कम एक जमानेमे थी) और जैसा कि हम समझौतोंवाले अध्यायमे देख चुके हैं कि किसी अच्छी संस्थाके साथ कुछ कम सुविधाजनक शर्तोंपर समझौता करना इससे कहीं अच्छा होता है कि किसी अस्थायी संस्थाके साथ अपेक्षाकृत अधिक सुविधाजनक शर्तोंपर समझौता किया जाय। इंग्लैण्डके जो प्रकाशक 'बोर्सेनवेरीन' नामक संस्थाके सदस्य होते थे उन्हे जर्मन कम्पनियोंकी हालतका जितना सही-सही अन्दाजा होता था उतना किसी लेखक या एजेण्टको हो ही नहीं सकता था, और चूँकि इन प्रकाशकोंको इस संस्थाका व्यापारिक दैनिक-पत्र मिलता रहता था, जो केवल संस्थाके सदस्योंको ही भेजा जाता था, इसलिए उन्हें जर्मनी तथा स्विट्ज़रलैंडके प्रकाशकोंकी जरूरतोंका अन्दाजा लगानेकी जितनी सुविधाएँ प्राप्त रहती

थीं उतनी दूसरोको नही होती थीं। (ब्रिटिश प्रकाशकोके अधिकारोको सीमित करनेके उत्साहमें हमारे देशकी आथर्स सोसायटी इसी प्रकारकी बातोकी ओर कभी ध्यान नहीं देती।)

जर्मनीमें किये जानेवाले प्रकाशन-सम्बन्धी समझौतोमे जितनी भी बातें स्पष्ट रूपसे तै नही कर ली जाती उनका निर्णय प्रकाशन-सम्बन्धी जर्मन कानून[१]के अनुसार किया जाता है (कमसे कम पहले किया जाता था); इस प्रकार, उदाहरणके लिए यदि समझौतेमें इन दोनो बातोमेंसे किसीका स्पष्ट रूपसे उल्लेख न किया गया हो तो लेखकको २० वर्ष गुजर जानेके बाद अपनी कोई भी रचना किसी संग्रहमें शामिल करनेका अधिकार होता है (धारा २ के अनुसार) और प्रकाशकको यह अधिकार होता है कि वह कुल संस्करणकी ५ प्रतिशत प्रतियाँ "मुफ्त प्रतियो"के रूपमें इस्तेमाल कर ले (धारा ६ के अनुसार)। इस कानूनमें बहुत-सी ऐसी बाते है जो ब्रिटेनके लेखको और प्रकाशकोके लिए काफी महत्त्व रखती है, परन्तु उनपर विचार करना इस पुस्तकके विषयसे बाहर है।

डेनमार्क तथा नार्वेकी भाषाओंमे अनुवादके अधिकार अब प्राय. हमेशा अलग-अलग बेचे जाते है। बहुधा रायल्टीके आधारपर सौदा तै करना सम्भव होता है, पर आम तौरपर प्रतियोंकी एक निश्चित संख्याके लिए एक साथ कुछ रकम ले लेनेका तरीका प्रचलित है। इस बादवाले तरीकेसे यह अधिकार सुरक्षित है कि यदि अनुवाद अप्रत्याशित रूपसे सफल सिद्ध हो तो उसपर बादमें और रकम वसूल की जा सकती है। इन देशोकी जनसंख्या बहुत कम होनेके कारण यहाँसे बहुत बड़ी रकम पानेकी आशा नहीं की जा सकती।

स्वीडेनकी भाषामें अनुवादके अधिकार बेचनेसे बहुधा डेनमार्क या नार्वेकी अपेक्षा ज्यादा पैसे मिल जाते है, क्योकि यहाँकी जनसंख्या

१. Gesetz uber das verlagsrecht vom. 19 Juni 1901 (Nol 1704 in the Reclam Bibliothek).

भी ज्यादा है और स्वीडेनकी भाषामे प्रकाशित पुस्तकोकी बहुत काफी बिक्री स्वीडेनके अलावा फिनलैण्डमें भी होती है। स्वीडेनके कुछ प्रकाशक किसी अनुवादके प्रकाशनका अधिकार खरीदनेसे पहले हमेशा अपने फिनलैण्डके एजेण्ट या सहकारीसे सलाह जरूर कर लेते है। आम तौरपर स्वीडेनमे अनुवादका अधिकार बेचनेसे इसका अन्दाजा हो जाता है कि डेनमार्क और नार्वेमें अनुवादका अधिकार खरीदनेके लिए कितनी माँग होगी और इसी प्रकार इसके विपरीत भी, क्योंकि इन देशोकी आवश्यकताएँ बहुत कुछ मिलती-जुलती है। फिनलैण्डमें अनुवादके अधिकारके बारेमें भी यही बात सत्य है और यहाँ से स्वीडेनकी आधी रकम मिलनेकी आशा की जा सकती है।

डच भाषामे अनुवादके अधिकार बहुत आसानीसे बिक जाते है, यदि वह साहित्यिक रचना इंग्लैण्डमे विशेष रूपसे सफल सिद्ध हुई हो; यह देखते हुए कि हालैण्डके लगभग आधे लोग अंग्रेजी जानते है। बहुतसे लोग तो दो-तीन विदेशी भाषाएँ और भी जानते हैं। अनुवादके अधिकारका इतनी आसानीसे बिक जाना आश्चर्यजनक जरूर मालूम होता है। डच ईस्ट इंडीज तथा बेल्जियमके फ्लेमिश-भाषी इलाकेमे डच अनुवादोकी बिक्री काफी होती है और यद्यपि इन अधिकारोंके लिए ज्यादा रकम नहीं मिलती, परन्तु फिर भी यह रकम बहुधा नार्वे या डेनमार्कमे अनुवादके अधिकार बेचनेसे वसूल होनेवाली रकमकी जितनी ही होती है। यदि रायल्टीके आधारपर समझौता किया गया है तो यहाँ भी प्रतियोकी एक निश्चित संख्या ही इस रकमके बदले छापी जा सकती है।

फ्रांसीसी भाषामे अनुवादके अधिकार बेचनेकी समस्यापर विचार करते समय हमें कई कठिन परिस्थितियोंका सामना करना पड़ता है। अपने प्रकाशनोंके अधिकारोंकी कीमत आँकनेमे तो फ्रांसीसी प्रकाशक बहुत ऊँचेसे बात करते है (कभी-कभी तो वे हास्यास्पद हदतक ऊँचे दाम माँगते है, विशेष रूपसे यदि उन्हें यह आशा हो कि किसी

अमेरिकी प्रकाशकको उसमें दिलचस्पी है) परन्तु युद्धसे पहले जब किसी अंग्रेजी रचनाके फ्रांसीसी अनुवादकी बात छेड़ी जाती थी तो वे बिलकुल हीन भावसे अपनी लाचारी दिखाते थे, अनुवादका अधिकार खरीदनेके लिए कोई बड़ी रकम देनेकी बात तो दूर रही। अक्सर रायल्टीके आधारपर अनुवादके अधिकार बेचना सम्भव होता है, परन्तु ऐसी दशामें हमेशा रकम पेशगी ले लेना चाहिये और यह शर्त लगा देनी चाहिये कि यदि अनुवाद एक निश्चित समयके अन्दर प्रकाशित न हुआ तो पेशगी रकम जब्त कर ली जायगी।

स्पेनी अनुवादके अधिकारोंके सम्बन्धमें अब कोई अस्पष्टता नहीं रह गयी है। अंग्रेजी पुस्तकोंके अनुवाद बेचनेमें स्पेनी प्रकाशकोंको कोई कठिनाई नहीं होती और इन अधिकारोंके लिए ये हमेशा उचित रकम अदा करनेको तैयार रहते हैं—कभी-कभी तो वे बड़ी उदारताका सबूत देते हैं। २,००० से ३,००० तक प्रतियोंके संस्करण प्रकाशित करनेके अधिकारके लिए ३५ से ५० पौण्डतक रकम नकद अदा कर देना सबसे ज्यादा पसन्द किया जाता है और उसके बादकी प्रतियोंपर १० प्रतिशत रायल्टी दी जाती है, परन्तु महत्त्वपूर्ण रचनाओंके लिए ५० पौण्ड या इससे ज्यादा भी रायल्टीके रूपमें मिल सकते हैं। यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि मैड्रिडकी अपेक्षा बार्सीलोना ज्यादा बड़ा प्रकाशन-केन्द्र है। स्पेनके बड़े-बड़े प्रकाशकोंमेंसे अधिकांशके मुख्य कार्यालय बार्सीलोनामें हैं और साधारण परिस्थितियोंमें वे स्पेनी भाषाके अलावा 'काटालान' भाषामें भी पुस्तकें प्रकाशित करते हैं। इसके अलावा मेक्सिको तथा दक्षिणी अमेरिकामें भी प्रकाशनका विस्तार बढ़ता जा रहा है और यह सम्भव होता जा रहा है कि इन क्षेत्रोंके लिए स्पेनी अनुवादके अधिकार अलगसे बेचे जा सकें। इसलिए स्पेनी अनुवादके अधिकार बेचते समय यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि अधिकार कितने क्षेत्रके लिए बेचे जा रहे हैं। आम तौरपर स्पेनी अनुवादोंमें, और विशेष रूपसे दक्षिणी अमेरिकामें किये जानेवाले अनुवादोंमें, [illegible]

रह जाती है। कुछ प्रकाशक अच्छे अनुवाद करानेके लिए काफी कोशिश करते है और लेखकोंके लिए यह बात ध्यानमे रखना अत्यन्त उपयोगी है।

पुर्तगाली अनुवादके अधिकारोंकी विक्री धीरे-धीरे बढती जा रही है पर इन अधिकारोके लिए स्पेनकी अपेक्षा कुछ कम रकम मिलती है। अब ब्राजीलका महत्त्व उतना ही हो गया है जितना पुर्तगालका; इसलिए यह मालूम कर लेना अच्छा होता है कि अधिकार दोनो देशोंके लिए वेचे जा रहे है कि नहीं, क्योंकि यहाँ भी कभी-कभी दोनो जगहोके लिए अधिकार अलग-अलग बेचना सम्भव होता है।

इटालियन भाषामे अनुवादके अधिकारोका महत्त्व अन्य भाषाओंकी अपेक्षा बहुत थोडा समझा जाता था। इटलीके प्रकाशक उचित रकम अदा करनेके लिए उतना तत्पर नही रहते थे जितना कि स्पेनी प्रकाशक। परन्तु अब यह परिस्थिति नहीं रही।

हंगरीकी भाषामे अनुवादके अधिकार बडी आसानीसे विक जाते हैं पर इनसे बहुत ज्यादा रकम वसूल नहीं होती इसलिए यह अधिकार केवल प्रतियोंकी एक निश्चित संख्याके लिए ही दिया जाना चाहिये।

चेक भाषामें अनुवादके अधिकारोंकी विक्रीका महत्त्व चेकोस्लोवाकियाकी जनसंख्याको देखते हुए काफी ज्यादा है। परन्तु चेक लोग पुस्तकोंके अच्छे ग्राहक होते है और इंग्लैण्डकी चीजोंके बडे प्रशंसक भी, इसलिए अंग्रेजी पुस्तकोंके अनुवाद वहाँ बहुत लोकप्रिय होते हैं। ७½ प्रतिशत रायल्टीमेंसे कुछ रकम कभी-कभी पेशगी भी मिल जाती है, परन्तु आम तौरपर २,००० से ३,००० प्रतियोंतकके संस्करणके लिए लगभग २५ पौण्ड एक साथ दे देनेका तरीका ही ज्यादा प्रचलित है।

जापानी अनुवादके अधिकारोंका मूल्य उसकी अपेक्षा ज्यादा होना चाहिये जितना कि इस समय है। दुर्भाग्यवश, वर्न नियमावलीके बावजूद "चोरीके" संस्करण लगातार प्रकाशित होते रहते हैं। जब कभी पैसे अदा भी किये जाते हैं तो १० या १५ पौंडसे ज्यादा वसूल नहीं होते।

भारतीय भाषाओंमें अनुवादके अधिकार—मेरी रायमें अंग्रेजी पुस्तकोंके अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओंमें प्रकाशित करनेको प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। ये संस्करण बहुधा बहुत छोटे होते हैं और उनकी कीमत भी बहुत थोडी होती है इसलिए इन अधिकारोंकी बिक्रीसे बहुत ज्यादा रकम वसूल नहीं हो सकती। प्रतियोंकी एक निश्चित संख्याके लिए एक निश्चित रकम तै कर लेना उचित है।

रूसी अनुवादके अधिकारोंका व्यापारकी दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सोवियत अधिकारी बिना कोई रकम अदा किये ही ये अधिकार हथिया लेते है। यदि लेखक कोई अच्छा कम्युनिस्ट हो या कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे वे मानते हों तो उसे रूसमें खर्च करनेके लिए कुछ रूबल मंजूर कर दिये जाते है। परन्तु इसकी विपरीत दिशामें यदि कोई ब्रिटिश प्रकाशक उनकी पुस्तकोंके अनुवादके अधिकारों" के लिए, जिनका कानूनकी दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं है, ऊँची दरपर रायल्टी अदा न करे तो वे बहुत नाक-भौं सिकोडते है। उनको जो भी रायल्टी मिल जाती है वह केवल इस कारण कि ब्रिटेनके प्रकाशक किसी भी जीवित लेखककी रचनाएँ बिना उसके लिए पैसे दिये प्रकाशित करनेमें बहुत झिझकते है, चाहे कानूनकी दृष्टिसे उन्हें इसका अधिकार भी हो।

परन्तु जब सोवियत अधिकारी उन लेखकोंकी रचनाओंपर रायल्टीतें माँगते है जो पचास वर्षसे ज्यादा हुए, मर चुके हैं, तो उन्हें कोई सफलता प्राप्त नही होती।

अन्य अनुवादो के अधिकार भी यथासमय बिकते रहते हैं, परन्तु बहुधा इनसे इतनी थोडी रकम वसूल होती है कि हर केसपर अलग-अलग विचार करना उचित न होगा।

नाटक और सिनेमाके तथा अन्य अधिकार

पुस्तकके नाटक सम्बन्धी अधिकारोंसे प्रकाशक बहुत कम सरोकार रखते हैं। कुछ एजेण्ट ये अधिकार बेचनेका ही काम करते हैं और आथर्स सोसायटी तथा उसकी 'असोसियेटेड लीग ऑफ ब्रिटिश

ड्रेमेटिस्ट्स' लेखकोंको इस बारेमे उचित सलाह दे सकती हैं।

परन्तु इसके विपरीत गैर-पेशेवर संस्थाओ द्वारा अभिनयके अधिकारोमे प्रकाशकको दिलचस्पी हो सकती है। नाटकोको पुस्तक-के रूपमे प्रकाशित कर देनेसे (जो बहुधा पैसेकी दृष्टिसे लाभदायक नहीं होता) इन अधिकारोके बेचनेमे बडी सुविधा हो जाती है और इन अधिकारोमे यदि किसीको दिलचस्पी हो जाय तो प्रकाशकको उसे पुस्तकके रूपमे प्रकाशित करनेका प्रोत्साहन मिलता है, जब कि इसके बिना वह उसे प्रकाशित करनेका शायद कभी साहस भी न करे।

फिल्म बनानेके अधिकारोंकी स्थिति इससे जरा भिन्न है। ये अधिकार बहुधा पुस्तक-प्रकाशकके शर्तनामेमें शामिल नही किये जाते, परन्तु जबतक पुस्तक प्रकाशित न हो जाय तबतक इनको बेचना भी बहुधा असम्भव ही होता है। दूसरे शब्दोंमे, नये लेखकके सम्बन्धमे ये अधिकार प्रकाशकके खर्चकी बदौलत ही बिकते है। यह बिलकुल सम्भव है कि किसी लेखकके पहले उपन्यासपर काफी घाटा उठानेके बाद प्रकाशक उसके फिल्म बनानेके अधिकारोको अधिक महत्त्व दे और, जैसा कि श्री कर्टिस ब्राउनके स्वर्गीय मैनेजरने कहा था, "इस प्रकार लेखककी कहानियों तथा उसकी अन्य पत्रकारी रचनाओंको बिकवानेमें बहुमूल्य सहायता प्रदान करे और शायद उसे ज्यादा कीमत दिलवा दे।" परन्तु यदि कोई प्रकाशक यह सुझाव रखनेका दुस्साहस करे कि इस परिस्थितिमे यह अनुचित न होगा कि उसके प्रयासके फलस्वरूप जो लाभ हुआ है उसमे उसे भी कुछ हिस्सा दिया जाय, तो उसकी निन्दा ही की जायगी।[1] अज्ञात लेखकोंके उपन्यास छापना

---

[1]. यह लिखे जानेके बाद हमारी संस्थाको एक स्कैण्डीनेवियन उपन्यासके प्रकाशनपर बहुत घाटा उठाना पडा, जिसके फिल्म बनानेके अधिकार हालीवुडकी एक कम्पनीको २,००० पौण्टमे बेचे गये, जब कि हमारे खर्चके बिना उस कम्पनीको न उस लेखकके नामका पता चलता और न कभी वह पुस्तक ही पढनेको मिलती।

बहुधा जुआ खेलनेके समान होता है और कोई कारण नहीं है कि जो लेखक अपना उपन्यास छपवाना चाहता है वह प्रकाशकको यह खतरा मोल लेनेके लिए एक अतिरिक्त प्रलोभनके रूपमें उस पुस्तककी फिल्म बनानेके अधिकारकी बिक्रीमेंसे कुछ हिस्सा न दे, क्योंकि पुस्तकके प्रकाशित हुए बिना शायद उसके फिल्म बनानेके अधिकार कभी भी न बिक पाते।

"तस्वीरें" बहुत जल्दी पुरानी हो जाती हैं। इसलिए केवल एक ही फिल्म बनानेका अधिकार दिया जाना चाहिये और वह भी इस शर्तपर कि फिल्म एक निश्चित समयसे पहले तैयार हो जायगी।

रेडियोपर ब्राडकास्ट करनेके अधिकार आमदनीका एक स्रोत तो है ही, पर इसके अलावा प्रचार और विज्ञापनकी दृष्टिसे भी उसका बड़ा महत्त्व है। बी० बी० सी०, आथर्स सोसायटी और पब्लिशर्स असोसिएशनके बीच एक समझौतेके द्वारा इस अधिकारके लिए अदा की जानेवाली **न्यूनतम** रकम निर्धारित कर दी गयी है।

टेलीविजनके अधिकार धीरे-धीरे अधिक महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं और **बोलनेवाली मशीनके** अधिकारोंकी तरह उनमें भी प्रकाशकका हिस्सा होना चाहिये। यह कहना कि इससे फिल्म बनानेके अधिकारकी बिक्रीको नुकसान पहुँचता है, सही नहीं है, क्योंकि इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि फिल्म कम्पनियोंको केवल अपनी फिल्मको टेली-विजनपर दिखाने, या पुस्तकके फिल्म-रूपके टेलीविजनपर दिखानेके अधिकार अपने पास रखनेमें दिलचस्पी होती है और वे इन अधिकारोंको पुस्तकको नाटकके रूपमें टेलीविजनपर दिखानेके अधिकारसे अलग करनेको हमेशा तैयार रहती हैं। इस प्रकार प्रकाशकोंके लिए यह बिलकुल सम्भव है कि वे टेलीविजन-सम्बन्धी उन अधिकारोंको अपने पास सुर-क्षित रखें जो उनकी दृष्टिमें सबसे ज्यादा महत्त्व रखते हैं और यदि आवश्यकता हो तो फिल्म कम्पनियोंको केवल वही अधिकार दें जो कम महत्त्वके हैं।

संग्रह, संकलन तथा स्वर-लिपियाँ आदि—आथर्स सोसायटीने यह सिद्धान्त बना दिया है कि जो कोई भी साहित्यिक सामग्रीका प्रयोग करना चाहता है उसे उसके लिए पैसे देना चाहिये; जिस किसीने भी इसपर विचार किया है वह, कमसे कम सिद्धान्तसे, इस बातसे सहमत होगा। यह बात किसी दृष्टिसे भी न्यायोचित नहीं ठहरायी जा सकती कि कोई व्यक्ति किसी पुस्तककी सामग्री जुटानेके लिए (जिससे वह पैसा कमाना चाहता है) इधर-उधरसे चीजें "उड़ा दे", जिस प्रकार आपको अपना घर सजानेके लिए फर्नीचर चुरानेका कोई अधिकार नहीं है। इसलिए सवाल सिर्फ यह तै करनेका है कि कितना मुआवजा देना उचित होगा। हर चीजके मूल्यको उसके गुणके अनुसार अलग-अलग जाँचना पड़ता है और प्रकाशक बहुधा यह अनुमान लगा सकनेकी परिस्थितिमें होते हैं कि कितनी रकम उचित होगी। अधिकांश उदाहरणोंमें, संग्रह तैयार करनेवालोंकी कापीराइट सामग्रीकी कीमत चुकानेकी क्षमता सीमित ही होती है, और बहुत ज्यादा पैसा माँगना इस स्रोतसे होनेवाली आमदनीको बढाना नहीं बल्कि घटाना है।

उदाहरणके लिए, ऐसी भी मिसालें मिलती हैं जब संग्रह तैयार करनेवालोंने यह शर्त लगा दी थी कि किसी विशेष एजेण्टकी [illegible]
कोई रचना संग्रहमें शामिल नहीं की जायगी, क्योंकि [illegible]
ही ज्यादा दाम माँगता है। यदि एजेण्टका उद्देश्य [illegible]
लेखकका वह प्रतिनिधि है उसकी रचनाएं किसी [illegible]
तो मानना पड़ेगा [illegible] वह अपने उद्देश्यको [illegible] करनेमें [illegible]
हुआ। परन्तु [illegible] हैं [illegible]
अधिकार [illegible]
कि उन्हें [illegible]
संग्रहकर्ताओंकी [illegible]

परन्तु यह [illegible]
लिए सर्वथा [illegible]

प्रतियाँ छपती हैं, वह समाचारपत्रों द्वारा तैयार किये गये संकलनोंके लिए सर्वथा अपर्याप्त होती हैं, क्योंकि उनकी पचास हजारसे लेकर पाँच लाखतक प्रतियाँ बिकती हैं। इसलिए इस बातका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि वह सामग्री किस कामके लिए इस्तेमाल की जायगी और उसके प्रकाशनका अधिकार कितने क्षेत्रमें प्रयोग किया जायगा।

कापीराइट सामग्रीका प्रयोग करनेके लिए आनेवाले प्रार्थना-पत्रोंकी संख्यासे पता चलता है कि गद्य-संग्रह इंग्लैण्डकी अपेक्षा अमेरिकामें ज्यादा पसन्द किये जाते हैं। इसके लिए जो रकम अदा करनी पड़ती है वह बहुत हदतक उद्धरणकी लम्बाईकी सानुपातिक होती है।

यह फैसला करना बहुत कठिन होता है कि किसी गानेमें उसके बोलोंका महत्त्व कितना है और संगीतका कितना है। संगीतके स्वर बिठानेवालेका यह ख्याल होता है कि लेखकको थोड़ी-सी रकम दे देना काफी है, लेकिन लेखक यह समझता है कि उसे संगीतज्ञकी रायल्टीमेंसे कमसे कम आधा हिस्सा मिलना ही चाहिये। इस प्रकारके हर मामलेको अलग-अलग जाँचना ही उचित होगा और इन दोनों सीमाओंके बीच कोई समझौता कर लेना चाहिये।

विभिन्न अधिकार बेचनेके बदलेमें प्रकाशक अपना जो हिस्सा माँगते हैं, उसपर विचार करते समय विभिन्न परिस्थितियोंको कभी ध्यानमें नहीं रखा जाता। १० प्रतिशतसे अधिक कमीशनको फौरन लूटका नाम दे दिया जाता है जबकि सच बात तो यह है कि किसी मामलेमें २० प्रतिशत कमीशन भी थोड़ा होता है और बाज मामलोंमें १० प्रतिशत कमीशन भी बहुत ज्यादा होता है (जैसे, यदि कोई बहुत बड़ा सौदा बहुत आसानीसे हो जाय)। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि साधारण परिस्थितियोंमें पारिश्रमिक इस आधारपर निश्चित किया जाना चाहिये कि कितनी सेवा की गयी है और उसमें कितनी मेहनत करनी पड़ी है। इतनी सीधी स्पष्ट-सी बात [illegible] कुछ [illegible]

संग्रह, संकलन तथा स्वर-लिपियाँ आदि—आथर्स सोसायटीने यह सिद्धान्त बना दिया है कि जो कोई भी साहित्यिक सामग्रीका प्रयोग करना चाहता है उसे उसके लिए पैसे देना चाहिये; जिस किसीने भी इसपर विचार किया है वह, कमसे कम सिद्धान्तसे, इस बातसे सहमत होगा। यह बात किसी दृष्टिसे भी न्यायोचित नहीं ठहरायी जा सकती कि कोई व्यक्ति किसी पुस्तककी सामग्री जुटानेके लिए (जिससे वह पैसा कमाना चाहता है) इधर-उधरसे चीजें "उड़ा दे", जिस प्रकार आपको अपना घर सजानेके लिए फर्नीचर चुरानेका कोई अधिकार नहीं है। इसलिए सवाल सिर्फ यह तै करनेका है कि कितना मुआवजा देना उचित होगा। हर चीजके मूल्यको उसके गुणके अनुसार अलग-अलग जाँचना पडता है और प्रकाशक बहुधा यह अनुमान लगा सकनेकी परिस्थितिमे होते हैं कि कितनी रकम उचित होगी। अधिकांश उदाहरणोंमें, संग्रह तैयार करनेवालोंकी कापीराइट सामग्रीकी कीमत चुकानेकी क्षमता सीमित ही होती है और बहुत ज्यादा पैसा माँगना इस स्रोतसे होनेवाली आमदनीको बढ़ाना नहीं बल्कि घटाना है।

उदाहरणके लिए, ऐसी भी मिसालें मिलती है जब संग्रह तैयार करनेवालोंने यह शर्त लगा दी थी कि किसी विशेष एजेण्टकी दी हुई कोई रचना संग्रहमें शामिल नहीं की जायगी, क्योंकि वह एजेण्ट बहुत ही ज्यादा दाम माँगता है। यदि एजेण्टका उद्देश्य यह था कि जिस लेखकका वह प्रतिनिधि है उसकी रचनाएँ किसी संग्रहमें न जाने पायें तो मानना पड़ेगा कि वह अपने उद्देश्यको पूरा करनेमे पूरी तरह सफल हुआ। परन्तु कई कवि ऐसे है जिन्हें अपनी अलग-अलग कविताओंके अधिकार बेचनेसे कुल मिलाकर उससे ज्यादा रकम मिल जाती है जितनी कि उन्हे अपनी रचनाओंके संग्रहोंकी रायल्टीसे मिलती है, ऐसे कवि संग्रहकर्ताओंकी कृपादृष्टिका स्वागत करते हैं।

परन्तु यह बात याद रखनी चाहिये कि जो मुआवजा एक संग्रहके लिए सर्वथा न्यायोचित है, जिसकी ज्यादासे ज्यादा १,५०० या २,०००

प्रतियाँ छपती हैं, वह समाचारपत्रों द्वारा तैयार किये गये संकलनोंके लिए सर्वथा अपर्याप्त होती हैं, क्योंकि उनकी पचास हजारसे लेकर पाँच लाखतक प्रतियाँ बिकती हैं। इसलिए इस बातका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि वह सामग्री किस कामके लिए इस्तेमाल की जायगी और उसके प्रकाशनका अधिकार कितने क्षेत्रमें प्रयोग किया जायगा।

कापीराइट सामग्रीका प्रयोग करनेके लिए आनेवाले प्रार्थना-पत्रोंकी संख्यासे पता चलता है कि गद्य-संग्रह इंग्लैण्डकी अपेक्षा अमेरिकामें ज्यादा पसन्द किये जाते है। इसके लिए जो रकम अदा करनी पड़ती है वह बहुत हदतक उद्धरणकी लम्बाईकी सानुपातिक होती है।

यह फैसला करना बहुत कठिन होता है कि किसी गानेमें उसके बोलोंका महत्त्व कितना है और संगीतका कितना है। संगीतके स्वर बिठानेवालेका यह ख्याल होता है कि लेखकको थोडी-सी रकम दे देना काफी है, लेकिन लेखक यह समझता है कि उसे संगीतज्ञकी रायल्टीमेंसे कमसे कम आधा हिस्सा मिलना ही चाहिये। इस प्रकारके हर मामलेको अलग-अलग जाँचना ही उचित होगा और इन दोनों सीमाओंके बीच कोई समझौता कर लेना चाहिये।

विभिन्न अधिकार बेचनेके बदलेमें प्रकाशक अपना जो हिस्सा माँगते हैं, उसपर विचार करते समय विभिन्न परिस्थितियोंको कभी ध्यानमें नहीं रखा जाता। १० प्रतिशतसे अधिक कमीशनको फौरन लूटका नाम दे दिया जाता है जबकि सच बात तो यह है कि किसी मामलेमें २० प्रतिशत कमीशन भी थोड़ा होता है और बाज मामलोंमें १० प्रतिशत कमीशन भी बहुत ज्यादा होता है (जैसे, यदि कोई बहुत बड़ा सौदा बहुत आसानीसे हो जाय)। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि साधारण परिस्थितियोंमें पारिश्रमिक इस आधारपर निश्चित किया जाना चाहिये कि कितनी सेवा की गयी हैं और उसमें कितनी मेहनत करनी पड़ी है। इतनी सीधी स्पष्ट-सी बात कहन. कुछ अनाथ

तो जरूर लगता है पर आज लेखक इस बातको उतनी ही आसानीसे नजरअन्दाज कर जाते है जितनी आसानीसे कि एक जमानेमें कुछ प्रकाशक कर जाते थे। स्वर्गीय जी हर्बर्ट प्रिंगके सम्पादकत्वमें प्रकाशित होनेवाली आथर (लेखक) नामक पत्रिकाको अत्यधिक ध्यानसे पढनेसे किस प्रकारकी प्रवृत्ति बन जाती है इसका अन्दाजा मुझे अपने एक अत्यन्त दिलचस्प अनुभवसे हुआ। आथर्स सोसायटीकी एक सदस्याने मुझसे पूरी गम्भीरताके साथ यह बात कही कि तीन पत्र लिखने और टेलीफोन करनेमें कुछ समय खर्च करके उन्हे उनकी रचनाके लिए कुछ पैसे दिलवा देनेके बदले, जो मेरे प्रयत्नके विना उनको कभी भी न मिलते, एक शिलिंग पारिश्रमिक "बहुत काफी" है (और दिया तो उन्होने यह भी नहीं), मैंने उनसे १०½ शिलिंग माँगनेकी धृष्टता की थी।

साहित्यिक एजेण्ट

इस प्रश्नपर (जो प्रकाशकोंसे अक्सर किया जाता है) कि क्या मैं साहित्यिक एजेण्टोंमे विश्वास रखता हूँ, मेरा हमेशा वही उत्तर देनेको जी चाहता है कि जो मै इस प्रश्नपर देता कि क्या मै ऐनकमे "विश्वास रखता हूँ": "हाँ, यदि आपको आवश्यकता हो और इस बातका पूरा विश्वास हो कि आपको उचित प्रकारकी ऐनक मिल जायेगी।"

कुछ लेखकोंके लिए एजेण्ट नितान्त आवश्यक होते है; कुछ लेखकोंके लिए उनसे बडी सुविधा हो जाती है; परन्तु अधिकांश लेखकोंके लिए एजेण्ट बेकार होते है। इस बातका स्पष्ट प्रमाण इसमें मिलता है कि ज्यादातर प्रकाशन-सम्बन्धी समझौते हमेशा विना किसी एजेण्टकी सहायताके सीधे लेखक और प्रकाशकके बीच हुए है, और अब भी होते हैं। सम्भव है कि हर प्रकाशन-संस्थाके बारेमे अलग-अलग यह बात सच न हो पर हर साल जो हजारों पुस्तकें प्रकाशित होती है उनमेंसे शायद ही १० या १२ प्रतिशतका सौदा एजेण्टोंके द्वारा होता हो। इस पुस्तकका पहला संस्करण (अंग्रेजीमे) प्रकाशित होनेके बाद थोडी

प्रकाशन संस्थाओंमेंसे एक अत्यन्त प्रतिष्ठित संस्थाने, जो अच्छे प्रकाशनोंके लिए ख्याति प्राप्त कर चुकी है, कहा :

छः वर्षोंमें हमारे यहाँ एजेण्टोंके पाससे ३२७ पाण्डुलिपियाँ आयीं। इनमेंसे हमने केवल तीन स्वीकार कीं और वे भी एक ही एजेण्टसे। लेकिन इन तीनमेंसे भी दो ऐसी थीं जो वास्तवमें हमें लेखकने ही दी थीं और एजेण्टको केवल शर्तनामा तैयार करने और रायल्टी वसूल करनेके लिए रखा गया था। तीसरी पाण्डुलिपि वह थी जिसे हम पहले लेखिकाको वापस कर चुके थे कि वह उसमें कुछ सुधार कर दे और उनसे यह भी सिफारिश की थी कि वह उसे उस एजेण्टके हाथोंमें सौंप दे।

इस बातसे एजेण्टोंकी सीमित उपयोगिताकी पुष्टि हो जाती है। एजेण्टोंके द्वारा अपनी रचनाएँ बेचनेका रिवाज सापेक्ष दृष्टिसे बहुत ही हालमें आरम्भ हुआ है और यह बात काफी ध्यान देने योग्य है कि ग्रेट ब्रिटेनमें उन्हें जो पद प्राप्त है वह किसी भी दूसरे देशमें नहीं है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि एजेण्ट भी हर प्रकारके होते हैं—अच्छे, बुरे और न बहुत अच्छे, न बहुत बुरे : एक तो होता है अत्यन्त दम्भपूर्ण एजेण्ट जो प्रकाशकोंको (और छोटे-मोटे लेखकोंको) नटखट स्कूली बच्चोंकी तरह समझता है; दूसरा होता है बिलकुल ही दीन-हीन प्रकारका एजेण्ट जो प्रकाशकसे कुछ क्षण मुलाकात कर लेनेको एक अद्वितीय सम्मान समझता है, और फिर कुछ एजेण्ट होते हैं जो काफी कार्य-कुशल होते हैं और कुछ बिलकुल ही अयोग्य होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि इस अत्यन्त लाभदायक पेशेके लिए किसी विशेष योग्यताकी जरूरत नहीं। मैं केवल एक ऐसे एजेण्टको जानता हूँ जिसे वास्तवमें प्रकाशन और पुस्तकें बेचनेका अनुभव है और जिसे पुस्तक तैयार करनेकी लागत, विज्ञापनके खर्च आदि महत्वपूर्ण मसलोंके बारेमें काफी जानकारी है। ऐसा एजेण्ट तो शायद ही कोई हो जिसे किसी विदेशी भाषाका या यूरोपकी परिस्थितियोंका ज्ञान हो, यद्यपि ये अनुवादके अधिकारोंका सौदा करानेमें विशेषज्ञ होनेका दावा करते

है। वास्तवमें उनमेंसे अधिकतर ऐसे होते हैं जो उपन्यासों, संस्मरणों या लोकप्रिय रचनाओंके अलावा जब भी किन्हीं अन्य रचनाओंका सौदा करनेकी कोशिश करते हैं तो फौरन मालूम हो जाता है कि वे कितने पानीमें हैं और उनमेंसे कुछ ईमानदारीके साथ यह बात स्वीकार भी कर लेते हैं।

यदि एजेण्टोंका काम केवल पाण्डुलिपियोंको पुस्तकके रूपमें प्रकाशित करवा देनेतक ही सीमित रहता तो शायद उनका रोजगार उतनी ही तेजीसे मन्दा पड़ जाता जितनी तेजीसे वह बढ़ा है, क्योंकि अनावश्यक दलालोंके खिलाफ एक भावना काफी विख्यात है और इस कारण भी कि एजेण्टका "भोले-भाले" लेखकको "दुष्ट" प्रकाशकसे बचानेका तथाकथित कर्तव्य आथर्स सोसायटीने बहुत दिनोंसे अपने जिम्मे ले लिया है और यह काम है भी उसीका। (यह बात काफी दिलचस्प है कि लेखककी उसके तथाकथित संरक्षकसे अर्थात् साहित्यिक एजेण्टसे—रक्षा करनेके प्रश्नपर अब "ऑथर" (लेखक) नामक पत्रिका-के स्तम्भोंमें अक्सर बहस होती है।)

इस पुस्तकके एक पिछले संस्करणमें मेरे इसी कथनके कारण मुझपर साहित्यिक एजेण्टोंके प्रति "अन्याय" करनेका आरोप लगाया गया था, इसलिए मैं अपनी सफाईमें यह बता देना चाहता हूं कि उस वक्तमें दो एजेण्ट जेल भेजे जा चुके हैं और तीसरा एजेण्ट सजा पानेसे पहले ही मर गया। गैर-जिम्मेदार किस्मके एजेण्ट लेखकोंको कितनी आसानीसे धोखा दे सकते हैं इस विषयमें जितनी जानकारी होनी चाहिये उतनी नहीं है। मैं केवल दो उदाहरण देता हूं : एक दक्षिण-अफ्रीकी लेखकने, जिसकी पुस्तक बहुत काफी सफल सिद्ध हुई थी, हमें लिखा कि बड़े शर्मकी बात है कि हमारी जैसी प्रतिष्ठित संस्था रायल्टी अदा करनेमें इतनी अड़चनें डालती है। हमने उन्हें उत्तर दिया कि उनकी इस बातसे हमें बहुत आश्चर्य हुआ है, क्योंकि उनकी रायल्टीका सारा हिसाब करके निश्चित तारीखोंको (और दो बार तो निश्चित तारीखोंसे

पहले ही) उनके एजेण्टको अदा कर दिया गया था। इसपर उन्होंने हमें सूचना दी कि उन्हें एक भी पाई नहीं मिली थी और एजेण्ट हमेशा सारा दोष हमारा ही बताता रहा था।

एक "एजेन्सी" ने, जिसने अपने बहुत ही रोबदार लेटरहेड छपा रखे थे, एक लेखकके सामने यह प्रस्ताव रखा कि वह उन्हें उनकी कुछ रचनाओंके धारावाहिक प्रकाशनके अधिकारके लिए १५० पौण्ड दिला सकती है और यदि उसे साधिकार एजेण्ट बना दिया जाये तो वह १० प्रतिशत कमीशनपर यह काम सहर्ष करनेको तैयार है। सौदा अच्छा था, और बिना किसी संकोचके लेखकने उसे आवश्यक अधिकारपत्र लिखकर दे दिया। "एजेन्सी"ने १५० पौण्ड तो वसूल कर लिये, पर बस यहींपर किस्सा खत्म हो गया, क्योंकि लेखकको कुछ भी नहीं मिला। उस "एजेन्सी"के पास डाकके एक पतेके अलावा और कोई पूंजी नहीं थी।

यदि आथर्स सोसायटी सरकारी तौरपर केवल ऐसी संस्थाओंको "साहित्यिक एजेण्टों"की हैसियतसे "मान्यता दे" जो अपने हिसाबको किसी आडीटरसे निरीक्षण कराकर हर छ माह बाद इस आशयका प्रमाणपत्र पेश करें कि उन्होंने तमाम लेखकोंके हिसाब पूरी तरह चुका दिये हैं तो यह कठिनाई पूरी तरह दूर नहीं तो बहुत बड़ी हदतक हल हो सकती है। यदि अच्छे एजेण्ट समझदारीसे काम लें—और कुछ एजेण्ट बहुत ही प्रतिष्ठित किस्मके हैं—तो वे इस योजनाका स्वागत करेंगे।

तरह-तरहके नये "अधिकारों"की उत्पत्तिके कारण साहित्यिक सम्पत्तिकी व्यवस्था करना बहुत ही जटिल काम हो गया है, जिसके लिए विशेष प्रकारकी कुशलताकी आवश्यकता है। इससे इन एजेण्टोंकी हैसियत बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी है और इनकी सेवायें, लेखकोंके लिए बहुत ही मूल्यवान हो गयी हैं। यद्यपि यह बिल्कुल सच है कि कुछ प्रकारके छोटे-मोटे "अधिकारों"का सौदा है उनके कुछ

एजेण्ट कुछ प्रकाशकोंकी अपेक्षा ज्यादा अच्छे होते है, पर यह भी नही भूलना चाहिये कि इस मामलेमे कुछ प्रकाशक अधिकांश एजेण्टोसे ज्यादा अच्छे होते हैं।

आजकल कई लेखकोंके लिए अपनी रचनाको पुस्तकके रूपमे प्रकाशित करानेका अधिकार आमदनीका सबसे वडा साधन नही रह गया है। फिल्म, धारावाहिक प्रकाशन, नाटक-सम्बन्धी तथा अन्य अधिकारोकी बिक्रीसे उन्हें कहीं ज्यादा आमदनी होती है और इन्ही दिशाओंमे एजेण्ट विशेप रूपसे उपयोगी सिद्ध हो सकते है। परन्तु साथ ही यह भी न भुला देना चाहिये कि अन्ततः पुस्तकरूपमे प्रकाशन ही अब भी सर्वोपरि महत्त्व रखता है। लेखककी प्रतिष्ठा—जिसका अर्थ पैसोंकी दृष्टिसे यह होता है कि उसके लेखो और कहानियोंकी कितनी कीमत लगायी जायगी—प्रायः हमेशा इसपर निर्भर होती है कि उसकी पुस्तकोंने कितनी ख्याति प्राप्त की है। लेखक भी यह बात अधिकाधिक स्वीकार करने लगे है।

पुस्तक-प्रकाशनका अधिकार वेचनेके लिए एजेण्ट सबसे पहले वडे-वड़े उपन्यास-प्रकाशकोंका दरवाजा खटखटाते हैं (और वह होते भी उनके सबसे वडे ग्राहक हैं), और यदि वहाँ सफलता न प्राप्त हुई तो फिर वे विचारहीन तथा नये प्रकाशकोंको टटोलते है, जो अपने प्रकाशनोंकी एक लम्बी सूची तैयार करनेकी जल्दीमे होते है। इस बातमे सन्देह है कि यह बात लेखकोंके हितमें होती है और इसमें भी कि सबसे अच्छा प्रकाशन इन्ही दो प्रकारकी संस्थाओं द्वारा होता है; परन्तु एजेण्टोंका सबसे पहले इन्हींके पास जाना भी अनिवार्य-सा है। इन दोनों दशाओंमें निर्णय मुख्यत. व्यावसायिक फायदेकी दृष्टिसे ही किया जाता है, पाण्डुलिपियोंकी अच्छाई-बुराईपर बहुत ज्यादा विचार-विनिमय नहीं किया जाता। इसके विपरीत विशेपज्ञ प्रकाशन-संस्थाएँ और साहित्यिक प्रकाशक बहुधा अपने निर्णयमें ज्यादा स्वतन्त्र होते हैं। वे पाण्डुलिपियाँ खरीदनेमे पहले उन्हे अच्छी तरह परख लेते है और "ओल्ड मूँदकर"

किसी रचनाको खरीद लेनेपर तैयार नहीं हो जाते। और उन्हें ऐसा करनेकी कोई जरूरत भी नहीं होती, क्योंकि उनके पास सीधे लेखकोंके पाससे कितनी ही पाण्डुलिपियाँ आती रहती है। इसके अलावा, उनकी सारी प्रतिष्ठा प्रकाशनोंका स्तर ऊँचा कायम रखनेपर ही आधारित होती है।

जो लेखक एजेण्टोंके द्वारा अपनी रचनाओंका सौदा करते हैं उन्हें यह याद रखना चाहिये कि कुछ प्रकाशक कुछ एजेण्टोंके साथ सौदा करनेसे बचते है और इसी प्रकार कुछ एजेण्ट भी कुछ प्रकाशकोंके साथ सौदा नहीं करते; नहीं तो उन्हें बादमें यह पता चलेगा (और उस वक्ततक बहुत देर हो चुकी होगी) कि जिस प्रकाशकसे उस रचनाके खरीद लेनेकी सबसे ज्यादा आशा की जाती थी उससे कोई बातचीत ही नहीं की गयी। यह बात भी ध्यानमें रखना लेखकोंके हितमें होगा कि सम्भव है कि प्रकाशक किसीके साथ व्यक्तिगत रूपसे कोई रियायत कर सकता हो और करनेपर तैयार भी हो जाय, पर किसी एजेण्टके साथ वह यही रियायत इस डरसे न करे कि कहीं आगे चलकर हमेशा उसी रियायतकी माँग न की जाय।

एक और बातकी ओर ध्यान आकर्षित करा देना आवश्यक है, जिसके कारण अक्सर झगड़े उठ खड़े होते हैं। इस बातका महत्त्व मिस्टर कर्टिस ब्राउनके स्वर्गीय मैनेजरने भी स्वीकार किया था और मैं उन्हींके शब्दोंमें इसे पेश करना बेहतर समझता हूँ :

है भी कि नहीं, तो वड़ी गड़बड़ी फैलती है। यदि शर्तनामा एक निश्चित प्रणालीके अनुसार हो तो हिसाब रखनेका काम भी बहुत आसान हो जाता है और गलतियाँ होनेकी सम्भावना भी बहुत कम हो जाती है।"[१]

यदि एजेण्ट भी इस बातको गाँठ बाँध ले, तो परिस्थिति बहुत हद-तक सुलझ जाय।

कापीराइट अधिकारका उल्लंघन—कापीराइट अधिकारकी सुरक्षा एक ऐसी समस्या है, जिसमें पुस्तकों तथा पत्रिकाओंके लेखकों और प्रकाशकों दोनोंको ही दिलचस्पी होती है। पहले कापीराइट अधिकारका उल्लंघन ज्यादातर अनधिकृत रूपसे किसी प्रकाशनको दुबारा छाप लेनेतक ही सीमित था, परन्तु पिछले कुछ वर्षोंमें फोटो-विधिसे पुस्तकें छापनेका तरीका प्रचलित हो जानेके कारण, कापीराइट सामग्रीका अनधिकृत रूपसे प्रयोग बहुत बढ गया है।

इस समस्याके बारेमें (जिसमें माइक्रोफिल्मिंगकी समस्या भी शामिल है) पब्लिशर्स एसोसिएशनके मेडिकल ग्रूपने एक स्मरणपत्र तैयार किया है जो इस संस्थाके सेक्रेटरीसे २८ लिटिल रसेल स्ट्रीट, लन्दन डब्ल्यू. सी.–१ के पतेपर (मुफ्त) मिल सकता है।

---

१. साहित्यका व्यावसायिक पक्ष।